प्रकाशक :

युवा प्रकाशन
अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद्
पुरानी लेन, गंगाशहर (राज०)

□

अर्थ सौजन्य :
स्व० श्री लिखमीचन्द जी चौपड़ा की पुन्य स्मृति में
उनकी सुपुत्री श्रीमती लूणीदेवी डागा धर्मपत्नी श्री बालचन्द जी डागा
गंगाशहर

□

प्रथम संस्करण :

□

मूल्य : ३० रुपये मात्र

□

मुद्रक :
अजन्ता प्रिण्टर्स,
घी वालों का रास्ता,
जौहरी बाजार, जयपुर

समर्पण

शासन-सलिलेश के लिए
जो
शारद-सुधाकर सिद्ध हुए
उन परम पूजनीय
श्री कालूगणी
और
आचार्यश्री तुलसी
को

उपहार

१. युग-प्रधान युगपुरुषवर, यायावर योगीश ।
श्रीमज्जैनाचार्यवर, श्रीतुलसी गण-ईश ॥

२. नीति-निष्ठ श्रम-निष्ठ वर, सत्य-निष्ठ गुण-निष्ठ ।
चरित-निष्ठ तप-निष्ठ नित, शान्ति-निष्ठ धृति-निष्ठ ॥

३. जिन शासन-सागर-शशी, कुमत-तिमिर-भास्वान ।
सद्गुण-सरिता-सलिलनिधि, भव-जल-तारण-यान ॥

४. अणुव्रत-अनुशास्ता कुशल, विशदा-चार-विचार ।
उपदेष्टा सद्धर्म के, परमाराध्य उदार ॥

५. साम्य-धनी अगणित-गुणी, चरित-धनी गण-पाल ।
संघ-शिरोमणि दृढ़प्रणी, मां वदनां के लाल ॥

६. अर्द्धशती पर हो रहे, समलंकृत आचार्य ।
शासन की श्री-वृद्धि के, किये अनोखे कार्य ॥

७. दर्शन-ज्ञान-चरित्र की, वृद्धि कल्पनातीत ।
श्री जिन-शासन की हुई, महिमा वचनातीत ॥

८. हार्दिक श्रद्धा-भक्ति से. नत है सकल समाज ।
मना रहा तप-त्याग से, अमृत-महोत्सव आज ॥

९. अर्हत् आदीश्वर चरित, "मुनि गणेश" कृतिकार ।
करता है श्रीचरण में, भक्ति-प्रणत उपहार ॥

विनयावत मुनि गणेशमल

शत शत अभिनन्दन !



※ युग प्रधान आचार्य श्री तुलसी ※

आचार्य प्रवर के अमृत महोत्सव के अवसर पर सभक्ति



※ युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ ※

आचार्यश्री तुलसी अमृत-महोत्सव के स्वप्नकार

आशीर्वचन

मनुष्य की सृजन चेतना कई माध्यमों से अभिव्यक्त होती है। उनमें एक सशक्त माध्यम है साहित्य। सफल साहित्यकार वह होता है, जिसके पास सत्य को पहचानने वाली आंख होती है। अन्यथा लोकप्रवाह में बहकर कुछ भी लिख देना साहित्य की त्रैकालिक सत्ता को संदिग्ध बनाना है। यही कारण है कि कुछ साहित्यकार मौलिक लेखन की अपेक्षा साधार लेखन को पसन्द करते हैं। ऐसे लेखन में प्राचीन भाषा में उतरने और प्राचीन तथ्यों को नए परिवेश में प्रस्तुत होने का अवसर मिलता है।

मुनि गणेशमलजी का लेखन इसी दिशा में चल रहा है, जिसका एक नमूना है 'अर्हत् आदीश्वर' 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' के आधार पर छह सर्गों में लिखा गया यह काव्य भगवान ऋषभ के जीवन-वृत्त की विस्तृत अभिव्यक्ति है। काव्य मर्मज्ञ विद्वानों की कपोपल पर यह चढ़ पाए या नहीं, साधारण लोगों को उस प्रागैतिहासिक महापुरुष की जीवन यात्रा से परिचित कराने में उपयोगी बनेगा, ऐसा विश्वास है।

आचार्य तुलसी

३१ १०/१९८२
विद्या भूमि राणावास

आशीर्वचन

प्रस्तुत कृति में भगवान ऋषभ के जीवन का चरित्र चित्रण है। युग व आदि प्रर्वतक भगवान ऋषभ का जीवन सहज बोध पाठ है। उसे सहज सरल भाषा और शैली में पद्यबद्ध किया है मुनि गणेशमलजी स्वामी ने।

मुनि गणेशमलजी हमारे धर्म संघ के वयोवृद्ध आत्मानुशासित और विनम्र संत हैं उनमें कवित्व की अच्छी स्फुरणा है।

प्रस्तुत कृति में श्रेष्ठता के अनेक लक्षण है। यह जनता के लिए रुचिकर और पठनीय बनेगा।

मंगल भावना।

सं० २०३९ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा
विद्या भूमि राणावास

युवाचार्य महाप्रज्ञ

भूमिका

भगवान् ऋषभ वर्तमान अवसर्पिणी काल के आद्य तीर्थंकर थे, इसलिए उन्हें आदीश्वर, आदिनाथ आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। जैन पुराण ग्रन्थों में उनकी जीवनी काफी विशद रूप में उपलब्ध है। वैदिक परम्परा में भगवान के चौवीस अवतारों में उन्हें एक अवतार माना गया है। वैष्णव ग्रन्थ भागवत में उनके जीवन पर अपने प्रकार से काफी प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार भगवान ऋषभ का व्यक्तित्व जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं में मान्य होने से उभय सम्मत एवं उभय पूजित है। जैन मनीषियों द्वारा भारत की प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक भाषाओं में उनके जीवन पर गद्य तथा पद्य रूप में शतशः कृतियां उपलब्ध हैं, वे जहां पुराण काल से सम्बद्ध इतिहास से परिचित कराती हैं, वहां जन मानस में धार्मिकता को अंकुरित करने में भी सहयोगी बनती है।

'अर्हत् आदीश्वर' नामक प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ मुनि गणेशमलजी द्वारा रचित है। हिन्दी भाषा की यह पद्यात्मक कृति छह सर्गों में विभक्त है। इसमें भगवान् ऋषभ की जीवनी तो वर्णित है ही, साथ में उनके पूर्व भवों का वर्णन भी उपनिबद्ध है। ग्रन्थ के पारायण से पाठक सहज ही जान लेता है कि अच्छे या बुरे प्रत्येक संस्कार का बीज जब एक बार बो दिया जाता है तब वह जन्मान्तरों तक व्यक्ति के अन्दर परिपाक पाता रहता है और फिर अच्छे या बुरे फलों का हेतु बनता है।

मुनिश्री तेरापंथ धर्मसंघ के एक वयोवृद्ध और सरल स्वभावी मुनि हैं। जन साधारण को धार्मिकता की ओर उन्मुख करने की भावना उनमें प्रायः सदैव उद्वेलित रही है। उसी से प्रेरित होकर उन्होंने अति सरल भाषा में यह रचना की है। आख्यान-प्रेमी जन इससे अधिकाधिक लाभ उठायेंगे, ऐसी आशा करता हूं।

तेरापंथ भवन
लाडनूं (राजस्थान)
२० नवम्बर, १९८२

—मुनि बुद्धमल

सम्पादकीय

भगवान महावीर ने कहा:—हे शिष्य ! "संपिक्खए अप्प गमप्पएणं" आत्मा के द्वारा आत्मा का अवलोकन करो, इसी में सहजानन्द की अनुभूति है। आत्म निरीक्षण ही जीवन का सर्वोत्तम दर्शन है। नवनीत है। विभिन्न प्रयोगों से समाविष्ट जीवन पुष्प की कलियां खिलती रहती है। आध्यात्मिक व आत्मोन्नयन की विधा से ओत:प्रोत साहित्य को भी जीवन का एक उज्ज्वल अंग मान लें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। साहित्य युग का दर्पण है। इसमें मेधावी मानस की विचार सरणी प्रतिविम्बित होती है। सभी देशों में संत साहित्य का ऊँचा स्थान रहा है, रहेगा। संत साहित्य में साधना की अनुभूति होती है। आध्यात्मिक जगत को ऐतिहासिक अवगति की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ "अर्हत् आदीश्वर" बहुत ही सरस व सरल भाषा में दोहों के रूप में संगुम्फित है।

मुनिश्री गणेशमलजी शास्त्रज्ञ व साधनारत सन्त हैं। मुनिश्री का जन्म वि. सं. १९६६ फाल्गुन कृष्णा—११ को गंगाशहर चोपड़ा परिवार में हुआ था। आपके पिता श्री डूंगरमलजी चोपड़ा धर्मानुरागी एवं शासन निष्ठ भक्त थे। वि. सं. १९८३ माघ शुक्ला सप्तमी लाडनूं में पूज्य कालूगणी के कर-कमलों द्वारा आपका दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ। आपको लगभग १५ वर्ष तक गुरुकुल वास का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अनेक वर्षों तक आप महामना मन्त्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी की परिचर्या में रहे। आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में—

वर्षां रह्यो मगन सेवा में, गणेश गंगाशहरी।
भारी लाभ कमायो मुनिवर, करी निर्जरा गहरी ॥१॥
रात्यूं रोज-रोज व्यावच्चियो, गणेश गंगा न्हावै।
घंटा भर आटो ज्यूं गूंदै, बाबा तो न अघावै ॥२॥

जहाँ आप सेवा में रत रहे, वहाँ आप ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, चारित्राराधना में भी रत रहे। संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत आदि भाषाओं का आपने अधिकार पूर्ण अध्ययन किया है। आप आचार्य श्री तुलसी के सहपाठी रहे हैं। श्री भिक्षु शब्दानु-शासन दार्शनिक ग्रन्थों व कई आगमों का अध्ययन भी गुरुदेव के साथ किया है, आपकी प्रकाशित अनेकों पुस्तकें 'मुहावरों की महक', 'सूक्ति-बोध', 'बाल-बोध', 'अर्न्तयात्रा' आदि जन-जन के मानस में आध्यात्मिक त्रिपथगा प्रवाहित करने में सफल बन रही है।

संघ और संघपति के प्रति आपके दिल में अटूट श्रद्धा है। वि. सं. २०२३ बीदासर मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर साधु-साध्वियों की संगोष्ठी में आचार्य श्री तुलसी ने कहा—"मुनि गणेशमलजी श्रद्धाशील सन्त है। इनके दिल में शासन और शासनपति के प्रति अगाध श्रद्धा है। इस वर्ष रोहतक में वहाँ के लोगों में जो धर्म जागृति हुई, यह इनकी कार्यदक्षता का ही परिणाम है।"

अणुव्रत प्रचार में भी आपका अपूर्व योगदान रहा है। बम्बई, चण्डीगढ़, शिमला, दिल्ली, जयपुर, उदयपुर आदि अनेक शहरों के सैंकड़ों स्कूल, कॉलिजों व विभिन्न संस्थाओं में अणुव्रत के माध्यम से आपने जनता जनार्दन को सही दिशा दर्शन दिया। अणुव्रत उद्घोष को जन-जन तक पहुँचाने में आप सक्रिय रहे। आप जहाँ भी पधारे, वहाँ आपकी सहज सरलता व मिलन सारिता से जनता प्रभावित हुई है, यह मेरे ३५ वर्षीय सतत सामीप्य की अनुभूति है। एक विशिष्ट आचार्य ने लिखा है—

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्व मुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि॥
यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्व मुत्तमम्॥

जैसे जैसे उत्तम तत्त्व उपलब्ध होता है वैसे-वैसे विषयों के प्रति अनासक्ति होती है और जैसे जैसे विषयों के प्रति अनासक्ति होती है, वैसे वैसे उत्तम तत्त्व उपलब्ध होता है। इसी तत्त्वामृत का रसास्वादन कराने में प्रस्तुत ग्रन्थ की निर्माण सामग्री हर दृष्टि से पठनीय एवं मननीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आध्यात्मिक सम्बल प्रदान करने में जहाँ सक्षम है वहाँ प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के जन्म से निर्वाण तक का पावन पाथेय देने में सहायक सिद्ध होगा। इसमें नाभिराजा, मरुदेवा माता, भरत, बाहुबलि, ब्राह्मी, सुन्दरी आदि पारिवारिक जानकारी के साथ साथ निर्जरा के भेद, आत्मा का अस्तित्व आदि गहन विषयों का सूक्ष्मतर विश्लेषण भी सन्निहित है। साहित्यिक जगत में यह ग्रन्थ एक नवीन शैली का अभिव्यंजक है। यह छह सर्गों में विभक्त है तथा हजारों दोहों से परिपूर्ण है।

मैं दुखी हूँ, मैं सुखी हूँ, ऐसा ज्ञान सबको होता है। आत्मा के बिना यह अनुभव कौन कर सकता है। इसी भावना की अभिव्यक्ति निम्नांकित दोहे में कितनी ओजपूर्ण है:—

मैं दुखी मैं हूँ सुखी, होता सबको भान।
कौन करे आत्मा बिना, यह अनुभव-विज्ञान॥

जैसे अनल के ताप से काँच गल जाता है, वैसे ही दुर्व्यसनों की भयंकर आग से पापी लोग अपने जीवन को नष्ट कर देते हैं। इसी भावना का प्रदीप जलाते हुए आपने लिखा है:—

दुर्व्यसनों की आग में, गलते पापी लोग ।
जैसे गलता काँच है, आग ताप के योग ॥

संसार में धर्म का प्रभाव अद्वितीय है। धर्म के अवाच्य प्रभाव से आधि, व्याधि, दीनता, दुख ईति भीति आदि के सभी कष्ट सहज में ही नष्ट हो जाते हैं। इसी भावना की अभिव्यक्ति निम्न दोहे में सरस व सरल भाषा में अंकित है:—

आधि, व्याधि दुख दीनता, ईति भीति के कष्ट ।
होते धर्म प्रभाव से, एक पलक में नष्ट ॥

प्रस्तुत प्रतिभा सम्पन्न कृति का प्रत्येक दोहा मुनिश्री के गम्भीरतर अध्ययन व तात्त्विक चिंतन की संलग्नता एवं अगम्य दक्षता की अभिव्यक्ति है। तत्त्व भरे दोहों के अध्ययन से अध्येताओं को यह अनुभूति सहज हो पायेगी कि इन दोहों में मुनि प्रवर का हृदय बोल रहा है। इतिहास में विशेष रुचि रखने वाले सुपाठकों को यह कृति वास्तव में ही सरस व सुन्दर संबल प्रदान करेगी। इतिहास की प्रारम्भिक अवगति व मानसिक चित्त समाधि के लिए समय-समय पर इसका अध्ययन व अध्यापन अत्यावश्यक है। इस जीवन-वृत्त में सामाजिक व्यवस्थाओं व राजनीतिक कार्य कलापों का सामयिक चित्रण भी उपलब्ध है। मुनिश्री का यह अनुपम प्रयास जनता जनार्दन के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा आत्म विश्वास है।

वि. सं. २०४०

पोष कृष्णा—२ —मुनि कन्हैयालाल

गंगाशहर (बीकानेर) राजस्थान

अपनी ओर से......

अर्हत् आदीश्वर

भगवान ऋषभ का जन्म यौगलिक व्यवस्था के अन्त में उस समय हुआ था। जब यौगलिक व्यवस्था छिन्न भिन्न सी हो रही थी। कुलकरों द्वारा प्रदत्त हाकार, माकार और धिक्कार नीति असफलता के कगार पर थी। नैरंतरिक अभावों के कारण लोगों का स्वभाव बिगड़ता सा जा रहा था। नित नई उलझनें बढ़ रही थी। तत्कालीन कुलकर नाभि चारों ओर से संत्रस्त हो चुके थे। वैसी स्थिति में वे अचानक पुत्र रत्न की प्राप्ति से प्रफुल्लित हो उठे।

बालक के सुन्दर सुदृढ़ शरीर, तेजस्वी ललाट और ऊर्जस्वी आभावलय को देखकर कुलकर नाभि ने अपनी पत्नी द्वारा अवलोकित स्वप्न के आधार पर उसका नाम 'वृषभ कुमार' रखा। वही बालक आगे चलकर ऋषभनाथ नाम से प्रसिद्ध हुआ। और प्रथम राजा, प्रथम भिक्षाचर, प्रथम तीर्थंकर होने के कारण आदीश्वर आदिम बाबा भी कहलाया। उनका विविध मुखी जीवन प्रेरक, घटना प्रधान और आदि काल की संस्कृति को उजागर करने वाला है। उसे आधार बनाकर जैन संस्कृति, जैन तत्त्व और विभिन्न जीवनोपयोगी व्यावहारिक शिक्षाओं को एक स्थान में प्रस्तुत करने वाला अनेक परिच्छेदों में संदृब्ध महाकाव्य सा आनन्द देने वाला ग्रन्थ है अर्हत् आदीश्वर।

इसके रचयिता हैं तेरापंथ धर्म संघ के अनुशास्ता युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के वयोवृद्ध मेधावी शिष्य मुनि श्री गणेशमलजी (गंगाशहर) आप सरल स्वभावी और अध्ययनप्रिय संत हैं। आपकी अनेक पुस्तकें विविध संस्थानों से प्रकाशित हो चुकी हैं।

'अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद' को अपने 'युवा प्रकाशन' के अन्तर्गत इस महाकाव्य ग्रन्थ को प्रकाशित कर गौरव का अनुभव हो रहा है। हमारे संस्थान की अब तक प्रकाशित पुस्तकों में यह सबसे बड़ी पुस्तक होगी। इसके प्रकाशन में हमारी परिषद के उदीयमान उत्साही कार्यकर्ता युवा साथी भाई भंवरलाल डागा के परिवार ने आर्थिक सहयोग प्रदान कर हमारी साहित्यिक प्रवृत्ति को विशेष गति प्रदान की है। इसके मुद्रण में हमारे वृद्ध योगी निस्वार्थ समाज सेवी कर्मठ कार्यकर्ता भाई पन्नालालजी कोठिया (जयपुर) ने जिस लगन से इस दुरूह कार्य को

सम्पन्न किया है, उसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर इस महनीय श्रम के मूल्य को कम करना नहीं चाहते ।

'अर्हत् आदीश्वर' पुस्तक पाठकों के लिए प्रस्तुत है । हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक साहित्यिक रुचि वाले व्यक्तियों में ऐतिहासिक तथ्यों और जैन दर्शन के गहन तत्त्वों को हृदयंगम कराने में हेतुभूत बनेगी । इसी मंगल भावना के साथ अपनी लेखनी को विराम देता हूं ।

पदमचन्द पटावरी 'पद्म'
अध्यक्ष
अ०भा० तेरापंथ युवक परिषद्

५/१२/८४
बालोतरा

अनुक्रम

नोट : चार लाईन के श्लोक राधेश्याम की तर्ज में पढ़ें।

सर्ग प्रथम

(पद्य–७५७)

मङ्गलाचरण

१. तीर्थंकर त्रिभुवन-तिलक, भव्यानन्द[1] भदन्त[2] ।
विश्व-वन्द्य विश्वस्त विभु, अर्हत् अर्च्य[3] अनन्त[4] ।।

२. पृथ्वीतल के पति प्रथम, प्रथम मुमुक्षु पवित्र ।
आदिम आदीश्वर ऋषभ, मोह-तिमिर[5]-हित मित्र[6] ।।

३. जिनके चेतन-मुकुर[7] में, प्रतिविम्बित संसार ।
अजित अजित[8] अज्ञान-हर, अर्हत् अमलाचार[9] ।।

४. भीषण भव-भय-भीत जो, भव्यात्मा आराम[10] ।
संभव प्रभु की देशना, जलधर-जल अभिराम ।।

५. अनेकान्त-मत-अब्धि[11]-हित, शारदचन्द्र[12] समान ।
अभिनन्दन अर्हत् करे, परमानन्द प्रदान ।।

६. गर्भ-स्थित भी मात को, दी है सुमति महान् ।
सुमति तीर्थपति सुमति दें, करे कुमति अवसान ।।

७. शान्ति-सदन[13] जिन पद्म[14]-प्रभु, पद्म तुल्य निर्लिप्त ।
जिनके वचन-विधान में, सार तत्व निक्षिप्त[15] ।।

८. तीर्थ चतुष्टय-गगन में, दिव्य दिवाकर-रूप ।
श्री सुपार्श्व प्रभु-शरण में, श्रद्धा-नत सुर भूप ।।

९. मूर्तिमान सितध्यान[16] से, निर्मित इव अविकार ।
चन्द्रनाथ जिनचन्द्र की, मूर्ति मुक्ति आधार ।।

१०. करामलकवत्[17] विश्व के, विज्ञाता विख्यात ।
सुविधिनाथ सबको करें, धर्म-नीति-निष्णात[18] ।।

११. सहजानन्द-समुद्र-हित, शीतल शीतल चन्द ।
दें समस्त संसार को, अविचल शान्ति अमन्द ।।

---

१. जो मंगल और आनन्दमय २. भगवान ३. पूजनीय ४. जिसके गुणों का अन्त न हो ५. अन्धकार ६. सूर्य ७. कांच ८. जिसको जीत नहीं सके ९. पवित्र चरित्र १०. बगीचा ११. समुद्र १२. शरद् काल का चन्द्रमा १३. शान्ति के घर १४. कमल १५. स्थापित १६. शुक्ल ध्यान १७. हाथ में रखे हुए आंवले की तरह १८. निपुण

१२. भीषण भव-भय-रोग से पीड़ित जग के जीव ।
श्री श्रेयांस जिनेश हैं, भिषगाचार्य[1] सजीव ॥

१३. वसुधा-धव[2] विस्मित-विभव[3], वीतदोष विश्वेश ।
वासुपूज्य विभु-चरण में, श्रद्धा-प्रणत सुरेश ॥

१४. विमल विमल-विभु के वचन, कतक[4]-चूर्ण उपमान ।
तीन भुवन-मन-तोय[5] को, करते स्फटिक समान ॥

१५. है हर वस्तु अनन्त गुण, औ पर्याय समेत ।
ये अनन्त अरिहन्त के, वचन प्रमाणोपेत ॥

१६. इष्ट वस्तु की प्राप्ति-हित, धर्म कल्पतरु कल्प[6] ।
धर्म-प्रदायक धर्म जिन, दें शाश्वत सुख-तल्प[7] ॥

१७. सेवनीय सबके लिए, सुरमणि सुरतरु रूप ।
शान्तिनाथ जगनाथ दें, अन्तर् शान्ति अनूप[8] ॥

१८. अतिशय धर[9] अज्ञान-हर, अमित ज्ञान-भण्डार ।
कुन्थु जिनेश्वर कुनय-हर[10], कामित-फल-मंदार[11] ॥

१९. तूर्य[12] अरक[13]-आकाश में, नव-रवि अर विश्वस्त ।
होता कभी न अस्त है, नहीं राहु से ग्रस्त ॥

२०. भक्त-अमर-नर-मोर-हित, नव-वारिद विख्यात ।
मल्लिनाथ जगनाथ दें, अचल बोधि अवदात ॥

२१. मोहनींद के हेतु हैं, पावन प्रातः काल ।
मुनिसुव्रत जिन मुक्ति-प्रद, दें सद्बोधि विशाल ॥

२२. श्री नमिनाथ अनाथ के, नाथ अकारण[15] साथ ।
नरक-नदी में गिर रहे, उनका पकडें हाथ ॥

२३. यादव वंस-वतंस[16] सम, धर्मरूप-ह्रद-हंस ।
नेमिनाथ नरनाथ[17] हैं, करें विघ्न विध्वंस ॥

२४. कमठ[18] और धरणेन्द्र के, प्रति हैं पूर्ण समत्व ।
पार्श्वनाथ पुरुषाग्रणी[19], बतलाएं सत् तत्त्व ॥

---

१. वैद्य २. जगत्पति ३. अद्भुत ऐश्वर्य ४. फिटकरी ५. पानी ६. समान ७ शय्या ८. अनुपम ९. विशेष गुण १०. कुन्याय ११. कल्पवृक्ष १२. चौथा १३. कालभाग १४. मेघ १५. निःस्वार्थ १६. सिर का भूषण १७. नरनाथ १८. परिशिष्ट—१ में देखें १९. पुरुषों में श्रेष्ठ

२५. अपराधी पर भी दया[1], रखते दया-निधान
सदय-हृदय चिन्मय अभय, वीर करें कल्याण ।।

२६. उपर्युक्त चौवीस जिन, तीर्थंकर जग-तात,
हुए इन्हीं के समय में, पुरुष शलाका[2] ख्यात ।।

२७. जो जाएँगे मोक्ष में, तद्भव में निःशंक ।
अथवा भावी जन्म में, तजकर कर्म-कलंक ।।

२८. तीर्थंकर चौवीस प्रभु, बारह चक्री-राट् ।
वासुदेव प्रतिवासु औ, नव बलदेव विराट ।।

२९. उनमें से शिवगत कई, हुए पुरुष गुणवान् ।
और कई होंगे अचल, सिद्ध बुद्ध भगवान ।।

३० सकल शलाका पुरुष के, हैं चरित्र पठनीय ।
हेमचन्द्र आचार्य की, संस्कृत-कृति कमनीय ।।

३१. संस्कृतज्ञ ही कर सके, उस कृति का उपयोग ।
हिन्दी-पाठक को कहाँ, मिलता लाभ निरोग ।।

३२. हो उनके भी हृदय में, जिनवर-चरित-प्रकाश ।
करता हूँ मैं इसलिए, मति-अनुसार प्रयास ।।

३३. श्री अर्हत् आदीश की, स्मृति कर सह सम्मान ।
उनके जीवन चरित का, करता हूँ व्याख्यान ।।

३४. हिन्दी-पद्यात्मक सरल, भाषा सहज सुबोध ।
जिसके द्वारा जन सभी, प्राप्त करें प्रतिबोध ।।

३५. भिक्षु आदि आचार्य नव, युवाचार्य योगीश ।
मेरी कृति में साथ हैं, इनका वर आसीस ।।

३६. प्रभु को जिस भव में मिला, बोधि लाभ अम्लान ।
भव पहला समझें उसे, पाठक गण विद्वान ।।

---

१. परिशिष्ट दो में देखें। २. जिन आत्माओं के अधिकार, शक्ति व सम्पत्ति मनुष्य भव में महान होते हैं और जिनका उसी भव में या आने वाले किसी मनुष्य भव में मोक्ष जाना निश्चित होता है उनको शलाकापुरुष कहते हैं। वर्तमान चौवीसी में ऐसे ६३ शलाकापुरुष हुए हैं।

३७. सब द्वीपों के मध्य में, जम्बू द्वीप महान् ।
थाली के आकार का, योजन लक्ष प्रमाण ।।

३८. जल-निधि द्वीप असंख्य हैं, सारे वलयाकार ।
आवेष्टित उनसे सदा, यह जिसका प्राकार ।।

३९. नदियों क्षेत्रों वर्षधर, गिरियों से अति रम्य ।
आगम के आधार से, जिसका वर्णन गम्य ।।

४०. मध्य भाग में है वहाँ, भव्य मेरु गिरि सार ।
जो है जम्बू द्वीप की, नाभि तुल्य साकार ।।

४१. ऊँचा योजन लाख है, तीन मेखला युक्त ।
क्रमश: नन्दन, सोमरस, पांडुक वन उपयुक्त ।।

४२. उसके पश्चिम ओर है, क्षेत्र विदेह सुरम्य ।
क्षिति-प्रतिष्ठित नगर है, भूमी-मण्डन रम्य ।।

४३. है प्रसन्न नृपवर वहाँ, चन्द्रोत्तर अभिधान ।
धर्म-कर्म में कुशल है, वैभव इन्द्र समान ।।

४४. सेठ एक उस नगर में, धनपति 'धन' अभिधान ।
जो संपत्ति-विपत्ति में, रहता एक समान ।।

४५. करता था वह द्रव्य का, सदुपयोग अविराम ।
व्यसनों में वह खर्चता, कभी न एक छदाम ।।

४६. सबसे मैत्री-भावना, सबसे सद्व्यवहार ।
सह-धर्मी की प्रगति में, सहयोगी हर-वार ।।

४७. प्रामाणिक व्यापार में, लेन-देन निर्व्याज ।
कथनी-करनी एक सी, गुरु का पूर्ण लिहाज ।।

४८. थे यश-रूपी वृक्ष के, उसमें बीज अनेक ।
धैर्य स्थैर्य गम्भीरता, समता और विवेक ।।

४६ अन्न ढेर की भाँति थे, वर रत्नों के व्यूह ।
और मनोहर कीमती, सुन्दर वस्त्र समूह ।।

५०. ज्यों जल जीवों से उदधि, शोभनीय कमनीय ।
त्यों उसका घर, अश्व, गज, रथ से है रमणीय ।।

५१. जैसे देही-देह में, मुख्य प्राण पवमान ।
वैसे मनुज समाज में, था वह पुरुष प्रधान ।।

५२. एक बार उसने किया, जाने का संकल्प ।
पुर वसंत व्यापार-हित, लेकर माल अनल्प ।।

५३. उसने सारे शहर को, विदित किया सोत्साह ।
जाने को है सेठ धन, पुर वसंत की राह ।।

५४. जिनकी इच्छा हो चलें, श्रेष्ठी धन के साथ ।
देगा पूर्ण सहायता, सबको हाथों-हाथ ।।

५५. रोगी और अशक्त की, होगी सेवा सार ।
हत्या, चोरी, लूट से, रक्षा विविध प्रकार ।।

५६. मंगल वेला में किया, श्रेष्ठी ने प्रस्थान ।
कुल ललनाओं ने किया, उत्तम मंगल-गान ।।

५७. आया रथ में बैठकर, पुर बाहर तत्काल ।
तत्क्षण एकत्रित हुआ, जन-समुदाय विशाल ।।

धर्मघोष आचार्य का आगमन

५८. त्यागी पांच महाव्रती, धर्मघोष आचार्य ।
आये श्रेष्ठी के निकट, निःस्पृह निर्मल आर्य ।।

५६. सेठ हुआ तत्क्षण खड़ा, पाकर गुरु के दर्श ।
नत-मस्तक बद्धांजलि, वंदन किया सहर्ष ।।

६०. शुभागमन कैसे हुआ, कहिए कृपा-निधान ? ।
बतलाएं गुरुवर मुझे, दीन-बन्धु गुण-खान ।।

६१. सोच रहे हैं हम सभी, चलें तुम्हारे साथ।
सुनकर श्रेष्ठी ने कहा, करो कृपा जगनाथ ।।

६२. आज हुआ हूँ धन्य मैं, पूर्ण हुई है चाह।
प्रतिपल मैं तो देखता, मात्र आपकी राह ।।

६३. त्यागी संतों का कहां, मिलता है सत्संग ।
जिससे बनता मनुज का, जीवन सुखी सुरंग ।।

६४. परम हर्ष की बात है, आप पधारें साथ ।
सभी व्यवस्था आपकी, होगी हाथों-हाथ ।।

मुनि चर्या

६५. धर्मघोष गुरु ने दिया, मुनि-चर्या का ज्ञान।
भ्रमर-वृत्ति भिक्षाचरी, करते संत महान् ।।

६६. सहज बना भोजन वही, होता है ग्रहणीय।
जो कि बना मुनि के लिए, है वह अनेषणीय ।।

६७. कल्पनीय मुनि के लिए, होता उदक अचित्त।
वर्जित वह मुनि के लिए, जो है वस्तु सचित्त ।।

६८. हीरों का व्यापार है, देना मुनि को दान ।
शुद्ध दान के योग से, मिलता लाभ महान ।।

६९. महाकठिन व्रत के धनी, हे गुरुवर ! हैं आप।
कर्म-निर्जरा के लिए, सहते हैं संताप ।।

७०. संयम की आराधना, है खांडे की धार ।
पालन कर सकता नहीं, कायर संयम-भार ।।

७१. विधिवत् मुनि को वंदना, करके सेठ सभक्ति।
विदा हुआ शुभ समय में, साथ अनेकों व्यक्ति ।।

७२. आगे बढ़ता जा रहा, विविध वाहनों साथ।
मानों सलिल तरंग से, बढ़ता सरिता-नाथ[1] ।।

---

१. समुद्र

७३. धर्मघोष आचार्य भी, लेकर मुनि परिवार ।
चले वहाँ से हर्ष से, मानो गुण साकार ।।

७४. आगे चलता संघ के, श्रेष्ठी 'धन' धनवान ।
उसके पीछे मित्र, मणि-भद्र महामतिमान ।।

७५. उसके दोनों ओर हैं, क्रमशः कुशल सवार ।
विविध वाहनों से भरा, विविध उपस्कर[1] सार ।।

७६. निर्धन हो धनवान हो, सबकी एक समान ।
देख-भाल नित कर रहा, सेठ उदार महान् ।।

७७. प्रतिदिन आगे बढ़ रहा, लेकर सबको साथ ।
निःस्वार्थी मानव बिना, कौन बंटाता हाथ ।।

७८. वर्षा-ऋतु का अब हुआ, क्रमशः प्रादुर्भाव ।
नभ में बादल छा गये, जो है प्रकृति स्वभाव ।।

७९. दिखलाई देने लगा, पानी चारों ओर ।
रास्ता दुर्गम हो गया, चलना बड़ा कठोर ।।

८०. अतः सेठ ने देखकर, ऊंचा पर्वत-स्थान ।
तंबू बँधवाये तुरत, समझ उसे स्थिर-स्थान ।।

८१. अपनी रक्षा के लिए, तत्पर थे सब लोग ।
झोपड़ियां तैयार की, बसने योग्य निरोग ।।

८२. सूरीश्वर ने भी किया, अपना वहीं निवास ।
क्यों कि विहार न मुनि करे जब हो वर्षा मास ।।

८३. लोग अधिक थे साथ में, बहुत दिनों का वास ।
अतः रहा संबल नहीं, औ पशुओं हित घास ।।

८४. घबराकर वे लोग अब, भटक रहे चहुं ओर ।
कंदमूल खाने लगे, बहुत हुए कमजोर ।।

---

१. सामग्री

धन सेठ का विषाद

८५. व्यथा देखकर साथ के, लोगों की विकराल ।
धन श्रेष्ठी के हृदय में, पीड़ा हुई विशाल ।।

८६. धर्मघोष आचार्यवर, आये मेरे साथ ।
जिनकी है चर्या कठिन, फिर यह वज्राघात ।।

८७. बयालीस दूषण रहित, वे लेते आहार ।
कंद मूल फल आदि हैं, वर्जनीय हरबार ।।

८८. अभी हमारे साथ में, संकट बे-अंदाज ।
क्या जाने क्या हाल है, उन संतों का आज ।।

८९. सतत करूंगा आपकी, सेवा भक्ति विशाल ।
जिनको लाया मैं स्वयं, यों कहकर तत्काल ।।

९०. उनको मैंने आज तक, नहीं किया है याद ।
बड़ी भूल मेरी हुई, इसका मुझे विषाद ।।

९१. अब मैं जाकर आज ही, दर्शन करूं सभक्ति ।
धोऊं अपने पाप को, सेवा करूं सशक्ति ।।

९२. उदासीन हैं जगत से, निःस्पृह त्यागी संत ।
उनकी सेवा भक्ति का, योग कठिन अत्यन्त ।।

गुरु-दर्शन के लिए प्रस्थान

९३. प्रातः होते ही हुआ, सेठ शीघ्र तैयार ।
लेकर अपने साथ में, अपना सब परिवार ।।

९४. सूरीश्वर के दर्श-हित, है मन में उत्साह ।
देख रहा है एक ही, गुरु-स्थानक की राह ।।

९५. जा पहुँचा धन सेठ अब, सूरीश्वर के स्थान ।
ढाक-पत्र की झोपड़ी, थी रमणीय महान ।।

९६. दीवारें हैं घास की, उसके चारों ओर ।
वह निर्जीव जमीन पर, निर्मित पावन ठोर ।।

९७. धर्मघोष गुरु है वहां, आसन पर आसीन ।
उसने जाना सुगुरु हैं, भगवद्-रूप प्रवीण ।।

९८. दुष्कृत रूप समुद्र के, शोषक हैं साक्षात् ।
पंचम गति के मार्ग हैं, तेज पुञ्ज अवदात ।।

९९. आभूषण हैं संघ के, कल्प वृक्ष अनुहार ।
मंडप हैं ये धर्म के, शिव-लक्ष्मी के हार ।।

सन्तों के कार्य कलाप

१००. बैठे थे मुनि दूसरे, उनके चारों ओर ।
उनमें कोई कर रहा, निर्मल ध्यान कठोर ।।

१०१. कोई कायोत्सर्ग-रत, कोई तप में लीन ।
कोई शास्त्राध्ययन में, है अतिशय तल्लीन ।।

१०२. कोई मुनि बतला रहा, तत्त्व-ज्ञान अम्लान ।
कोई मुनि है कर रहा, शिक्षा-दान महान ।।

१०३. कोई मुनि संलग्न है, सेवा में सह हर्ष ।
कोई मुनि दिखला रहा, विनय भाव उत्कर्ष ।।

१०४. कोई लेखन कर रहा, कोई रचना नव्य ।
कोई मुनि है कर रहा स्थान प्रमार्जन भव्य ।।

१०५. कोई मुनि है कर रहा, धर्म-कथा अनवद्य ।
करता है कण्ठस्थ मुनि, कोई आगम-पद्य ।।

१०६. कोई चर्चा कर रहा, कोई मुनि व्याख्यान ।
कोई मुनि है कर रहा, आगम अनुसन्धान ।।

१०७. सबसे पहले सेठ ने, बद्धांजलि नत-काय ।
धर्मघोष गुरु को किया, नमस्कार अनपाय ।।

१०८. मुनियों को कर वन्दना, क्रमशः मन उल्लास ।
बद्धांजलि धन सेठ अब, बैठा गुरु के पास ।।

१०९. भगवन् मैंने जो कहा, वचन आपसे स्पष्ट।
निभा उसे पाया नहीं, हुआ आपको कष्ट ।।

११०. कर पाया हूँ मैं नहीं, सेवा सुख की खान ।
और किए दर्शन नहीं, कल्पवृक्ष उपमान ।।

१११. अन्न-पान वस्त्रादि से, किया नहीं सत्कार ।
अवगणना की आप की, मैंने आज अपार ।।

११२. मैंने अपने वचन का, किया नहीं निर्वाह ।
इसकी मेरे चित्त में, नहीं खेद की थाह ।।

११३. मैंने महती भूल की, क्षमा करें गुरुदेव ।
धरणी-तल सम आप हैं, क्षमाशील स्वयमेव ।।

११४. सूरीश्वर ने तब कहा, सार्थवाह ! सुविनीत ।
तुमने है मेरा किया, आदर सदा पुनीत ।।

११५. भोजन पानी भक्ति से, देते सार्थी लोग ।
अतः खेद तुम मत करो, हम हैं स्वस्थ निरोग ।।

११६. सन्त सदा गुण देखते, है यह सहज स्वभाव ।
मुझ दोषी के कर रहै, गुण का प्रादुर्भाव ।।

११७. लापरवाही के लिए, मैं हूँ लज्जित अत्यन्त ।
अब करुणा कर भेजिए, भिक्षा के हित संत ।।

११८. सूरीश्वर मैं आपकी, इच्छा के अनुसार ।
पात्र-दान देकर करूं, अपना ही उद्धार ।।

११९. भिक्षा लेने के लिए तदनन्तर दो सन्त ।
वन के डेरे में गये, करुणा कर अत्यन्त ।।

१२०. मुनि को आते देखकर, सेठ उठा सह हर्ष ।
जाकर मुनि के सामने, वन्दन मन उत्कर्ष ।।

१२१. बड़ी कृपा की आपने, आये मेरे द्वार ।
भिक्षा लेकर कीजिए, मेरा बेड़ा पार ।।

घृत का दान और सम्यग् दर्शन की प्राप्ति

१२२. दिया सेठ ने हाथ से, मुनि को घृत का दान।
वर्द्धमान परिणाम से, मन में हर्ष महान् ॥

१२३. प्राप्त किया धन सेठ ने, सम्यग् दर्शन सार।
है यह दान सुपात्र का, फल प्रत्यक्ष उदार ॥

१२४. सार्थवाह धन फिर गया, निशि में मुनि के स्थान।
गुरु-वन्दन कर भक्ति से, बैठा तज अभिमान ॥

धर्मघोष आचार्य का उपदेश
(संक्षेप में जैन धर्म)

१२५. धर्मघोष गुरु ने उसे, दिया धर्म-उपदेश।
भव-विरक्ति-कर शान्ति कर, ज्ञान-दिवस-दिवसेश ॥

१२६. धर्म द्वीप है, त्राण है, मंगल, शरण उदार।
भवहर, भयहर, रोगहर, संकट-हर शिवकार ॥

१२७. भव-सागर में पोत-सम, धर्म सबल आधार।
सकल विघ्न हर शान्ति कर, कल्पवृक्ष अनुहार ॥

१२८. रक्षा-कारक तातवत्, मातावत् प्रतिपाल।
भ्रातावत् है स्नेहकर, धर्म मित्र त्रिककाल ॥

१२९. अरि संकट में कवच सम, शीत विनाशन धूप।
धर्म शान्ति का महल है, पारस रत्न अनूप ॥

१३०. राज्य, सम्पदा मोक्ष-सुख, नर-भव देह निरोग।
क्या क्या मिलता है नहीं, एक धर्म के योग ॥

१३१. दुर्गति में गिरते हुए, प्राणी को साक्षात्।
धारण करता जो सदा, धर्म वही अवदात ॥

धर्म के प्रकार

१३२. दान, शील, तप, भावना, चार धर्म के द्वार।
निराधार का है यहाँ, एक मात्र आधार ॥

दान

१३३. ज्ञान-दान गुण-खान है, अभयदान अम्लान ।
धर्मोपग्रह दान ये, तीन स्थान पहचान ।

ज्ञान-दान

१३४. अज्ञानी को ज्ञान का, देना सम्यग् दान ।
जिससे धर्माधर्म की, हो जाये पहचान ।।

१३५. हो जाता जब जीव को, स्व-हित अहित का ज्ञान ।
तब होकर भव से विरत, करता निज उत्थान ।।

१३६. ज्ञान-दान से जीव यह, पाता केवल ज्ञान ।
सकल कर्म से मुक्त हो, बन जाता भगवान् ।।

अभय दान

१३७. तीन करण औ योग से, पर-प्राणी की घात ।
कभी न करना, है यही, अभयदान साक्षात् ।।

१३८. प्राण-सुरक्षा ही प्रथम, करता नर तत्काल ।
तज देता उसके लिए, वैभव, राज्य विशाल ।।

१३९. कीचड़ का कीड़ा तथा, सुरपति सुखी महान ।
दोनों को ही मृत्यु की, होती भीति समान ।।

१४०. बुद्धिमान मानव अतः, पाकर बुद्धि महान् ।
अभयदान देकर करें, आत्मा का उत्थान ।।

१४१ तन सुन्दर, दीर्घायु औ, उत्तम कुल, बल, रूप ।
अभयदान दाता पुरुष, पाता सुफल अनूप ।।

जीव के प्रकार

१४२. दो प्रकार के जीव हैं, स्थावर, त्रस विख्यात ।
होते हैं पर्याप्त औ, अपर्याप्त भी ज्ञात ।।

१४३. है आहार, शरीर औ, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास ।
भाषा, मन पर्याप्ति षट्, इन पर हो विश्वास ।।

१४४. होती है पर्याप्तियां, एकेन्द्रिय के चार ।
विकलेन्द्रिय के पांच, षट्, पंचेन्द्रिय के घार ।।

१४५. स्थावर होते पांच हैं, एकेन्द्रिय साक्षात् ।
पृथ्वी पानी, अग्नि औ, वायु, वनस्पति ख्यात ।।

१४६. चार सूक्ष्म भी आदि के, औ बादर भी द्वेष
भेद वनस्पति काय के, साधारण प्रत्येक ।।

१४७. साधारण के सूक्ष्म औ, बादर उभय प्रकार ।
जीव वनस्पति काय में, पाते दुःख अपार ।।

१४८. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय औ चतुर, पंचेन्द्रिय त्रस ख्यात ।
पंचेन्द्रिय बिन जीव है, मन विरहित साक्षात् ।।

१४६. पंचेन्द्रिय मन रहित भी, और सहित भी ख्यात ।
नारक, सुर मन सहित हैं, अन्य[1] उभय आख्यात ।।

१५०. स्पर्शन, रसना, घ्राण है, चक्षु और है कान ।
पांच इन्द्रियों का करे, सदुपयोग विद्वान ।।

१५१. छूना स्पर्शन-कार्य है, चखना रसना-कार्य ।
और सूंघने के लिए, घ्राणेन्द्रिय अनिवार्य ।।

१५२. कार्य चक्षु का देखना, सुनता कान प्रकाम ।
विषयों में रत हो नहीं, वे पाते आराम ।।

१५३. कीड़े, शंख, कपर्दिका, और केंचुआ स्पष्ट ।
दो इन्द्रिय ये जीव हैं, पाते अगणित कष्ट ।।

१५४. चींटी, खटमल, लीख, जूं और मकोड़े जीव ।
त्रीन्द्रिय होते जीव ये, पाते दुःख अतीव ।।

१५५. मक्खी, भौंरा, डांस औ, बिच्छू आदि अनेक ।
चतुरिन्द्रिय ये जीव हैं, समझाते मुनि छेक ।।

१५६. जलचर, स्थलचर और है, खेचर जो तिर्यंच ।
नारक नर औ देव जो, इनके इन्द्रिय पंच ।।

---

१. मनुष्य और तिर्यंच-पंचेन्द्रिय

धर्मोपग्रह दान

१५७. पाँच तत्व से मिल बना, धर्मोपग्रह दान ।
दायक, ग्राहक, देय औ, काल, भाव अम्लान ।।

१५८. चित्त वित्त औ पात्र का, मिला श्रेष्ठ संयोग ।
इससे हुआ कृतार्थ मैं, दुर्लभ ऐसा योग ।।

१५६. जो कि किसी आशा बिना, देता मुनि को दान ।
देकर पछताता नहीं, उसको 'दायक' जान ।।

१६०. महाव्रती समताधनी, त्यागी संयमवान ।
समिति-गुप्ति-धर रत्न-त्रय, धारक गुणी महान् ।।

१६१. निर्मोही निःस्पृह सदा, सहनशील गम्भीर ।
होता ग्राहक शुद्ध वह, दिखलाता भवतीर ।।

१६२. बयालीस दूषण-रहित, अशनादिक जो चार ।
'देय' शुद्ध है दान वह, कहते आगम-कार ।।

१६३. योग्य समय पर पात्र को, देना 'काल विशुद्ध' ।
विना कामना पात्र को, देना 'भाव विशुद्ध' ।।

१६४. हो न धर्म आराधना, विना देह-संयोग ।
और देह टिकता तभी, मिले अन्न का योग ।।

१६५. अतः शुद्ध देना सदा, धर्मोपग्रह दान ।
धर्म-साधना के लिए, यह सहयोग महान ।।

१६६. जो देता है पात्र को, धर्मोपग्रह दान ।
स्थिर करता वह तीर्थ को, और मुक्ति में स्थान ।।

शील धर्म

१६७. पाप-वृत्ति का त्याग है, शील-धर्म अवदात ।
देश-विरति औ दूसरा सर्व-विरति साक्षात् ।।

१६८. पांच अणुव्रत, तीन गुण, शिक्षा व्रत हैं चार ।
देश-विरति के भेद ये, बारह व्रत साकार ।।

१६९. स्थूल-अहिंसा, सत्य औ, अपरिग्रह, अस्तेय ।
ब्रह्मचर्य ये पांच हैं, धर्म अणुव्रत ज्ञेय ।।

१७०. दिग् भोगोपभोग-विरति, दण्ड अनर्थ विरक्ति ।
है गुणव्रत के नाम से, तीनों की अभिव्यक्ति ।।

१७१. सामायिक, देशावका-, शिक पौषध विख्यात ।
चौथा शिक्षा-व्रत अतिथि-संविभाग है ख्यात ।।

१७२. अनुरागी यति धर्म का, सेवा-भावी शान्त ।
सम्यक्त्वी सम्यक्त्व के, लक्षण युत अभ्रान्त ।।

१७३. देश-विरति गुण का उदय, जब हो मोह वियोग ।
पाप-भीरु गेहस्थ का, है यह धर्म सुयोग ।।

१७४. सर्व-विरति गुण सर्वथा, हिंसादिक से दूर ।
भव-विरक्त मुनि धर्म यह, समता से भरपूर ।।

१७५. पांच महाव्रत-रूप यह, मुनि का धर्म कठोर ।
इसकी वर आराधना, दिखलाती भव-छोर ।।

तप-धर्म

१७६. जो कि तपाता कर्म को, है वह तप आदेय ।
षट् प्रकार है बाह्य तप, षट् अभ्यन्तर ज्ञेय ।।

निर्जरा के भेद

१७७. एक रात-दिन या अधिक, अशनादिक का त्याग ।
है अनशन तप निर्जरा, है यह भोग-विराग ।।

१७८. कम खाना है भूख से, कम करना परिभोग ।
द्रव्य भाव ऊनोदरी, तप यह परम निरोग ।।

१७९. विविध अभिग्रह जो करे, है यह वृत्ति-ह्रास ।
और विगय का त्याग है, रस परित्याग विकास ।।

१८०. आसन, लुंचन आदि से, जब होता है कष्ट ।
समता से सहना उसे, काय-क्लेश है स्पष्ट ।।

१८१. इन्द्रिय, योग, कषाय का, निग्रह जो एकान्त ।
तप यह प्रतिसंलीनता, बतलाता सिद्धान्त ।

१८२. करना दोष विशुद्धि-हित, अनुष्ठान अनवद्य ।
तप यह प्रायश्चित्त है, करता साधक सद्य ।।

१८३. करना है बहुमान औ, अनाशातना सार ।
अन्तर तप यह है विनय, कहते आगम कार ।।

१८४. सेवादिक का जो करे, अनुष्ठान निष्काम ।
कहते वैयावृत्य हैं, है यह तप अभिराम ।।

स्वाध्याय

१८५. उचित समय में जो करें, शास्त्राध्ययन नितान्त ।
है यह तप स्वाध्याय वर, साधक करे प्रशान्त ।।

१८६. शास्त्रों का अध्ययन है, विशद वाचना सार ।
और पृच्छना पूछना, गुरु से अर्थ उदार ।।

१८७. शास्त्रों का करना गुणन, पुनः पुनः स्थिर योग ।
समझे यह परिवर्तना, है स्वाध्याय निरोग ।।

१८८. करना चिन्तन अर्थ का बार बार मन शान्त ।
अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है, आत्म-शुद्धि हित कांत ।।

१८९. धर्म कथा है केवली, कथित-धर्म-व्याख्यान ।
आगमोक्त स्वाध्याय के, भेद पांच अम्लान ।।

ध्यान

१९०. चिन्तन हो एकाग्र मन, और योग अवरोध ।
सर्व श्रेष्ठ यह ध्यान है, शिवदाता अविरोध ।।

१९१. आर्त्त, रौद्र दो ध्यान हैं, पाप-बंध के हेतु ।
धर्म, शुक्ल दो ध्यान हैं, भीम भवोदधि-सेतु ।।

व्युत्सर्ग

१९२. करना काय-प्रवृत्ति का, जो उत्सर्ग महान् ।
बतलाते व्युत्सर्ग तप, आगम में भगवान् ।।

भावना

१९३. रत्नत्रयधर संत की, करना सेवा श्रेय ।
और आत्म चिन्तन यही, भव्य भावना ध्येय ।।

१९४. चार तरह का धर्म यह, कल्पवृक्ष अनुहार ।
अविचल फल की प्राप्ति का, सत् साधन अविकार ।।

१९५. जो है भव के भ्रमण से, मानव भीत नितान्त ।
उनको करनी चाहिए, धर्म-साधना कान्त ।।

१९६. सुनकर हितकर धर्म का, सदुपदेश बिन क्लेश ।
सार्थवाह धन ने कहा, प्रमुदितमना विशेष ।।

१९७. बहुत समय के बाद यह, धर्म सुना है आज ।
ठगा गया मैं कर्म से, अब तक बेअन्दाज ।।

१९८. करुणा सागर आपने, दिया मुझे प्रतिबोध ।
धर्माराधन कर करूं, अब मैं अन्तर शोध ।।

१९९. वन्दन कर गुरु चरण में, सार्थवाह सानन्द ।
अपने डेरे में गया, लेकर ज्ञान अमन्द ।।

२००. अब मौसम बरसात की, क्रमशः हुई व्यतीत ।
मंगल पाठक गा रहे, शुभ प्रयाण के गीत ।।

२०१. तत्क्षण सज्जित हो गये, तज कर नींद प्रमाद ।
सार्थ लोग सब चल पड़े, सुनकर भेरी नाद ।।

२०२. धर्मघोष गुरु ने किया, अप्रतिबद्ध विहार ।
नत-दृग् मुनि-गण साथ हैं, ले कंधों पर भार ।।

२०३. सार्थवाह ने भी किया, झट मंगल प्रस्थान ।
सार्थ सुरक्षा के लिए, है रक्षक बलवान ।।

२०४. सकल सार्थ ने है किया, जब जंगल को पार, ।
सूरीश्वर ने भी किया, तब अन्यत्र विहार ।।

२०५. पहुँच गया धन सेठ भी, पुर वसंत तत्काल ।
न्याय नीति से नित किया, वर व्यापार विशाल ।।

२०६ धन अर्जित कर वह पुनः, लौटा अपने देश ।
क्षिति-प्रतिष्ठित पुर वहां, आया है विन क्लेश ।।

२०७. पूर्ण हुआ आयुष्य जब, कुछ वर्षों पश्चात ।
जगती तल से चल बसा, तज क्षण-भंगुर गात ।।

दूसरा भव : युगलिया जीवन

२०८. हुआ युगलिया सेठ धन, पात्र दान के योग ।
उत्तम-कुरु वर क्षेत्र में, सुन्दर काय निरोग ।।

२०९. पहला है एकान्त अर, सुषमा निःसन्देह ।
तीन पल्य का आयु है, तीन गाउ का देह ।।

२१०. दो सौ छप्पन पसलियां, पीठ-भाग में ख्यात ।
होते अल्प कषाय वे, मोह-रहित साक्षात् ।।

२११. एक वार दिन तीन में, भोजन की प्रतिपत्ति[1] ।
एक युगल संतान की, होती है उत्पत्ति ।।

२१२. उनका दिन उनचास तक, पालन कर तत्काल ।
एक साथ दोनों युगल, कर जाते हैं काल ।।

२१३. जाते हैं वे स्वर्ग में, पुण्योदय के योग ।
मिलता मन-इच्छित वहां, भौतिक सुख-संयोग ।।

२१४. उत्तर कुरु के क्षेत्र में, धूली शक्कर तुल्य ।
जल निर्मल भू-भाग है, अति रमणीय अतुल्य ।।

कल्प-वृक्ष

२१५. उस भू में दश कल्प-तरु. होते हैं रमणीय ।
विन श्रम पाते युगलिये, अतः वस्तु कमनीय ।।

२१६. कल्प-वृक्ष मद्यांग जो, करते मद्य-प्रदान ।
औ भृगांग देते सदा, पात्र श्रेष्ठ संस्थान ।।

---

१. प्राप्त करना

२१७. होते हैं तूर्यांग जो, देते बाजे खास ।
देते दीपशिखांग अरु, ज्योतिष्कांग प्रकाश ।।

२१८. देते हैं चित्रांग तरु, विविध तरह के फूल ।
भोजन देते चित्ररस, मनवांछित अनुकूल ।।

२१९. देते हैं मण्यंग तरु, आभूषण अविकार ।
देते हैं घर कल्पतरु. जो है गेहाकार ।।

२२०. करते वृक्ष अनग्न हैं, दिव्य वस्त्र का दान ।
नियतानियत पदार्थ की, करते पूर्ति महान् ।।

२२१. भोग रहा है विविध सुख, धन श्रेष्ठी का जीव ।
पात्र-दान के ये सभी, फल प्रत्यक्ष सजीव ।।

तीसरा भव : सौधर्म देवलोक में देव

२२२. हुआ स्वर्ग सौधर्म में, दिव्य देवता रूप ।
भोग रहा है दान के, फल धन सेठ अनूप ।।

चौथा भव : महाविदेह क्षेत्र में महाबल

२२३. च्यव कर पहले स्वर्ग से, धन श्रेष्ठी का जीव ।
जन्मा महाविदेह में, सुख सम्पत्ति अतीव ।।

२२४. पश्चिम महाविदेह में, गिरि वैताढ्य विशेष ।
गंधसमृद्धि रमणीय पुर, है गंधार सुदेश ।।

२२५. विद्याधर शतबल नृपति, स्त्री शशिकान्ता नाम ।
उस रानी की कोख से, पुत्र रत्न अभिराम ।।

२२६. बलशाली था बहुत वह, अतः महाबल नाम ।
पालित-पोषित बढ़ रहा, तरु सम आठों-याम ।।

२२७. सकल कलाओं में हुआ, पूरण चन्द्र समान ।
सब लोगों के हित बना, हर्ष निमित्त महान ।।

२२८. 'विनयवती' अभिधान की, कन्या से सोत्साह ।
उचित समय पर है किया, उसका मंगल ब्याह ।।

शतबल का दीक्षा ग्रहण

२२९. एक समय शतबल नृपति, बैठा है एकान्त ।
मन में चिन्तन कर रहा, सम्यग्-दर्शी शान्त ।।

२३०. मेरा देह स्वभावतः, है अपवित्र महान ।
नाना अशुचि पदार्थ की, है यह बड़ी खदान ।।

२३१. इसे सजाता हूँ सदा, स्नान-विलेपन-द्वार ।
आभूषण वस्त्रादि से, करता हूँ सत्कार ।।

२३२. रह जाती है त्रुटि कभी, करने में सत्कार ।
हो जाता है विकृत यह, तन मेरा निःसार

२३३. अगर निकलते देह से, बाहर मल मूत्रादि ।
तब करता मानव घृणा, होती है असमाधि ।।

२३४. पर ये चीजें देह में, होती हैं साक्षात् ।
कुछ विचार करता नहीं, यह अचरज की बात ।।

२३५. तरु-कोटर में जन्मते, ज्यों सर्पादिक जीव ।
त्यों इस घृणित शरीर में, दुःखद रोग अतीव ।।

२३६. यौवन जल की लीक है, स्वप्न तुल्य संयोग ।
माया छाया मेघ की, इन्द्र धनुष समभोग ।।

२३७. अविनाशी आनन्दमय, आत्मा है यह स्पष्ट ।
अचरज ! कर्म-प्रभाव से, पाता है यह कष्ट ।।

२३८. दुःखद विषयों में मनुज, जो होते आसक्त ।
मल के कीड़े की तरह, वे होते न विरक्त ।।

२३९ नहीं देखता मौत को, नर विषयों में लीन ।
नहीं देखता कूप को, जो नर नेत्र-विहीन ।।

२४०. आत्मा विष-सम विषय से, हो जाती बेहोश ।
देख न सकती है अतः अपना हित निर्दोष ।।

२४१. अर्थ, काम में ही सदा, रहता है नर लीन ।
धर्म, मोक्ष के मार्ग में, पैर न देता दीन ।।

२४२. चक्री-भोजन की तरह, दुर्लभ है नर-देह ।
अब मैं संयम-ग्रहण कर, प्राप्त करूं शिव-गेह ॥

२४३. यों विचार कर नृपति ने, निज इच्छा-अनुसार ।
पुत्र महाबल को दिया, सकल राज्य का भार ॥

२४४. तत्क्षण राजकुमार ने, की आज्ञा स्वीकार ।
गुरु की आज्ञा भंग से, डरते पुरुष उदार ॥

२४५. शतबल नृप ने पुत्र का, किया राज्य अभिषेक ।
छत्रादिक नृप चिन्ह से, शोभित की अतिरेक ॥

२४६. मंत्री सामंतादि सब, तत्क्षण हर्ष विभोर ।
मंगल स्तुतियां गा रहे, सभी लोग चहु ओर ॥

२४७. अब शतबल नृप ने किया, संयम अंगीकार ।
रत्नत्रय की साधना, करते हैं अविकार ॥

२४८. सहते हैं सम-भाव से, आगत कष्ट अनेक ।
संयम-जीवी सम-धनी, निर्ममत्व अतिरेक ॥

२४९. अपने आत्म-स्वरूप में, मानस को कर लीन ।
आत्म-साधना कर रहे, योगी-राज प्रवीण ॥

२५०. अन्तरङ्ग अरि का किया, समता असि से अन्त ।
निरतिचार चारित्र में, जागरूक अत्यन्त ॥

२५१. आत्म-ध्यान संतति बढ़ी, भव्य भावना-योग ।
निज स्वरूप की प्राप्ति का, अनुपम मिला सुयोग ॥

२५२. ज्ञान-ध्यान से युक्त की, मानव-आयु समाप्त ।
शतबल मुनिवर ने किया, स्थान स्वर्ग में प्राप्त ॥

नृपति महाबल

२५३. सबल महाबल भूमि-पति, नीतिमान गुणवान ।
न्याय, नीति से कर रहा, शासन अव्यवधान ॥

२५४. रमता है आराम में, रमणी जन के साथ ।
मानो है शृंगार रस, मूर्तिमान साक्षात् ॥

२५५. निष्फल समय बिता रहा, भोगों में आसक्त ।
उसके लिए समान थे, विषुवत्[1]-सम दिन नक्त[2] ।।

२५६. नृपति महाबल एक दिन, बैठा इन्द्र समान ।
मंत्री सामंतादि से, शोभित हुआ महान् ।।

२५७. अन्य सभासद स्थित वहां, अपने अपने स्थान ।
देख रहे थे भूप को, सभी लगाकर ध्यान ।।

२५८. स्वयंबुद्ध, संभिन्नमति था शतमति गतिमान ।
और महामति चार ये, मंत्री थे स्थितिमान ।।

२५९. उन चारों में था स्वयं,-बुद्ध बुद्ध समदृष्टि ।
स्वामि-भक्त समता-धनी, धार्मिक अन्तर-दृष्टि ।।

२६०. उसने सोचा एक दिन, है यह खेद महान ।
मेरे स्वामी हो रहे, विषयों में गतिमान ।।

२६१. धर्म-वृत्ति बिन जा रहा, उनका जीवन व्यर्थ ।
ध्यान नहीं हम दे रहे, है धिक्कार तदर्थ ।।

२६२. स्वामी के उत्थान का, करना सदा विचार ।
यदि न करूं यह काम तो, मन्त्री-पद बेकार ।।

२६३. अतः विषय से विरत कर, स्वामी को तत्काल ।
ले आऊं, सन्मार्ग पर, है यह कार्य विशाल ।।

२६४. नृपति सारणी[3] की तरह, चलते उधर सदैव ।
जिधर चलाते हैं उन्हें, मन्त्री गण स्वयमेव ।।

मंत्री का नृप को प्रतिबोध

२६५. बली महाबल भूप को, नत मस्तक कर जोड़ ।
स्वयंबुद्ध मन्त्रीश ने, बात कही बेजोड़ ।।

---

१. जब सूर्य तुला या मेष राशि में होता है तब दिन और रात समान होते हैं। छोटे बड़े नहीं होते, इसको विषुवत् कहते हैं।

२. रात्रि

३. जल प्रणाली

२६६. राजन् ! जैसे हो नहीं, सागर जल से तृप्त ।
और काष्ठ से हो नहीं, अग्नि कभी संतृप्त ।।

२६७. वड़वानल होता नहीं, सिन्धु-सलिल से शांत ।
पुरुष न विषयों से कभी, होता शांत नितांत ।।

२६८. सरिता-छाया[1], विष, विषय, और दुष्ट का संग ।
दुख-दायक हैं ये सभी, करते नर को तंग ।।

२६९. केवल होते हैं सरस भोग-काल में भोग ।
किन्तु विरस परिणाम में, कहते ज्ञानी लोग ।।

२७०. कामदेव है नरक का दूत रूप प्रत्यक्ष ।
व्यसनों का है सिन्धु यह, वतलाते मुनि दक्ष ।।

२७१. जिस नर के मन में हुआ, पैदा काम-विकार ।
हो जाता है भ्रष्ट वह, पाता दुख अपार ।।

२७२. कामदेव जव देह में, आकर करता वास ।
अर्थ,धर्म अरु मोक्ष का, कर देता है नाश ।।

२७३. विप-वल्लो की भांति है, नारी नरक गिरोह ।
दर्शन, स्पर्शन भोग से, उपजाती व्यामोह ।।

२७४. स्वामिन् ! ज्ञानी हैं स्वयं, जरा विचारें आप ।
विषयों की आसक्ति से, वढ़कर क्या है पाप ।।

२७५ मोह-गर्त्त[2] में मत गिरें, छोड़े विपयासक्ति ।
करें धर्म-आराधना, वीतराग गुरु-भक्ति ।।

२७६. तरुवर छाया-रहित औ, फूल सुगन्ध-विहीन ।
और सरोवर जल विना, हाथी दन्त-विहीन ।।

२७७. रूप विना लावण्य औ, मन्त्री-विरहित भूप ।
चैत्य, मूर्ति से रहित औ, चन्द्र विना निशि रूप ।।

२७८. साधु विना चारित्र औ, चमू शस्त्र से शून्य ।
शोभा पाता नर नहीं, धर्म वस्त्र से शून्य ।।

---

१. नदी के किनारे की छाया ।   २. गड्ढा

२७९. चक्री भी यदि पाप के, चय में रहे प्रसन्न ।
ऐसा भव पाता जहां, संपद् कुत्सित अन्न ।।

२८० बिना धर्म कुलवान भी, पाता दुर्गति-स्थान ।
जूठा भोजन भी वहां, खाता ज्यों पकवान ।।

२८१. धर्म हीन प्राणी बने, शूकर, सर्प, बिलाव ।
दुर्गति के दुख देखता, है यह पाप प्रभाव ।।

२८२. दुर्व्यसनों की आग में गलते पापी लोग ।
जैसे गलता कांच है, आग ताप के योग ।।

२८३. संकट पारावारहित, है सद्धर्म जहाज ।
उसके द्वारा पा रहे, पार भव्य निर्व्याज ।।

२८४. आधि, व्याधि, दुख, दीनता, ईति, भीति के कष्ट ।
होते धर्म-प्रभाव से, एक पलक में नष्ट ।।

२८५. हे स्वामी मैं क्या अधिक, कहूँ आप से बात ।
मुक्ति-महल-हित धर्म है, निः[१]श्रेणी साक्षात् ।।

२८६. धर्म-योग से ही मिला, राज्य और प्रासाद ।
करें धर्म-आराधना, तजकर भौतिक वाद ।।

अनात्मवादी संभिन्नमति कथन

२८७. स्वयंबुद्ध मन्त्रीश के, सुनकर स्पष्ट विचार ।
बोल रहा संभिन्नमति, मिथ्यामति अनुसार ।।

२८८. स्वयंबुद्ध मंत्री ! तुम्हें, धन्यवाद सौबार ।
अच्छे शुभ चिन्तक मिले, स्वामी को इस बार ।।

२८९. होता है उद्गार से भोजन का अनुमान ।
हुआ तुम्हारी बात से, भावों का विज्ञान ।।

२९०. स्वामी के सुख के लिए, करना ऐसी बात ।
शत्रु-भाव का क्या नहीं, यह पोषण साक्षात् ।।

---

१. काठ की सिढ़ी

२९१. प्राप्त सुखों को छोड़कर, पर-भव-सुख की चाह ।
महा-मूर्खता की यही, अपनानी है राह ।।

२९२. परलोकी आत्मा नहीं, है प्रमाण प्रत्यक्ष ।
अतः कथा परलोक की, व्यर्थ बताते दक्ष ।।

२९३. और बिना परलोक के, वृथा धर्म की बात ।
अतः धर्म का फल मिले, यह मिथ्या साक्षात् ।।

२९४. सम्मुख सुख तज कर करे, पर-भव सुख की आश ।
है भविष्य अन्धेर में, कौन करे विश्वास ।।

२९५. मद्याङ्गों का योग है, मदिरा की बुनियाद ।
जड़-भूतों से जन्य है, यह चेतन अविवाद ।।

२९६. पृथक् नहीं है देह से, कोई देही जीव ।
जो जाये परलोक में, तजकर देह अजीव ।।

२९७. धर्म, पाप की बात है, गर्दभ-शृंग समान ।
तब फिर भोगों से रहे, वंचित मूढ़ महान् ।।

२९८. पूजा जाता एक जो, पुष्पों से पाषाण ।
क्या उसने भी है किया, धर्माचरण महान् ।।

२९९. और एक पाषाण पर, करते मल-उत्सर्ग ।
कहां कदा उसके हुआ, दुष्कृत से संसर्ग ।।

३००. जीते मरते जीव यदि, कर्मों के संयोग ।
तो जल-बुद-बुद के हुआ, कब कर्मों का योग ।।

३०१. इच्छा से चेष्टा करें, तावत् है चैतन्य ।
नष्ट चेतना का पुनः, होता जन्म न अन्य ।।

३०२. जब तक जीवित जगत् में, तब तक भोग विलास ।
बिना धर्म फल है वृथा, धर्म-ध्यान अभ्यास ।।

आत्मा का अस्तित्व

३०३. स्वयंबुद्ध ने श्रवण कर, नास्तिक-मत के गीत ।
कहा उन्हें धिक्कार, जिनकी मति विपरीत ।।

३०४. वे दुर्गति में डालते, सबको अपने साथ ।
जैसे अन्धा डालता, कुंए में साक्षात् ।।

३०५. ज्यों सुख-दुख को जानते, निज अनुभव से लोग ।
त्यों आत्मा को जानते, निज संवेदन-योग ।।

३०६. 'मैं हूँ' ऐसा हो रहा, अनुभव निःसन्देह ।
आत्मा के अस्तित्व में, कहां रहा सन्देह ।।

३०७. 'मैं' आत्मा प्रत्यक्ष है, मैं हो सके न देह ।
'मेरा तन' यों सब कहे, किन्तु न 'मैं हूँ देह' ।।

३०८. मैं दुःखी में हूँ सुखी, होता सब को भान ।
कौन करे आत्मा बिना, यह अनुभव विज्ञान ।।

३०९. निज तन-वत् पर-देह में, आत्मा का अनुमान ।
हो जाता है धूम से, अग्नि-ज्ञान आसान ।।

३१०. जड़-भूतों से हो नहीं, चेतन का उद्भाव ।
कारण के अनुरूप ही, होता कार्य-स्वभाव ।

३११. होता यदि हर-भूत से, चेतन का उद्भाव ।
तो उतनी ही चेतना, का हो प्रादुर्भाव ।।

३१२. सब भूतों के मेल से, यदि हो चेतन-शक्ति ।
उचित नहीं है पक्ष यह, कब माने बुध व्यक्ति ।।

३१३. भूतों का अविवाद है, सबका भिन्न स्वभाव ।
तो कैसे उत्पन्न हो, चेतन एक स्वभाव ।।

३१४. रूप, गंध, रस, स्पर्श गुण, है पृथ्वी में ज्ञात ।
और रूप, रस, स्पर्श गुण, जल में है विख्यात ।।

३१५. रूप, स्पर्श गुण तेज में, स्पर्श पवन में ख्यात ।
सबके भिन्न स्वभाव हैं, भूतों में साक्षात् ।।

३१६. यदि माने जल-जन्य है, मोती भिन्न स्वभाव ।
जड़-भूतों के योग से, वैसे चेतन-भाव ॥

३१७. मोती में जल है प्रकट, दोनों पुद्गल रूप ।
विजातीय ये हैं नहीं, ज्ञानी-ज्ञान अनूप ॥

३१८. जड़ से जड़ मद-शक्ति का, होता प्रादुर्भाव ।
जड भूतों से हो नहीं, चेतन का उद्भाव ॥

३१९. तन चेतन का ऐक्य भी, सिद्ध न किसी प्रकार ।
चेतन-विरहित देह का होता साक्षात्कार ॥

३२०. सुख दुख की अनुभूति कब, करता है पाषाण ।
मलोत्सर्ग चाहे-करें चाहे दें सम्मान ॥

३२१. जल-बुद-बुद पर्याय है, जल से प्रादुर्भाव ।
होना व्यय, उत्पाद का, है यह द्रव्य स्वभाव ॥

३२२. जीव-शब्द से जीव की, हो जाती है सिद्धि ।
बिना वाच्य वाचक नहीं, यह सर्वत्र प्रसिद्धि ॥

३२३. आत्मा है अथवा नहीं, होता जो सन्देह ।
वह जड़ में होता नहीं, है यह निःसन्देह ॥

३२४. जड़ में चेतन तत्त्व का, है अत्यन्ताभाव ।
जड़ से हो सकता नहीं, चेतन का उद्भाव ॥

३२५. जीव न हो तो क्या बने, उसका कभी निषेध ।
निश्चय होता वह सदा, जिसका हो प्रतिषेध ॥

३२६. मोहन घर में है नहीं, यह 'संयोग' निषेध ।
है यह गृह संयोग का, वास्तव में प्रतिषेध ॥

३२७. सींग न होते शशक के, यह निषेध समवाय ।
मात्र शशक के सींग का, है निषेध अनपाय ॥

३२८. चांद नहीं है दूसरा, यह 'सामान्य' निषेध ।
यह उसके सामान्य का, है केवल अनिषेध ॥

३२९. मोती होते हैं नहीं, घट के तुल्य महान् ।
यह प्रतिषेध विशेष का, बतलाते विद्वान ।।

३३०. निज-निज विषयों का करे, सभी इन्द्रियां ज्ञान ।
हो न सके आत्मा बिना, जोड़-रूप विज्ञान ।।

३३१. अवगाहन गुण से करे, निराकार नभ-ज्ञान ।
चेतन गुण से कर सके, आत्मा का विज्ञान ।।

३३२. सद् आत्मा होती नहीं, कभी मूलतः नष्ट ।
जन्म-मरण की शृंखला, है अनादितः स्पष्ट ।।

३३३. जात-मात्र शिक्षा बिना, शिशु करता स्तनपान ।
गत-भव के अभ्यास का, है यह पुष्ट प्रमाण ।।

३३४. अतः देह से है पृथक, परभव-गामी जीव ।
होते धर्म, अधर्म भी, निश्चित सफल अतीव ।।

३३५. परभव-गामी जीव को, कर्मों के अनुसार ।
फल मिलता निःशंक है, अतः धर्म है सार ।।

३३६. भौतिक सुख है वस्तुतः, फल किम्पाक समान ।
आध्यात्मिक सुख सहज है, परम सुखों की खान ।।

३३७. मक्खन क्षण में पिघलता, आग-ताप के योग ।
नर विवेक खोता त्वरित, नारी के संयोग ।।

३३८ परम मित्र हैं पाप के, शत्रु धर्म के ख्यात ।
ले जाते हैं नरक में, विरस विषय विख्यात ।।

३३९. एक सेव्य है एक है, सेवक सेवा-लीन ।
दाता होता एक हैं, याचक एक मलीन ।।

३४०. होता एक सवार है, वाहन होता एक ।
अभय-प्रदाता एक है, अभय याचता एक ।।

३४१. धर्मा-धर्माचरण का, फल है यह प्रत्यक्ष ।
शंका का क्या काम है, जो है सर्व समक्ष ।।

३४२. करो त्याग झट पाप का, दुख-दायक पहचान ।
और धर्म को ग्रहण कर, बन जाओ भगवान् ।।

क्षणिकवादी शतमति-कथन

३४३. स्वयंबुद्ध मन्त्रीश के, सुनकर ये उद्‌गार ।
शतमति मन्त्री कर रहा, अपने प्रकट विचार ।।

३४४. है पदार्थ इस विश्व में, क्षण भंगुर एकान्त ।
उनके विषयक ज्ञान से, पृथग् न जीव नितान्त ।।

३४५. स्थिरता की जो बुद्धि है, वस्तु व्रात में ख्यात ।
वहां हेतु है वासना, निःसंशय साक्षात् ।।

३४६. पूर्वापर क्षण का नहीं, वास्तव में एकत्त्व ।
क्षणिक-वाद का है सही, अपनाओ यह तत्त्व ।।

परिणामी नित्य-वादी स्वयंबुद्ध-कथन

३४७. शतमति से सुनकर प्रकट, क्षणिकवाद की बात ।
स्वयंबुद्ध अब कर रहा, आत्म-सिद्धि साक्षात ।।

३४८. वस्तु निरन्वय है नहीं, कहते हैं विद्वान ।
घास सलिल से दूध का, होता है निर्माण ।।

३४९. गगन पुष्प सम हो सके, वस्तु न निःसन्तान ।
क्षण-भंगुर-धी है वृथा, ज्ञानी-जन का गान ।।

३५०. वस्तु क्षणिक है ! तो क्षणिक, होगी फिर सन्तान ।
क्षणिक कहां सब वस्तु है, यदि हो नित सन्तान ।।

३५१. यदि अनित्य सब भाव हैं, तो बाधा प्रत्यक्ष ।
स्थापित वस्तु विशेष को, कैसे मांगे दक्ष ।।

३५२. कैसे स्मृति में आ सके, पूर्व काल की बात ।
और न प्रत्यभिज्ञान भी, घट सकता साक्षात् ।।

३५३. जनक जन्म के दूसरे, क्षण में यदि हो क्लिष्ट ।
अगले क्षण में तो न यह, उसका आत्मज स्पष्ट ।।

३५४. और पिता कैसे हुआ, उस सुत का साक्षात् ।
जबकि रहा वह सुत नहीं, समयान्तर पश्चात् ।।

३५५. क्षण भंगुर हो दम्पती, पाणि-ग्रहण के बाद ।
पति-पत्नी सम्बन्ध फिर, घटित न हो अविवाद ।।

३५६. करे यहाँ पर पाप जो वह भोगे न अमुत्र ।
उसे दूसरा भोगता, यह विचित्र है सूत्र ।।

३५७. दोष बड़े दो हैं यहां, बतलाते विद्वान ।
एक 'अकृत-आगम' तथा, 'कृत-प्रणाश' पहचान ।।

मायावादी महामति-कथन

३५८. स्वयंबुद्ध मन्त्रीश के, सुन कर मन के भाव ।
सचिव महामति कर रहा, निज-मत प्रादुर्भाव ।।

३५९. वास्तव में कुछ है नहीं, जग है माया-रूप ।
मिथ्या स्वप्न-समान है, मायावाद स्वरूप ।।

३६०. तेरा-मेरा सुत पिता, धर्माधर्म प्रचार ।
ये सब कुछ भी हैं नहीं, यह केवल व्यवहार ।।

३६१. मांस नदी के तीर पर, तजकर गया सियाल ।
मीन पकड़ने के लिए, पानी में तत्काल ।।

३६२. पकड़ न पाया मीन को, मीन हुई जल लीन ।
गीध ले गया मांस को, गीदड़ भाग्य-विहीन ।।

३६३. दौड़े परभव के लिए, ऐहिक सुख को छोड़ ।
उभय भ्रष्ट हो देखता, भीषण कष्ट करोड़ ।।

द्वैतवादी स्वयंबुद्ध कथन

३६४. सचिव महामति के सुने, मायावाद विचार ।
स्वयंबुद्ध अब कर रहा, प्रकट स्वीय उद्गार ।।

३६५. वस्तु वस्तुतः सत्य है, यथार्थ यह बात ।
असद् वस्तु में हो नहीं, अर्थ क्रिया साक्षात् ।।

३६६. माया ही ऐसी अगर, माने माया-वाद ।
क्यों न स्वप्न में प्राप्त गज, क्रिया करे अविवाद ॥

३६७. हो न वस्तु में वस्तुतः, हेतु-हेतुमद् भाव ।
क्यों फिर निपतद् वज्र के, भय से रखें लगाव ॥

३६८. टिक पाता अद्वैत कब, यदि हो माया सत्य ।
है असद् माया मगर, तो विस्तार अतथ्य ॥

३६९. करे असद् माया क्रिया, है यह अद्भुत बात ।
वन्ध्या भी है पुत्र भी, है उसके साक्षात् ॥

३७०, निश्चित है अस्तित्व की, दृग् से जग सद्रूप ।
द्वैतवाद अविवाद है, जड़ चैतन्य स्वरूप ॥

३७१. प्राणी पाता कष्ट है, कर्मों के अनुसार ।
कर्म-मुक्त हो तब मिले, अक्षय सुख-भण्डार ॥

३७२. धर्माचरण बिना नहीं, होते कर्म विलीन ।
आत्मा में रमते अतः, जग में पुरुष प्रवीण ॥

३७३. भोगों में आसक्ति है, घोर दुःख की खान ।
त्याग तपस्या के बिना, कहां शान्ति का स्थान ॥

महाबल नृप कथन

३७४. मन्त्री गण के श्रवण कर, अलग अलग मन्तव्य ।
निर्मल मना नृप ने कहा, है बातें श्रोतव्य ॥

३७५. मतिशाली मन्त्रीप्रवर, स्वयंबुद्ध ! संबुद्ध ।
तुमने जो बातें कहीं, वे सब है अविरुद्ध ॥

३७६. हैं न हमारे चित्त में, धर्म-कार्य से द्वेष ।
किन्तु समय पर ही उसे, करना उचित विशेष ॥

३७७. यौवन-वय जो प्राप्त है, बहुत प्रतीक्षा बाद ।
उसका भी उपयोग अब, करना है साह्लाद ॥

३७८. अतः धर्म का जो दिया, तुमने वर उपदेश ।
है न सामयिक वह अभी, है तारुण्य प्रवेश ।।

३७९. मधुर स्वरों में बज रही, जब वीणा साक्षात् ।
तब अच्छी लगती नहीं, वेद पाठ की बात ।।

३८०. पर-भव में फल धर्म का, क्या मिलता अविवाद ?
तब तुम कैसे कर रहे, भोगों का प्रतिवाद ।।

३८१. स्वयंबुद्ध ने तब कहा, सुनकर नृप की बात ।
राजन् निःसन्देह है, स्वर्ग-नर्क साक्षात् ।।

स्वयंबुद्ध द्वारा कथित इतिहास

३८२. क्या न याद है आपको, वह बचपन की बात ।
नन्दन वन में हम गये, मिलकर शिशु संघात ।।

३८३. देखा था हमने वहां, एक देव साक्षात् ।
उसी समय उस देव ने, कही आपसे बात ।।

३८४. मैं तेरा गत-जन्म में, दादा अतिवल नाम ।
तृणवत् तजकर राज्य को, संयम लिया ललाम ।।

३८५. अन्त समय में है किया, अनशन अंगीकार ।
हुआ देवलांतक-पति, संयम के आधार ।।

३८६. अतः न होना तुम कभी, भोगों में आसक्त ।
चला गया वह देव यूं, कहकर बातें व्यक्त ।।

३८७. अतः आप अपने पितामह, की माने बात ।
मान्य करें परलोक को है प्रमाण साक्षात् ।।

३८८. बात पितामह की हुई, स्मृति-पथ में साकार ।
नरपति ने तब कर लिया, पर-भव अंगीकार ।।

३८९. आस्तिकता के वचन सुन, स्वयंबुद्ध तत्काल ।
नरपति को कहने लगा, सुनिए बात विशाल ।।

३९०. हुआ आपके वंश में, पहले नृप कुरुचन्द ।
उसकी रानी कुरुमती, हरिश्चन्द्र था नन्द ।।

३९१. मिथ्या-मति था नृपति वह, दुर्जन दुष्ट-विचार ।
बड़ा क्रूर-कर्मी अधम, करता अत्याचार ॥

३९२. अन्त समय उसके हुआ, धातु-विपर्यय रोग ।
वह था भावी नरक का, एक नमूना योग ॥

३९३. हुई रोग के योग से, सब बातें विपरीत ।
मधुर खाद्य भी नीम सम, लगता नहीं पुनीत ॥

३९४. तीखे कांटो तुल्य है, कोमल शय्या स्थान ।
कस्तूरी, चन्दन, अगर, घृणित गंध उपमान ॥

३९५. पुत्र आदि परिवार भी, लगता शत्रु समान ।
सुन्दर गायन कर्ण-कटु, रम्य महल शमशान ॥

३९६. रोम-रोम में लग गई, उसके तन में दाह ।
मन की मन में ही रही, पूरी हुई न चाह ॥

३९७. आर्त्त-ध्यान में लीन वह, चला गया परलोक ।
बिना धर्म-आराधना, पाता दुख अस्तोक ॥

३९८. मौत देखकर तात की, पुत्र हुआ भयभीत ।
हरिश्चन्द्र की धर्म में, श्रद्धा हुई पुनीत ॥

३९९. विधिवत् करता राज्य है, और न्याय निष्पक्ष ।
सदाचार पथ का पथिक, अनुशासन में दक्ष ॥

४००. श्रावक एक सुबुद्धि था, उसका मित्र महान् ।
हरिश्चन्द्र नृप ने उसे, कहा सुनो दे ध्यान ॥

४०१. ज्ञानी गुरु से जो सुनो, धर्म-ध्यान की बात ।
कहा करो तुम वह मुझे, यथा-तथ्य साक्षात् ॥

४०२. सज्जन मानव के लिए, मन-अनुकूल निदेश ।
होता है उत्साह का, वह तो हेतु विशेष ॥

४०३. पाप-भीरु पृथ्वीपति, हरिश्चन्द्र गुणवान ।
सुनकर धर्म सुबुद्धि से, होता मुदित महान ॥

४०४. रखता है अब धर्म पर, मन में दृढ़ विश्वास ।
करता है सम-भाव का, रात-दिवस अभ्यास ।।

४०५. आये हैं उद्यान में, शीलंधर मुनिराज ।
उनके दर्शन के लिए, जाते हैं सुरराज ।।

४०६. हरिश्चन्द्र नृप ने सुनी, यह सुबुद्धि से बात ।
मुनि को वन्दन के लिए, वह पहुंचा साक्षात् ।।

४०७. मुनि ने दी है देशना, सरच्चन्द्रिका तुल्य ।
मिथ्या-तिमिर विनाशिनी, शिक्षामयी अमूल्य ।।

४०८. मुदित-मना नृप ने किया, मुनि से प्रश्न उदार ।
गति बतलाओ तात की, करुणा के भण्डार ।।

४०९. संत केवली ने कहा, राजन् ! तेरे तात ।
नरक सातवें में गये, वहां न सुख की बात ।।

४१०. यह सुनकर नृप के हुवा, मन में भोग-विराग ।
दीक्षित हुआ सुबुद्धि भी, श्रावक जग को त्याग ।।

४११. संयम पालन कर गए, वे दोनों शिव-द्वार ।
सहजानन्द स्वरूप में अविचल वास उदार ।।

दण्डक राजा

४१२. स्वयंबुद्ध ने फिर कहा, सुने महाबल ! छेक ।
हुआ आपके वंश में, दण्डक नरपति एक ।।

४१३. अपने अरि-गण के लिए, वह यमराज समान ।
मणिमाली था पुत्र जो, तेजस्वी भास्वान ।।

४१४. दण्डक पुत्र कलत्र में, मूर्च्छावान महान ।
वह इन सबको समझता, अपने प्राण समान ।।

४१५. वह मरकर अजगर हुआ, आर्त्त-ध्यान में लीन ।
अपने ही भण्डार में, रहता मोह-अधीन ।।

४१६. जो कोई भण्डार में, जाता उसके पास ।
वहीं निगल जाता उसे, करता जीवन-नाश ।।

४१७. गया देखने एक दिन मणिमाली भण्डार ।
अजगर ने तब देखकर, मन में किया विचार ॥

४१८. जाति-स्मरण के ज्ञान से, हुआ पुत्र का ज्ञान ।
तत्क्षण हुआ प्रशान्त वह, तजकर क्रोध-उफान ॥

४१९. मणिमाली ने भी उसे, देखा अधिक प्रशान्त ।
मानो है गत-जन्म का, यह तो बन्धु नितान्त ॥

४२०. ज्ञानी गुरु से पूछ कर, फिर अजगर का हाल ।
जान लिया उसने पिता, अपना ही तत्काल ॥

४२१. उसने अजगर को दिया, आत्म-धर्म-उपदेश ।
अजगर ने भी धर्म को, धारण किया विशेष ॥

४२२. राग-द्वेष को छोड़कर, बनकर समतावान ।
आयुपूर्ण कर वह हुआ, सुर समृद्ध महान ॥

४२३. दिव्य मोतियों से बनी, मुक्ता-माला एक ।
मणिमाली को देव ने, दी प्रमोद अतिरेक ॥

४२४. यह माला जो आपके, पड़ी गले में आज ।
उसी देव की दी हुई, सुनिये राजन् ! राज ॥

४२५. हरिश्चन्द्र के वंशधर, कहलाते हैं आप ।
मैं सुबुद्धि के वंश का, यह सम्बन्ध अमाप ॥

४२६. अतः आपका और है, मेरा यह सम्बन्ध ।
बहुत पुराना वंशगत, है अपना अनुबन्ध ॥

४२७. अतः निवेदन कर रहा, हित-इच्छुक मैं आज ।
करें धर्म आराधना, तन मन से निर्व्याज ॥

४२८. मैंने असमय में कही, धर्म-ध्यान की बात ।
जान चुका था क्योंकि मैं, आगामी आपात ॥

४२९. नन्दन-वन में मुनि-युगल, मैंने देखे आज ।
घोर तपस्वी शान्त-मन, जग-तारक मुनिराज ॥

४३०. ज्ञानी गुणी महान थे, सूरज शशी समान ।
धर्म ध्यान की देशना, देते दया-निधान ।।

४३१. उनके द्वारा आपके, आयु कर्म का ज्ञान ।
मैंने उनसे पूछकर, सम्यग् किया प्रमाण ।।

४३२. आयु आपकी अब रही, एक मास अवशेष ।
अतः धर्म की कर रहा, राजन् ! विनति विशेष ।।

४३३. नृपति महाबल ने कहा, सुन मन्त्री की बात ।
स्वयंबुद्ध तू एक है, हित-चिन्तक साक्षात् ।।

४३४. तू ही मेरा मित्र है, तू भ्राता निर्व्याज ।
मोह-नींद के गर्त्त से, मुझे निकाला आज ।।

४३५. किन्तु बताओ अब मुझे, साधूँ कैसे धर्म ।
स्वल्प आयु में कर सकूं, कैसे निष्ट स्व कर्म ।।

४३६. स्वयंबुद्ध ने तब कहा, करें न पश्चात्ताप ।
आश्रय ले यति-धर्म का, तजकर पाप-प्रलाप ।।

४३७. एक दिवस का संत भी, पा सकता है मुक्ति ।
क्या कहना फिर स्वर्ग का, उचित शास्त्र की उक्ति ।।

४३८. निज सुपात्र सुत को फिर, अपना सारा राज्य प्रदान किया ।
नृपति महाबल ने वर दीक्षा, लेकर निज कल्याण किया ।।
अनशन कर दो बीस दिवस का, काल धर्म को प्राप्त किया ।
देवलोक ईशान कल्प में, नव जीवन निर्माण किया ।।

पांचवां भव : ललितांग देव

४३९. संचित पुण्य-प्रभाव से, धन श्रेष्ठी का जीव ।
स्वर्ग दूसरे में हुआ, सुर ललितांग सजीव ।।

४४०. श्रीप्रभ नाम विमान में, जन्म लिया तत्काल ।
दिव्याकृति संस्थान था, समचतुरस्र विशाल ।।

४४१. सात धातुओं से रहित, काया वज्र समान ।
कोमलता थी कुसुम सम, और अवधि विज्ञान ।।

४४२. रूप-प्रवर्तन-शक्ति है, इच्छा के अनुसार ।
सकल तरह के पुण्य के, हैं लक्षण साकार ।।

४४३. दिव्य कान्ति उत्साह है, आठ सिद्धि संयुक्त ।
वैभव आदिक गुण सभी, मिलते हैं उपयुक्त ।।

४४४. पैरों में थे रत्न के, सुन्दर कड़े सुरम्य ।
कंदोरा था कमर पर, कर में कंकण रम्य ।।

४४५. दर्शनीय भुजबन्ध से, थे भुज-दण्ड उदार ।
ग्रैवेयक गल बीच थी, था छाती पर हार ।।

४४६. मस्तक पर वर मुकुट था, सुम-माला रमणीय ।
दिव्य वस्त्र-धर कान में, कुण्डल थे कमनीय ।।

४४७. सब अंगों पर आभरण, यौवन रूप अनूप ।
मिला जन्म के साथ ही, है यह देव-स्वरूप ।।

४४८ दुंदुभि के प्रतिनाद से, गुञ्जित था आकाश ।
मंगल-पाठक उस समय, कहते थे सोल्लास ।।

४४९. "जग को आनन्दित करो, प्राप्त करो जय सार ।"
गीत-वाद्य से ध्वनित था, वह विमान का द्वार ।।

४५०. पुनः उठा ललितांग सुर, मानो निद्राधीन ।
उपर्युक्त सब देखकर, विस्मित हुआ प्रवीण ।।

४५१. "क्या यह कोई स्वप्न है, या है माया-जाल ?
इन्द्रजाल है क्या सही, क्यों इतनी संभाल ।।"

४५२. होता है मेरे लिए, नृत्य-गान क्यों आज ? ।
समझ रहा स्वामी मुझे, क्यों यह सकल समाज ? ।।

४५३. लक्ष्मी मन्दिर रूप यह, भवन मनोहर रूप ।
आज कहां आया यहां, क्या यह दिव्य स्वरूप ? ।।"

४५४. होते हैं उत्पन्न यों, मन में तर्क-वितर्क ।
ज्ञान बिना होता नहीं, समाधान निस्तर्क ।।

४५५. बद्धांजलि प्रतिहार तब, आया उसके पास ।
कोमल स्वर से कर रहा, अपने भाव-प्रकाश ।।

४५६. "पाकर स्वामी आपको, स्वामिन् ! हुए सनाथ।
हम हैं सेवक आपके, आप हमारे नाथ ।।

४५७. है विमान ईशान यह, देवलोक रमणीय ।
दाता इच्छित वस्तु का, दर्शनीय कमनीय ।।

४५८. जिस विमान को कर रहे, आप सुशोभित आज ।
श्रीप्रभ नाम विमान यह, सुन्दर सज्जा साज ।।

४५९. संचित पुण्य-प्रताप से, प्राप्त हुआ अतएव ।
संसद के शृंगार हैं, ये सामानिक देव ।।

४६०. तीन तीस हैं ये सभी, देव पुरोहित स्थान ।
सदा करेंगे आपकी, आज्ञा का सम्मान ।।

४६१. देव ! विदूषक ये सभी, क्रीड़ानन्द प्रधान ।
क्रीड़ा द्वारा आपको, करें प्रसन्न महान् ।।

४६२. अंग-सुरक्षक आपके, ये सुर रक्षाकार ।
लोकपाल ये देवता, नगर सुरक्षक सार ।।

४६३. सेना संचालन करें, सेनापति ये देव ।
देव प्रकीर्णक ये सभी, प्रजा तुल्य स्वयमेव ।।

४६४. दास तुल्य ये देवता, आभियोग्य है नाम ।
देव किल्विषिक ये सभी, मलिन करेंगे काम ।।

४६५. रत्न-जटित ये महल हैं, रमणी-जन रमणीय ।
हैं ये चित्ताल्हाद-कर, दर्शनीय कमनीय ।।"

४६६. कनक कमल की खान सम, बावडियां हैं रम्य ।
रत्न स्वर्ण के शिखर-घर, क्रीड़ा आदि सुरम्य ।।

४६७. निर्मल जलवाली सुखद, क्रीड़ा नदी महान ।
नित्य नये फल फूल प्रद, ये क्रीड़ा उद्यान ॥

४६८. स्वर्ण और माणिक्य से, निर्मित सूर्य समान ।
भव्य सभा-मण्डप सुखद, है यह आभावान ॥

४६९. पंखा दर्पण और चमर, लेकर कर में साथ ।
ये वेश्याएं हैं खड़ी, युगल जोड़कर हाथ ॥

४७०. चार तरह के वाद्य जो, उनमें चतुर महान ।
गंधर्वों का वर्ग यह, गाता सुन्दर गान ॥

४७१. ये बातें प्रतिहार की, सुनकर सम्यग् योग ।
उन पर सुर ललितांग ने, दिया शीघ्र उपयोग ॥

४७२. अवधि ज्ञान के योग से, गत-भव का वृत्तान्त ।
कल की बातों की तरह, स्मृति में हुआ नितान्त ॥

४७३. मैं था विद्याधर पति, मानव-मुकुट नरेश ।
स्वयंबुद्ध मंत्रीश ने, दिया धर्म-उपदेश ॥

४७४. उससे मैंने है किया, संयम का स्वीकार ।
अनशन की आराधना, अन्त समय अविकार ॥

४७५. मिला उसी का फल मुझे, यह सुर-सुख वर देह ।
है अचिन्त्य सद्धर्म का-वैभव निःसन्देह ॥

४७६. पूर्व-जन्म की इस तरह, स्मृति करके तत्काल ।
शीघ्र वहां से उठ चला, मन में मोद विशाल ॥

४७७. छड़ीदार के हाथ पर, रखकर अपना हाथ ।
सिंहासन पर स्थित हुआ, अमर गणों का नाथ ॥

४७८. जय-जय की ध्वनि हो रही, उसके चारों ओर ।
और चमर ढुरने लगे, सुर-गण हर्ष-विभोर ॥

४७९. गाते हैं गंधर्व सुर, मंगल गीत महान् ।
देवों ने अभिषेक का, किया सफल अभियान ॥

४८०. फिर उठकर ललितांग सुर, गया चैत्य के द्वार ।
अर्हत्प्रतिमा की वहां, की है पूजा[1] सार ।।

४८१. स्तुति की है भगवान की, पढ़कर स्रोत पुनीत ।
और अस्थि पूजन किया, गा कर मंगल गीत ।।

४८२. फिर क्रीड़ाघर में गया, धारण कर वर छत्र ।
शारद पूनम की तरह, था प्रकाश सर्वत्र ।।

४८३. सुन्दरता के सिन्धु में, कमल वाटिका रूप ।
स्वयंप्रभा देवी वहां, सुन्दर मन्दिर स्तूप ।।

४८४. उसने देखा देव को, आते अपने पास ।
शीघ्र खड़ी होकर किया, स्वागत हर्षोल्लास ।।

४८५. श्रीप्रभ नाम विमान का, श्री ललितांग सुनाथ ।
बैठा एक पलंग पर, स्वयं-प्रभा के साथ ।।

४८६. शोभा पाते इस तरह, वे दोनों इस बार ।
जैसे थाले[2] में रहे, लता और सहकार ।।

४८७. वे दोनों अब हो गये, निविड राग-आधीन ।
एक दूसरे में हुए, उनके मानस लीन ।।

४८८. श्रीप्रभ नाम विमान के, प्रभु ने, देवी साथ ।
समय विताया है बहुत, क्रीड़ा में साक्षात् ।।

४८९. स्वयंप्रभा का स्वर्ग से, च्यवन हुआ बेरोक ।
चली गई वह दूसरी, गति में तज सुरलोक ।।

---

१. प्रतिमा पुत्तलिकादि की, पूजा करते देव ।
वह तो है सुरलोक की स्थिति ऐसी स्वयमेव ।।१।।

सम्यग्दर्शी की तरह, जो सुर मिथ्यादृष्टि ।
वे भी प्रतिमा पूजते, अतः न धार्मिक दृष्टि ।।२।।

यह सब जीत परम्परा, लौकिक मंगलाचार ।
धर्म, धर्म के स्थान पर, दुनियां में व्यवहार ।।३।।

२. पौधे या वृक्ष की जड़ के चारों ओर बनाया गया घेरा-थांवला ।

४९०. आयु कर्म जव जीव का, हो जाता प्रक्षीण ।
तव रह सकता है नहीं, सुरपति भी स्वाधीन ।।

४९१. प्रिया-विरह के दुख से, दुखित होकर देव ।
मूर्च्छित होकर गिर पड़ा, धरती पर स्वयमेव ।।

४९२. आया वह जव होश में, स्वल्प समय के वाद ।
जोर जोर से रुदन कर, करने लगा विषाद ।।

४९३. प्राण-प्रिये ! तू है कहां, हाय ! प्रिये ! तू वोल ।
एक वार आकर मुझे, वात वता दिल खोल ।।

४९४. सव जग को वह देखता, स्वयंप्रभामय आज ।
प्रिया-विरह का दुख है, दिल में वे-अंदाज ।।

४९५. स्वयंवुद्ध मंत्री उधर, करता था तप-त्याग ।
निज स्वामी की मृत्यु से, मन में हुआ विराग ।।

४९६. उसने सिद्धाचार्य से, लेकर संयम सार ।
निरतिचार पालन किया, सद्गुरु के आधार ।।

४९७. आयु पूर्ण कर वह गया, देवलोक ईशान ।
सामानिक सुरवर हुआ दृढ़-धर्मा अभिधान ।।

४९८. उसने सुर ललितांग का, किया अवधि से ज्ञान ।
आया उसके पास वह, लेकर हर्ष महान ।।

४९९. मधुर वचन से कह रहा, हे गुणवान सुधीर ।
केवल नारी के लिए, क्यों हो रहे अधीर ।।

५००. नहीं मौत के योग से, घवराते नर-वीर ।
आर्त्त-ध्यान को छोड़कर, ध्याते धर्म सुधीर ।।

५०१. क्या कहते हो वन्धु ! वह, प्राण-विरह सहनीय ? ।
किन्तु प्रिया का विरह तो, कभी न विस्मरणीय ।।

५०२. है असार संसार में, सारंगाक्षी सार ।
होती है उसके विना, सव सम्पत्ति असार ।।

५०३. सुनकर बातें दुख भरी, वह सामानिक देव ।
उसके दुख से हो गया, अति दुखित स्वयमेव ।।

५०४. अवधि ज्ञान का है किया, फिर उसने उपयोग ।
और कहा ललितांग को, छोड़ो दुख प्रयोग ।।

५०५. बतलाता हूँ आपको, भावी स्त्री की बात ।
किस गति में है वह अभी, किया ज्ञान से ज्ञात ।।

अनामिका[1] ललितांग की भावी पत्नी

५०६. पूर्व-विदेह क्षेत्र में नन्दी नाम ग्राम सुन्दर सर स्थान ।
उसमें रहता एक दरिद्री नागिल उसका था अभिधान ।।
उदर पूर्ति के लिए भटकता रहता था वह भूत समान ।
फिर भी भूखा ही सोता था, भरता कभी न उदर महान ।।

५०७. नागश्री था नारी उसकी, मंद भाग्य से रूप कुरूप ।
उसके क्रमशः हुई लड़कियाँ, छह बद सूरत कुत्सित रूप ।
वे शूकर की भांति प्रकृति से, बहुत खाद्य खाने वाली ।
और हुई वे जगती-तल में, निन्दा को पाने वाली ।।

५०८. उनके पीछे पुनः हो गई उसकी नारी गर्भवती ।
प्रायः नर दरिद्र की नारी, होती गुर्वी[2] शीघ्र अति ।।
नागिल मन में सोच रहा है, यह है किन कर्मों का जाल ।
मनुज-लोक में भोग रहा हूँ, नरक लोक के दुख विशाल ।।

५०९. इस दरिद्रता ने कर डाला, मुझे खोखला चारों ओर ।
जैसे तरु को करे खोखला, दीमक जिसकी क्रिया कठोर ।।
इन कन्याओं ने डाला है मुझे दुख की कारा में ।
यदि इस बार हुई लड़की तो, तज दूंगा घर, दारा मैं ।।

---

१. मूल कृति में यह नाम 'निर्नामिका' है। २. गर्भवती

५१०. मेरी नारी ने कन्या को, जन्म दिया है जब जाना ।
तब परिजन तज चला गया वह, कर्मों का फल है पाना ।।
उसकी स्त्री ने यह जब जाना, चला गया है पति परदेश ।
प्रसव-काल के साथ हुआ, तब उसके मानस में अति क्लेश ।।

५११. महा दु:खिनी नागश्री ने, रखा नहीं कन्या का नाम ।
अत: उसे कहकर अनामिका, बतलाते हैं लोग तमाम ।।
मां के पालन-पोषण बिन भी वह तो बढ़ती है दिन-रात ।
क्यों कि आयु प्रक्षीण न हो तो मार न सकता वज्राघात ।।

५१२. वह अत्यन्त अभागी बाला, निम्न काम कर पर के गेह ।
ज्यों-त्यों अपना जीवन-यापन, करती है पाकर नर-देह ।।
इक दिन उसने धनिक पुत्र के, कर में देखा लड्डूलाल ।
वह भी जाकर अपनी मां से मांग रही लड्डू तत्काल ।।

५१३. माता कहने लगी क्रुद्ध हो, कहां सुनी लड्डू की बात ।
रोटी भी मिलती न पेट भर, क्षुधा सताती है दिन-रात ।।
यदि हो लड्डू खाने का मन, तो तुम बस यह काम करो ।
अम्बर-तिलक अद्रि पर जाकर, इन्धन लाने कदम धरो ।।

५१४. कटु वाणी सुनकर माता की, रस्सी लेकर वह तत्काल ।
रोती हुई चली वह गिरि को, लिए चित्त में दुख विशाल ।।
संत युगंधर को उस वेला, प्राप्त हुआ है केवल ज्ञान ।
सुरगण सब मिलकर करते हैं, केवल-उत्सव का अभियान ।।

५१५. गिरि के निकट-निवासी अथवा, नगर-निवासी नर-नारी ।
जाते हैं वे पर्वत पर, अनमोल वस्त्र-भूषण-धारी ।।
उन्हें देखकर वह अनामिका, विस्मित होकर खड़ी रही ।
हुआ पूछने से गिरि पर, जाने का कारण ज्ञात सही ।।

५१६. तब उसने इन्धन का बोझा, तुरत अन्यत्र फेंक दिया ।
इन लोगों के साथ अद्रि पर, चढ़ने हेतु प्रयाण किया ।।
उसने मुनिवर के चरणों को समझा चिन्तामणि-साकार ।
मुदित-मना वन्दन कर बैठी, क्योंकि बुद्धि भक्ति के अनुसार ।।

धर्म देशना

५१७. निष्कारण जग-तारक मुनि ने, धर्म-देशना दी तत्काल ।
विषयों में रत मानव पाता, जगती-तल में दुख विशाल ।।
सुत दारा का संगम सारा, रैन बसेरा सा साक्षात् ।
निज-कृत कर्मों से ही पाता, मानव जग में दुख-आघात ।।

५१८. बद्धांजलि तव पूछ रही है, अनामिका मुनिवर से बात ।
आप नृपति में और रंक में, रखते हैं समता अवदात ।।
अतः पूछती हूँ मैं जग को, दुख का घर जो गाते हैं ।
मेरे से भी बढ़कर जग में, कौन दुखी कहलाते हैं ।।

नारकीय दुःख वर्णन

५१९. कहा केवली मुनि ने भद्रे ! बाले ! क्या तू कहती है ?
तुझसे बहुत, दुखी हैं प्राणी, तू तो क्या दुख सहती है ।।
जीव नरक गति में जो जाते, अपने कर्मों के अनुसार ।
घोर दुःख वे भोग रहे हैं, शीतादिक के विविध प्रकार ।।

५२०. भालों से भेदे जाते हैं उनके तन छेदे जाते ।
धड़ से कट-कट कर शिर गिरते भीषण दुख से घबराते ।।
घानी में पीले जाते हैं परमाधामी के द्वारा ।
लकड़ीवत् चीरे जाते हैं, तीक्ष्ण करोतों की धारा ।।

५२१. लोहपात्रवत् घन से कूटे जाते तब चिल्लाते हैं ।
शूली की शय्या पर, परमाधामी उन्हें सुलाते हैं ।।
शिलापट्ट पर कपड़े जैसे, प्राणी पीटे जाते हैं ।
और शाक सम टुकड़े टुकड़े, करके काटे जाते हैं ।।

५२२. किन्तु देह है वैक्रिय उनके, वापिस मिल जाते तत्काल ।
उसी तरह फिर उनको, परमाधामी देते दुख विशाल ।।
तपे हुए शीशे का रस ही, जल की जगह पिलाते हैं ।
छाया के इच्छुक को असि-दल, तरु नीचे बैठाते हैं ।।

५२३. पलभर भी वे वहां दुख सें, मुक्त न होने पाते हैं ।
परवश होकर संकट सहते, करुण स्वर चिल्लाते हैं ।।
हे अनामिके ! नरक जीव नित दुख शय्या पर सोते हैं ।
उनका वर्णन भी सुनकर, नर, देह प्रकम्पित होते है ।।

तिर्यंच दुःख वर्णन

५२४. अगर कहोगी किसने देखे, नरक दुख प्रत्यक्ष नहीं ।
तो तिर्यंच योनि में देखो आंख सामने कष्ट यहीं ।।
छोटी मछली को खा जाते, वड़े मत्स्य जो दया-विहीन ।
जाल विछाकर शीघ्र पकड़ते, लोभी धीवर जल में मीन ।।

५२५. जीवित ही कइयों को बगुले, पकड़ निगल जाते तत्काल ।
उनकी चाम उधेड़ी जाती, मनुज वनाते जूते ढ़ाल ।।
उन्हें भूनते मांसाहारी, और पेलते चर्बी-अर्थ ।
परवशता वश सव कुछ सहते, सहने में होकर असमर्थ ।।

५२६. सिंह मारता है पशुओं को, और शिकारी वध करते ।
वैल महिष अति वोझा ढ़ोते, भूख प्यास से हैं मरते ।।
शीत ताप वध बन्धन ताड़न, अरई के सहते आघात ।
और कसाई गले काटता, अगणित दुख सहते साक्षात् ।।

५२७. तोता तीतर और कबूतर, उन्हें पकड़ विल्ली खाती ।
चिड़ीमार के द्वारा चिड़ियां, वेचारी मारी जाती ।।
मुर्गों की गरदन मरोड़कर, निर्मम हत्या करते हैं ।
प्राणी-गण तिर्यंच-योनि में, विना मौत वे मरते हैं ।।

मनुष्य दुःख वर्णन

५२८. कई मनुज जो अन्धे वहरे, लूले लँगड़े होते हैं ।
व्यसन-व्यस्त नर जूते खाकर, अपनी इज्जत खोते हैं ।।
भीषण रोगों से पीड़ित नर, शान्ति न क्षण भर पाते हैं ।
ज्ञाति जनों से कई उपेक्षित, नाना कष्ट उठाते हैं ।।

५२९. नौकर चाकर होकर अपने स्वामी के वश में रहते ।
शूली पर अपराधी चढ़ते, वचन कंटकों को सहते ।।
अपमानित होते रहते हैं, सिर पर बोझा ढ़ोते हैं ।
भूख प्यास से पीड़ित होकर आर्त्त ध्यान वश रोते हैं ।।

५३०. लड़की के वर की चिन्ता से, जीवित ही मर जाते हैं ।
और कई रोटी रोटी, करते ही प्राण गँवाते हैं ।।
नहीं नौकरी मिलती इसकी, चिन्ता बहुत सताती है ।
मानव के दुःखों की गणना, कभी नहीं हो पाती है ।।

देव दुःख वर्णन

५३१. हो जाती है हार युद्ध में, तब सुर भी दुख पाते हैं ।
और च्यवन के समय आर्त्त हो, दुख के आंसू लाते हैं ।।
पराधीनता आदि अनेकों, कष्टों का है पार नहीं ।
दुःखों का भण्डार विश्व है, ज्ञानी गाते सदा सही ।।

५३२. भूत प्रेत के स्थानक में ज्यों मन्त्राक्षर रक्षक होते ।
त्यों इस जग में धर्म-शरण से, नर सुख-शय्या पर सोते ।।
अधिक भार से नौका जैसे, जल में हो जाती है मग्न ।
हिंसा-रूपी अधिक भार से दुर्गति जल में जीव निमग्न ।।

५३३. पवन-वेग से तिनके चारों, ओर सदा ज्यों उड़ते हैं ।
त्योंहीं झूठ वचन से प्राणी, भव-सागर में पड़ते हैं ।।
लेना वस्तु अदत्त स्तेय है, इससे नर दुख पाता है ।
कौंच फली को छूकर खुजली, का नर कष्ट उठाता है ।।

५३४. विषयों का आसेवन नर को तथा नरक में ले जाता ।
यथा सिपाही पकड़ चोर को, हवालात झट दिखलाता ।।
बहुत भार से यथा बैल भी, कीचड़ में फंस जाता है ।
तथा परिग्रह का बोझा भी, नर को अधिक सताता है ।।

५३५. हिंसादिक है पंचाश्रव ये, दुख के कारण जग-तल में ।
और अहिंसा आदिक संवर, सुख के हेतु विश्वस्थल में ।।
सुख-इच्छुक नर आश्रव का. अवरोध करे संवर द्वारा ।
दुःख को कारा से छुटकारा, पाने का यह पथ प्यारा ।।

५३६. केवल ज्ञानी मुनि के मुख से; सुनकर वाणी सुधा-मयी ।
अनामिका के हृदय स्थल में, ऊगी वल्ली विरति-मयी ।।
मुनि से ग्रहण किया है, सम्यग् दर्शन और अणुव्रत सार ।
वन्दन कर मुनि को वह आई, निज घर ले इन्धन का भार ।।

५३७. उस दिन से वह मुनि की वाणी, नहीं भुलाती हुई कदा ।
करती है समता-धारण कर, विविध तपस्या ध्यान सदा ।।
शादी उससे की न किसी ने, यद्यपि वह हो गई जवान ।
कड़वी लौकी के पकने पर, खाता कभी नहीं इन्सान ।।

५३८. अनामिका ने ग्रहण किया है, मुनि से अनशन-घन-निर्व्याज ।
हे ललितांग देव ! तुम जाओ. और उसे दो दर्शन आज ।।
जिससे तुममें रत वह मर कर बने तुम्हारी स्त्री प्यारी ।
क्योंकि कहा है अन्तिम मति ही स्थिति निर्मित करती भारी ।।

ललितांग देव के च्यवन चिन्ह

५३९. अब ललितांग अमर ने भी तो. वैसा ही है कार्य किया ।
उसकी सुरी हुई अनामिका. स्वय-प्रभा है नाम दिया ।।
भौतिक सुख के आसेवन में. वीत गया है लम्बा काल ।
देख रहा ललितांग देव अब, चिन्ह च्यवन के जो तत्काल ।।

५४०. तेज-हीन रत्नों के भूषण और मुकुट की माला म्लान ।
अंग वस्त्र भी मलिन हो रहे, देख उन्हें सुर दुखी महान् ।।
भावी दुख की आशंका से, होने लगा शिथिल सब अंग ।
देख न पाता है आंखों से, देवलोक का दृश्य सुरंग ।।

५४१. अंग अंग ललितांग देव का कम्पित, सुख का काम नहीं ।
रम्य पर्वतों सरिताओं में, वह पाता आराम नहीं ।।
उसकी ऐसी दशा देखकर, स्वयंप्रभा तब पूछ रही ।
आप रुष्ट से क्यों रहते हैं, मुझे बताएँ सही सही ।।

५४२. कहा देव ने सुभ्रू ! तेरा, कोई भी अपराध नहीं ।
मेरा है अपराध कि मेरी, धर्म-क्रिया में कमी रही ।।
पूर्व-जन्म में विद्याधर-पति, मैं भोगों में लीन रहा ।
स्वल्प आयु अवशेष रहा तब, स्वयंबुद्ध ने मुझे कहा ।।

५४३. करो धर्म, है दुःख-विनाशक, मैंने यह स्वीकार किया ।
अन्त समय में स्वल्प समय तक, धर्म-ध्यान में चित्त दिया ।।
उसी धर्म के कारण श्री-प्रभ स्वर्ग-यान का बना पति ।
किन्तु च्यवन अब होगा मेरा अतः दुःख के अश्रु अति ।।

५४४. तदनन्तर ललितांग देव ने देव आयु को पूर्ण किया ।
संचित पुण्योदय से उसने मानव का अवतार लिया ।।
सागर परिमित आयु-कर्म का देखो आ जाता है अंत ।
क्यों फिर प्रमाद करता रे नर ! "आत्म-साधना कर अत्यन्त" ।।

छठा भव : महाविदेह में वज्रजंघ

५४५. जम्बू नामक द्वीप में, स्थानक पूर्व विदेह ।
सीता सरिता पुष्पकला-वती विगत सन्देह ।।

५४६. है लोहार्गल नामका, शहर बहुत रमणीय ।
स्वर्णजंघ नृप है वधू, लक्ष्मी आदरणीय ।।

५४७. उसके गर्भाधान से, सुर ललितांग महान ।
जन्म लिया सुतरूप में, वज्रजंघ अभिधान ।।

५४८. स्वयंप्रभा देवी स्वयं, कालान्तर के बाद ।
उसी विजय में आ रही, संचित पुण्य-प्रसाद ।।

५४९. पुण्डरीकिनी है पुरी, वज्रसेन है भूप ।
गुणवंती स्त्री उदर से, जन्मी कन्या रूप ।।

५५०. शोभनीय थी वह अतः, कर उत्सव अभिराम ।
मात-पिता ने श्रीमती, ऐसा दिया सुनाम ॥

५५१. यौवन वय उसको हुआ; मानो वैसे प्राप्त ।
जैसे रत्न सुवर्ण को, होता है सम्प्राप्त ॥

५५२. एक बार निज महल पर, शीघ्र चढ़ी सानन्द ।
देखे उसने उस समय, सुर-विमान सुखकन्द ॥

५५३. जाते हैं सुर-गण सभी, केवल ज्ञानी पास ।
उत्सव करने के लिए, मन में हर्षोल्लास ॥

५५४. नृप कन्या ने है किया उन्हें देख सुविचार ।
पहले भी ऐसा कहीं, देखा दृश्य उदार ॥

५५५. तब आई स्मृति-पटल पर, पूर्व-जन्म की बात ।
मूच्छित होकर गिर पड़ी, धरती पर साक्षात् ॥

५५६. सखियों ने तत्क्षण किया, जब उसका उपचार ।
तब आई वह होश में, करने लगी विचार ॥

५५७. थे ललितांग सुनाम के, सुर मेरे पति-राज ।
वे च्यव करके स्वर्ग से, कहां गये हैं आज ॥

५५८. मुझे न इसका ज्ञान है, यह है दुख की बात ।
वे ही मेरे चित्त में, बैठे हैं साक्षात् ॥

५५९. कर सकती यदि मैं नहीं, उनसे वार्तालाप ।
तो औरों के साथ है, करना व्यर्थ प्रलाप ॥

५६० यों चिन्तन कर मौनव्रत, ग्रहण किया तत्काल ।
सखियों ने समझा उसे, देव-कोप विकराल ॥

५६१. मन्त्र-तन्त्र इत्यादि से, बहुत किये उपचार ।
पर, वे कानन-रुदन सम, हुए सभी बेकार ॥

५६२. कुछ कहना होता अगर, जब होता निज काम ।
लिखकर या संकेत से, बतलाती अविराम ॥

५६३. गई एक दिन श्रीमती, वन में प्रातःकाल ।
पूछ रही है पंडिता-दाई तब तत्काल ॥

५६४. हे नृप पुत्री ! तू मुझे, है प्रिय प्राण समान ।
और मुझे तू समझना, अपनी माँ उपमान ॥

५६५. किस कारण तू ने किया, मौन व्रत स्वीकार ।
वह कारण बतला मुझे, तज शंका का द्वार ॥

५६६. और बनाकर तू मुझे, दुख में भागीदार ।
हल्का करले शीघ्र तू, अपने दुख का भार ॥

५६७. तेरा दुख झट दूर हो, वही करूंगी कार[1] ।
किन्तु रोग जाने विना, हो न सके उपचार ॥

५६८. तब नृप पुत्री ने कही, पूर्व-जन्म की बात ।
जैसे कहता शिष्यवर, सद्गुरु से साक्षात् ॥

५६९. सुनकर दाई पंडिता, बातें बहुत विशाल ।
चित्रित कर पट पर उन्हें, विदा हुई तत्काल ॥

५७०. वज्रसेन चक्रीश की वर्ष-गांठ आसन्न ।
उसे मनाने के लिए, जनता परम प्रसन्न ॥

५७१. अतः वहां पर आ रहे, राजा राजकुमार ।
राजमार्ग पर है खड़ी, दाई बुद्धि अपार ॥

५७२. दिखलाती है चित्रपट, सब लोगों को तत्र ।
देख रहे हैं लोग वे, होकर सब एकत्र ॥

५७३. उनमें जो शास्त्रज्ञ हैं, वे आगम अनुसार ।
वर नन्दीश्वर द्वीप की, स्तुति करते साकार ॥

५७४. अर्हत् प्रभु के विम्ब का, करते वर्णन रम्य ।
जो हैं उस पट चित्र में, चित्रित स्तुत्य सुरम्य ॥

५७५. चित्र कला का कर रहे, मानव कई बखान ।
और कई नर कर रहे, रंगों का संगान ॥

---

१. कार्य

५७६. इतने में आया वहां दुर्दर्शन नृप-पूत ।
है दुर्दान्त नितान्त वह, कपट-पूर्ण आकूत ।।

५७७. वह कुछ क्षण पट देखकर, धरती पर तत्काल ।
मूर्च्छित होकर गिर पड़ा, कपटी-कपट विशाल ।।

५७८. धीरे-धीरे वह उठा, जब कुछ आया होश ।
लोग पूछते क्यों हुआ, निष्कारण वेहोश ।।

५७९. वह नाटक कर कपट का, सुना रहा निज हाल ।
इस पट पर जो है किया, चित्रित चित्र विशाल ।।

५८०. उसे देख गत-जन्म का मुझे हुआ है ज्ञान ।
यह मैं हूँ ललितांग सुर, यह मेरा है स्थान ।।

५८१. स्वयंप्रभा मेरी प्रिया, है यह देवी ख्यात ।
ऐसे बतलाई सभी, जो थी चित्रित बात ।।

५८२. पट पर चित्रित संत का, जब पूछा है नाम ।
तब बोला वह नाम की, विस्मृति हुई प्रकाम ।।

५८३. यह मायावी आदमी, लगता है वाचाल ।
दाई ऐसा समझकर, बोल उठी तत्काल ।।

५८४. है यह तेरे कथन से, तव गत-भव की बात ।
तू है सुर ललितांग का, जीव स्वयं साक्षात् ।।

५८५. स्वयंप्रभा यह तव प्रिया, कर्म दोष के योग ।
जन्मी नन्दी-ग्राम में,है वह पंगु सरोग ।।

५८६. उसको निःसंशय हुआ, पूर्व जन्म का ज्ञान ।
इस पट पर उसने किया, (वह) चित्रित चित्र महान ।।

५८७. गई धातकी खंड में, जब मैं चढ़कर यान ।
तब उसने मुझको किया. यह पट चित्र प्रदान ।।

५८८. आई है इस पंगु पर, मुझे दया अनपार ।
ढूंढ निकाला है तुझे. मैंने मति अनुसार ।।

५८९. शीघ्रघातकी, खण्ड में, अब चले उसके पास ।
पहुंचा दूंगी मैं तुझे, रखना दृढ़ विश्वास ।।

५९०. वह तेरे बिन है दुखी, जल बिन जैसे मीन ।
आश्वासन दे तू उसे, वह है दुखिया दीन ।।

५९१. यह कहकर जब पंडिता, मौन हुई तत्काल ।
करते हैं दुर्दान्त के, मित्र मजाक विशाल ।।

५९२. मित्र ! मिली स्त्री-रत्न है, तुमको पुण्य-प्रसाद ।
जाकर उससे झट मिलो, करती है वह याद ।।

५९३. मित्रों के परिहास से, लज्जित हो दुर्दान्त ।
चला गया निज स्थान में, होकर खिन्न नितान्त ।।

वज्रजंघ को जातिस्मरण

५९४. लोहार्गल पुर से वहां, स्वल्प समय के बाद ।
वज्रजंघ सुकुमार भी, आया पुण्य-प्रसाद ।।

५९५. पट पर चित्रित चरित को, देखा नयन प्रसार ।
मूर्च्छित होकर गिर पड़ा, तत्क्षण राजकुमार ।।

५९६. करने से उपचार फिर, आया होश उदार ।
दिल में अंकित हो गया, चारु चित्र साकार ।।

५९७. आया हो सुरलोक से, मानों वह तत्काल ।
हुआ जाति-स्मृति ज्ञान तब, देखा गत-भव हाल ।।

५९८. तब बोली वह पंडिता, दाई राजकुमार ।
क्यों सहसा मूर्च्छित हुए, कर पट साक्षात्कार ।।

५९९. वज्रजंघ ने तब कहा, इस पट पर जो चित्र ।
है मेरे गत-जन्म का, वर्णन बड़ा विचित्र ।।

६००. देवलोक ईशान यह, श्रीप्रभ यही विमान ।
यह मैं हूं ललितांग सुर, संचित पुण्य-निधान ।।

६०१. स्वयंप्रभा मेरी प्रिया, है यह प्राण समान ।
जन्मी नन्दीग्राम में, अनामिका अभिधान ।।

६०२. मुझ में रत उसने किया, अनशन तप प्रारम्भ ।
उसे कराने आ गया, आत्म-दर्श निर्दम्भ ।।

६०३. फिर मरकर वह इस जगह, स्वयं प्रभा अभिधान ।
प्राण-प्रिया मेरी हुई, देवी देव-विमान ।।

६०४. देव-आयु को पूर्ण कर, मैं आया नृप-गेह ।
स्वयं प्रभा भी स्वर्ग से, आई निस्सन्देह ।।

६०५. गत-भव की मेरी प्रिया, उसका यहीं निवास ।
और जाति-स्मृति से किया, उसने चित्र प्रयास ।।

६०६. वज्रजंघ ने जो कही, बातें अनुभव-गम्य ।
कहा पंडिता ने तदा, हैं ये सत्य सुरम्य ।।

६०७. फिर आई है पंडिता, शीघ्र श्रीमती पास ।
उसे कही विस्तार से, बातें सब सोल्लास ।।

६०८. सुनकर पति का हाल वह, मुदित हुई साक्षात् ।
और तात को भी त्वरित, ज्ञापित की पति-बात ।।

६०९. वज्रसेन नृप भी हुआ, सुनकर हर्ष-विभोर ।
घन का गर्जन श्रवण कर, क्या न नाचते मोर ।।

६१०. वज्रसेन ने कहा बुलाकर, वज्रजंघ को अपने पास ।
गत-भववत् यह मेरी पुत्री, तेरी बने प्रिया सोल्लास ।।

वज्रजंघ का व्याह हुआ है, सुभग श्रीमती कन्या साथ ।
चन्द्र चांदनी सम रहते हैं, दोनों सदा मिलाकर हाथ ।।

६११. लोहार्गल पुर में गए, पाकर नृप आदेश ।
स्वर्णजंघ ने पुत्र को, राज्य दिया विन क्लेश ।।

६१२. वज्रसेन नृप का इधर, सुत है पुष्करपाल ।
योग्य समझकर है दिया, उसे राज्य तत्काल ।।

६१३. वज्रसेन चक्रीश अब, लेकर संयम-भार ।
हुए तीर्थंकर तीर्थ-पति, त्रिभुवन-तारणहार ।।

६१४. वज्रजंघ अब कर रहा, न्याय नीति से राज्य ।
और प्रिया के साथ वह, भोग रहा सुख प्राज्य ।।

६१५. कालान्तर में अब हुआ, पुत्र रत्न का योग ।
मिलता पुण्य-प्रसाद से, वांछित सुख-संयोग ।।

६१६. इधर महा-क्रोधी नृपति, सीमा के सामन्त ।
करते पुष्करपाल का, वे विरोध अत्यन्त ।।

६१७. तत्क्षण पुष्करपाल ने, वज्रजंघ के पास ।
दूत भेज करके उसे, कहलाया सोल्लास ।।

६१८. "जल्दी करो सहायता, आकर मेरी आप ।
सीमा के सामंत का, दूर करो संताप ।।

६१९. दूत वचन सुनकर हुआ, वज्रजंघ तैयार ।
प्राण-प्रिया भी साथ है, दुख-सुख में हरबार ।।

६२०. आधे रास्ते पहुँच चुके थे, अब शरवण वन आया है ।
अमारात्रि में चन्द्र-चन्द्रिका, जैसा भ्रम मन छाया है ।।
पथिक जनों ने कहा, यहां पर, सर्प-दृष्टि विष-धारी है ।
देख उन्हें भय से पीड़ित हो, नर न इधर पथचारी है ।।

६२१. अतः छोड़कर उस रास्ते को, पंथ दूसरा अपनाया ।
पुंडरीक सम पुंडरीकिणी नगरी में वह है आया ।।
उसके बल से हुए विरोधी, राजा पुष्कर के अनुकूल ।
पुष्कर नृप अब वज्रजंघ की, कैसे उपकृति जाये भूल ।।

६२२. कालान्तर में पुष्कर नृप की, अनुमति लेकर शीघ्र सहर्ष ।
वज्रजंघ नृप चला वहां से, साथ श्रीमती है आदर्श ।।
जब आया है शीघ्र कांस वन, तब पथ-दर्शक नर बोला ।
दो मुनियों ने केवल ज्ञानावृत्ति का पर्दा है खोला ।।

६२३. सुरगण आने से हुआ, चारों ओर प्रकाश ।
हुआ दृष्टि-विष अहि अतः, निर्विष विना प्रयास ॥

६२४. अब्धिसेन मुनिसेन ये, दोनों मुनि सहजात ।
सूर्य चन्द्र सम स्थित यहां, उपकारी विख्यात ॥

६२५. यों सुनकर नृप ने वहीं, वन में किया निवास ।
ज्यों सागर में विष्णु ने, किया मुदित-मन वास ॥

६२६. सुर-नर की परिषद वहां, बैठी है मुनि पास ।
एक-चित्त सब सुन रहे, मुनि-वाणी सोल्लास ॥

६२७. भक्ति-भाव से नत नृपति, महिषी सुन्दर वेष ।
विधिवत् वन्दन कर वहां, श्रवण किया उपदेश ॥

६२८. अन्न सलिल वस्त्रादि का, देकर मुनि को दान ।
समझ रहा निज को धरा-पति कृत-कृत्य महान् ॥

६२९. इन मुनियों को धन्य है, त्याग मूर्ति साकार ।
वीतराग ममता-रहित, समता के भण्डार ॥

६३०. मैं भी अब निज तात का, पंथ करू स्वीकार ।
दीक्षा दुःख-विनाशिनी, कर लूं अंगीकार ॥

६३१. जाकर जल्दी नगर में, दूंगा सुत को राज्य ।
शीघ्र बनूंगा तात का, मैं अनुगामी प्राज्य ॥

६३२. लोहार्गल निज नगर में, आया पत्नी साथ ।
चाह रहे हैं दम्पती, दीक्षा हाथों-हाथ ॥

वज्रजंघ की पुत्र द्वारा हत्या

६३३. राज्य-लुब्ध नृप-पुत्र ने, देकर अर्थ अपार ।
मन्त्री मण्डल को किया, निज कर में साकार ॥

६३४. क्या-क्या होता है नहीं, पैसे से अन्याय ।
तात न समझे तात को, लोभी बेटा हाय ! ॥

६३५. वज्रजंघ औ श्रीमती, दोनों ने तत्काल ।
"सुत को देना राज्य है, उठकर प्रातःकाल ।।"

६३६. यों विचार कर सो गए, वे दोनों निष्पाप ।
दीक्षा लेना है हमें, तजकर राज्य अमाप ।।

६३७. सुख-शय्या पर सो रहे, दोनों भाव पुनीत ।
उनकी हत्या के लिए, हुआ न सुत भयभीत ।।

६३८. राज-पुत्र ने है किया, महलों में विष-धूप ।
नृप-रानी के नाक में, घुंआ घुसा विष रूप ।।

६३९. प्राण-पखेरू उड़ गये, दोनों के तत्काल ।
स्वार्थी इस संसार का, है ऐसा ही हाल ।।

सातवां भव : युगलिया

३४०. वज्रजंघ और श्रीमती, इन दोनों के जीव ।
वर उत्तर-कुरु क्षेत्र में, पैदा हुए सजीव ।।

६४१. हुए युगलिया रूप में, पुण्य-प्रकृति आधार ।
होती है गति एक ही, जिनके तुल्य विचार ।।

आठवां भव : सौधर्म देवलोक में देव

६४२. तद्भव के आयुष्य का, करके पूरण भोग ।
हुए स्वर्ग सौधर्म में, देव समृद्धि सुयोग ।।

नवम भव : जीवानन्द वैद्य

६४३. देव आयु को पूर्णकर, वज्रजंघ का जीव ।
च्यव कर क्षेत्र विदेह में, आया पुण्य अतीव ।।

६४४. क्षिति प्रतिष्ठित नगर में, वैद्य सुविधि अभिधान ।
उसके घर सुत रूप में, जन्मा लक्षणवान ।।

६४५. मात-पिता ने है किया, उत्सव हर्ष अमन्द ।
सब की सम्मति से रखी, संज्ञा जीवानन्द ।।

६४६. उस दिन उस पुर में हुए, पैदा बालक चार ।
मानों वे है धर्म के, चार अङ्ग साकार ।।

६४७. पिता नृपति ईशान है, कनकवती है मात ।
हुआ महीधर नाम का, पुत्र प्रथम विख्यात ।।

६४८. सुनासीर मन्त्रीश की, लक्ष्मी स्त्री तनुजात ।
सुत सुबुद्धि अभिधान है, हुआ दूसरा ख्यात ।।

६४९. श्रेष्ठी सागरदत्त है, अभयमती स्त्री जात ।
पूर्णभद्र सुत तीसरा, जग-तल में विख्यात ।।

६५०. चौथा है धन सेठ घर, शीलवती से जात ।
पुत्र गुणाकर नाम का, गुण आकर प्रख्यात ।।

६५१. चारों बालक बढ़ रहे, ज्यों जल से तरु-गात ।
एक साथ सब खेलते, पढ़ते हैं दिन रात ।।

६५२. देवलोक से श्रीमती, देव-आयु को भोग ।
श्रेष्ठी ईश्वरदत्त घर, केशव पुत्र निरोग ।।

६५३. मित्र छहों हैं एक मन, केवल भिन्न शरीर ।
पंचेन्द्रिय मन की तरह, सहयोगी गम्भीर ।।

६५४. उनमें से जो सुविधि वैद्य का, सुत है जीवानन्द अमन्द ।
आयुर्वेदिक बना वैद्य वह, लेकर सत् शिक्षा सानन्द ।।
गज-गण में जैसे ऐरावत, और ग्रहों में सूर्य महान ।
वैसे सब वैद्यों में ज्ञानी, हुआ अग्रणी वह मतिमान ।।

मुनि की चिकित्सा

६५५. मित्र छहों वे बन्धुवत्, रखते हैं अपनत्व ।
एक दूसरे के यहां, जाते तज भिन्नत्व ।।

६५६. आये जीवानन्द-घर, एक दिवस मुनिराज।
वे नृप पृथ्वीपाल के, सुत थे नर-गण ताज ॥

६५७. नाम गुणाकर गुण-धनी, घोर तपस्वी शान्त।
उनका तन कृमि-कुष्ट से, पीड़ित था एकान्त ॥

६५८. मित्र महीधर ने कहा, उन्हें देख तत्काल।
सुन रे जीवानन्द! तू, देख संत का हाल ॥

६५९. औषधज्ञ रोगज्ञ तू कुशल, चिकित्सा-कार।
किन्तु दया दिल में नहीं, है यह सच साकार ॥

६६०. अर्थ बिना करती नहीं, जैसे वैश्या प्यार।
त्यों तुम निर्धन रुग्ण का, कब करते उपचार ॥

६६१. नर को केवल लोभ ही, रखना नहीं प्रशस्त।
कुछ अपना कर्तव्य भी, सोचें समझें स्वस्थ ॥

६६२. अरे! तुम्हारे ज्ञान को, लाख वार धिक्कार।
ऐसे त्यागी संत का, किया नहीं उपचार ॥

६६३. यों सुन जीवानन्द ने, कहा ठीक है बात।
याद दिलाई जो मुझे, धन्यवाद साक्षात् ॥

६६४. इन मुनिवर का मैं करूं, निष्कारण उपचार।
यह मेरा कर्त्तव्य है, सेवा-धर्म उदार ॥

६६५. किन्तु तीन हो वस्तु तब, हो निरोग मुनि आर्य।
सामग्री की पूर्णता, होती है अनिवार्य ॥

६६६. हो चन्दन गोशीर्ष सुगन्धित एक रत्न कम्बल भारी।
और तेल हो लक्षपाक तो, हो उपचर्या सुखकारी ॥
एक तेल के सिवा नहीं है, दोनों चीजें मेरे पास।
वे चीजें यदि तुम ले आओ, हो इलाज यह दृढ़ विश्वास ॥

६६७. मित्र गये तब पांचों मिलकर, बूढ़े व्यापारी के पास।
बिन कीमत उस व्यापारी ने, दी दोनों चीजें सोल्लास ॥
उन तीनों चीजों से मुनि का, देह हुआ कंचन उपमान।
विहरण करते करते अब वे, पहुँच गये हैं इच्छित स्थान ॥

६६८. उन षट् मित्रों ने लिया, संयम सुख-भण्डार।
ग्राम नगर में कर रहे, वे नव-कल्प विहार ।।

६६९. वर तप-रूप खराद से, करते हैं दिन-रात ।
श्रेष्ठ चरितमय रत्न को, अति उज्ज्वल साक्षात् ।।

६७०. भ्रमरवृत्ति के योग से, लेते भिक्षा शुद्ध ।
रखते हैं आहार में, समता-भाव विशुद्ध ।।

६७१. सहते हैं संकट सभी, धारण करके धैर्य ।
घोर तपस्या से कभी, चलित न होता स्थैर्य ।।

६७२. अन्त समय संलेखना, तजकर देहाध्यास ।
आजीवन अनशन किया, कर समता में वास ।।

दशवाँ भव : अच्युत देवलोक में, सामानिक देव

६७३. अच्युत कल्प विमान में, तजकर मानव गात ।
हुए शक्र के वे छहों, सामानिक साक्षात् ।।

६७४. देव लोक की आयू का, आया है अवसान ।
मुक्ति विना इस जीव का, है न कहीं स्थिर स्थान ।।

ग्यारहवाँ भव : वज्रनाभ चक्रवार्ती

६७५. सुन्दर पूर्व विदेह में, विजय पुष्कला[1] ख्यात ।
पुण्डरीकिणी नाम की, है नगरी विख्यात ।।

६७६. वज्रसेन राजा वहां, प्रिया धारणी धीर ।
उनमें से क्रमशः हुए, पुत्र पांच जगवीर ।।

६७७. उनमें जीवानन्द का, जीव हुआ धुर पुत्र ।
सूचित चौदह स्वप्न से, वज्रनाभ[2] सत्पुत्र ।।

---

१. पुष्कलावती २. ऋषभनाथ प्रभु का जीव

६७८. जीव महीधर का हुआ, वाहु[1] दूसरा पूत ।
मन्त्रीपुत्र सुबुद्धि जो, हुआ सुबाहु[2]सुपूत ।।

६७९. पूर्णभद्र का जीव जो, था श्रेष्ठी का पुत्र ।
पीठ[3] नाम से वह हुआ, चौथा पुत्र सुपुत्र ।।

६८०. सार्थवाह का पुत्र जो, पूर्णभद्र अभिधान ।
महापीठ[4] वह पांचवां, पुत्र हुआ मतिमान ।।

६८१. केशव का जो जीव था, हुआ अन्य नृप पुत्र ।
वह सुयशा अभिधान से, हुआ ख्यात सत्पुत्र ।।

६८२. क्रमशः होते हैं बड़े, पांचो राजकुमार ।
छठा मित्र सुयशा सुखद है साथी हरवार ।।

६८३. घोड़े दौड़ाते सदा, वे सब राजकुमार ।
सूर्य पुत्र सम कर रहे, क्रीड़ा हर्ष अपार ।।

६८४. कलाभ्यास में थे कला, गुरुवर साक्षी मात्र ।
पैदा होते गुण स्वयं, यदि हो उत्तम पात्र ।।

६८५. वज्रसेन नृप से लोकांतिक, देवों ने आकर तत्काल ।
सविनय अनुनय किया प्रभो! अब, करो तीर्थ प्रारंभ विशाल ।।
वज्रसेन के वज्रनाभ जो सुत था, वज्र समान बली ।
किया समर्पित उसको नृप-पद, उत्सव करके गली-गली ।।

६८६. एक वर्ष तक दान दिया है, लोग हुए हैं सब संतृप्त ।
मेघ बरस कर कर देता है, जैसे धरणी-तल को तृप्त ।।
वज्रसेन का निर्गमनोत्सव, सुर-नर ने मिल किया सहर्ष ।
स्वयं ग्रहण की है फिर दीक्षा, विशद भावना है उत्कर्ष ।।

६८७. तत्क्षण उनको ज्ञान हुआ है, जो है चौथा विपुल मति ।
आत्म-ध्यान-रत प्रभु चरणों में, जनता करती है प्रणति ।।
उधर नृपति श्री वज्रनाभ ने, हर भाई को राज्य दिये ।
चारों बान्धव रहते तत्पर, उसकी सेवा-कार्य लिए ।।

---

१. भरत चक्री का जीव २. बाहुबली का जीव ३. ब्राह्मी का जीव

६८८ वज्रसेन भगवान हुए हैं, तीर्थंकर केवल ज्ञानी ।
उनके चेतन दर्पण-तल में, प्रतिबिम्बित जग-जड़ प्राणी ।।
उसी समय नृप वज्रनाभ की, आयुधशाला में साक्षात् ।
चक्र रत्न ने किया प्रवेशन, तेरह[1] और मिले अवदात ।।

६८९. सकल पुष्कलावती विजय में, विजय ध्वजा फहराई है ।
सब राजाओं ने चक्री की, पदवी प्रकट बताई है ।।
धर्म-बुद्धि भी चक्रीश्वर की, प्रतिदिन बढ़ती जाती है ।
और भोग से विरति भावना, द्विगुणित होती जाती है ।।

वज्रसेन भगवान् का आगमन

६९०. त्रिभुवन तारक तीर्थंकर प्रभु, वज्रसेन भगवान महान् ।
विहरण करते हुए वहां पर, आये करने जन-कल्याण ।।
समवसरण में चैत्य वृक्ष के, नीचे होकर प्रभु आसीन ।
पापनाशिनी धर्म-देशना, की सुरसरिता वही नवीन ।।

६९१. सुनकर प्रभुवर का शुभ आगम, वज्रनाभ नरपति तत्काल ।
प्रभु के चरणों में आया है, लेकर निज परिवार विशाल ।।
अर्हद् प्रभुवर को वन्दन कर, बद्धांजलि बैठा सह हर्ष ।
एक-मना चिन्तन करता है, अर्हद्वाणी है आदर्श ।।

६९२. है दुस्तर संसार उदधि यह, तारक त्रिभुवनपति ये तात ।
अंधकार है मोह सघन यह, दिनपति ये जिन-पति साक्षात् ।।
और भयंकर कर्म-रोग यह, चतुर भिषग् हैं ये भगवान ।
ऐसे स्वामी मिलने पर भी, मैं न बना धार्मिक अम्लान ।।

६९३. चक्रीश्वर अब धर्म चक्रवर, प्रभु से अनुनय करता है ।
विषयों में लोलुप यह आत्मा, दुख सागर में गिरता है ।।
पुत्र आपका होकर यदि मैं, रहूं भटकता भव-वन में ।
तो फिर क्या है अन्तर मेरे, और अपर के जीवन में ।।

---

१. तेरह रत्न और भी मिले ।

६९४. किया राज्य का पालन मैंने, जो कि आपने किया प्रदान ।
प्रभु ! दो दीक्षा-राज्य मुझे, अब एक यही है मेरा ध्यान ।।
वंश-गगन-रवि वज्रजंघ ने, देकर सुत को राज्य सहर्ष ।
ग्रहण किया है संयम प्रभु से, भव्य-भावना है उत्कर्ष ।।

६९५. बाहु आदि सब बन्धुजनों ने, भी वह पथ स्वीकार किया ।
धर्म-सारथी प्रभु से सुयशा, ने भी संयम-भार लिया ।।
वज्रनाभ मुनि स्वल्प समय में, बारह अंगों के ज्ञाता ।
बाहु आदि मुनि गण भी ग्यारह, अंग-शास्त्र के विज्ञाता ।।

६९६. यद्यपि वे सन्तोष-धनी थे, फिर भी था संतोष नहीं ।
प्रभु-सेवा से तपश्चरण से, मन को मिलता तोष नहीं ।।
शुक्ल-ध्यान-रत वज्रसेन ने, प्राप्त किया है पद निर्वाण ।
मुदित-मना सुरगण ने मिलकर, निर्वाणोत्सव किया महान् ।।

६९७. धर्म-बन्धुवर वज्रनाभ मुनि, सह-दीक्षित मुनियों के साथ ।
पृथ्वी-तल पर विहरण करने, लगे अनाथों के हैं नाथ ।।
चन्द्र-चन्द्रिका से गिरिगण में, ज्यों भेषज का प्रादुर्भाव ।
उन मुनियों को हुई लब्धियां प्राप्त, योग का सहज प्रभाव ।।

सत्ताईस लब्धियां

खेलोसहि लब्धि

६९८. होता जिसके थूक से, कोढ़ रोग का नाश ।
खेलोसहि वह लब्धि है, तप का फलित विकास ।।

जल्लोसहि लब्धि

६९९. होते तन के मैल से, रोगी-रोग विनष्ट ।
जल्लोसहि वह लब्धि है, योगी-जन की स्पष्ट ।।

आमोसहि लब्धि

७००. योगी के तन-स्पर्श से, होते रोग विनाश ।
आमोसहि वह लब्धि है, तप से बिना प्रयास ।।

सव्वोसहि लब्धि

७०१. जिनके तन के स्पर्श से, विष हो सुधा समान ।
वह सव्वोसहि लब्धि है, यह आगम-व्याख्यान ।।

अणुत्व शक्ति

७०२. धागेवत् निजदेह को, सुई छेद के द्वार ।
जो अणुत्व की शक्ति से, ले निकाल अविकार ।।

महत्त्व शक्ति

७०३. जो महत्त्व की शक्ति से, अपना तन तत्काल ।
ऊंचा अधिक बना सके, मानो मेरु विशाल ।।

लघुत्व शक्ति

७०४. जो लघुत्व की शक्ति से, योगी अपना गात्र ।
हलका अधिक बना सके, है यह शक्ति अमात्र ।।

गुरुत्व शक्ति

७०५. जो गुरुत्व की शक्ति से, निज तन वज्र समान ।
भारी अधिक बना सके, है यह चित्र महान ।।

प्राप्ति शक्ति

७०६. पृथ्वी पर रहते हुए, मेरु शिखर का स्पर्श ।
प्राप्ति शक्ति के योग से, कर लेता सह हर्ष ।।

प्राकाम्य शक्ति

७०७. जल में पृथ्वी की तरह, भू में सलिल समान ।
चलता है जिस शक्ति से, है प्राकाम्य विधान ।।

ईशत्व शक्ति

७०८. शक्र और चक्रीश को, संपद् का विस्तार ।
करता है जिस शक्ति से, वह ईशत्व उदार ।।

वशित्व शक्ति

७०९. क्रूर प्राणियों को करे, जो अपने आधीन ।
वह वशित्व की शक्ति है, कहते संत प्रवीण ।।

अप्रतिघाती शक्ति

७१०. पर्वत में से छिद्रवत्, जो निकले बेरोक ।
अप्रतिघाती शक्ति वह, आगम में अवलोक ।।

अप्रतिहत अन्तर्ध्यान शक्ति

७११. रूप अदृश्य बना सके, पवन भांति सर्वत्र ।
है वह अन्तर्ध्यान का, बल अप्रतिहत अत्र ।।

काम-रूपत्व शक्ति

७१२. एक समय में लोक को, विविध रूप से व्याप्त ।
काम-रूपता की यही, चित्र ! शक्ति पर्याप्त ।।

बीज बुद्धि

७१३. एक अर्थ के ज्ञान से, बहु अर्थों का ज्ञान ।
होता है जिस शक्ति से, (वह) बीज बुद्धि पहचान ।।

कोष्ठ बुद्धि

७१४. कोठे में स्थित धान्यवत्, सुना हुआ जो अर्थ ।
स्मरण विना तद्वत् रहे, कोष्ठ बुद्धि से अर्थ ।।

पदानुसारिणी लब्धि

७१५. जिससे सुनकर एक पद, पूर्ण ग्रन्थ का बोध ।
है यह पद-अनुसारिणी, लब्धि शक्ति अवरोध ।।

मनोबली लब्धि

७१६. एक बात को जानकर, सकल शास्त्र अवगाह ।
मनोबली है लब्धि यह, इसकी शक्ति अथाह ।।

---

१. संख्या ५ से १५ की शक्तियां वैक्रिय लब्धियां है । यानि वैक्रिय लब्धि वालों में ये शक्तियां होती हैं । इन्हें सिद्धियां भी कहते हैं ।

वाग्वली लब्धि

७१७. मूलाक्षर के गुणन से, सकल शास्त्र का पाठ ।
वाग्वली है लब्धि यह, जिसकी शक्ति विराट ॥

कायबली लब्धि[1]

७१८. बहुत समय तक ध्यान में, प्रतिमावत् स्थिर स्थान ।
काय-लब्धि से रह सके, फिर भी हो न थकान ॥

अमृत क्षीरमध्वाज्याश्रवि लब्धि

७१९. इसकी वाणी श्रवण कर, दुख से पीड़ित लोग ।
अनुभव करते शान्ति का, यथा अमृत के योग ॥

अक्षीण महानसी लब्धि[2]

७२०. इससे होता पात्र-स्थित, अन्न न कभी समाप्त ।
कितना ही दे दान वह, होता है पर्याप्त ॥

अक्षीण महालय लब्धि

७२१. थोड़े से भी स्थान में, एतद् लब्धि प्रयोग ।
अर्हत् पर्षद् की तरह, समा सके वहुलोग ॥

संभिन्न श्रोत लब्धि[3]

७२२. एकेन्द्रिय से दूसरी-इन्द्रिय विषयक ज्ञान ।
कर लेती इस लब्धि से, हर इन्द्रिय विज्ञान ॥

जंघाचारण लब्धि

७२३. जम्बू नामक द्वीप से, जंघाचारण संत ।
एक कदम में जा सके, रुचक[4] द्वीप पर्यन्त ॥

---

१. १८, २०, २१, संख्यावाली लब्धियां वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होती है ।

२. यह शक्ति गौतम स्वामी को प्राप्त थी ।

३. इस लब्धिवाला सभी इन्द्रियों से सुन सकता है, या सभी इन्द्रियों के विषय को एक इन्द्रिय से जान सकता है ।

४. जम्बूद्वीप से तेरहवां द्वीप है ।

७२४. और लौटते समय वे, जंघाचारण सन्त ।
एक कदम में आठवें, नन्दीश्वर पर्यन्त ॥

७२५. और दूसरे कदम में, आजाते निज स्थान ।
जम्बू नामक द्वीप में, है यह शक्ति महान् ॥

७२६. यदि ऊपर की ओर जो, जाये कोई काम ।
एक कदम में जा सके, पांडुक वन अभिराम ॥

७२७. वापस आते रख कदम, नन्दन-वन-उद्यान ।
और दूसरे कदम में, आजाते निज स्थान ॥

विद्याचारण लब्धि

७२८. एक कदम में मानुषोत्तर पर्वत पर सन्त ।
और दूसरे कदम में, नन्दीश्वर पर्यन्त ॥

७२९. और तीसरे कदम में, वापस अपने स्थान ।
आ जाते जिस स्थान से, किया प्राग् प्रस्थान ॥

७३०. वज्रजंघ आदिक मुनियों के, पास लब्धियां थी सारी ।
और अन्य भी विविध तरह की, प्राप्त लब्धियां थी भारी ॥
प्राप्त लब्धियों का वे मुनिगण, करते थे उपयोग नहीं ।
कर-गत चीजों के प्रति भी मुनि, रहते निःस्पृह सदा सही ॥

७३१. संयम की चर्या-चर्या में, रहते सजग सन्त हरवार ।
आत्म-ध्यान में लीन निरंतर, करते कर्मों का संहार ॥
बीस स्थान का आराधन कर, वज्रनाभ मुनि ने तत्काल ।
वर तीर्थंकर गोत्र कर्म का, किया उपार्जन भाव विशाल ॥

बीस पद या स्थानक

१. अर्हद्-पद

७३२. अर्हत्-प्रभु का भाव से, पूजन कर सह-भक्ति ।
अर्हत्-पद-आराधना, करता धार्मिक व्यक्ति ॥

२. सिद्ध पद

७३३. सिद्धों की स्तवना करे, सिद्ध गुणों का ध्यान ।
सिद्ध-स्थान-आराधना, करता गुणी महान ॥

३. प्रवचन पद

७३४. शिशु रोगी मुनि की करे, अनुकम्पा अनवद्य ।
करता वह आराधना, प्रवचन-पद की सद्य ॥

४. आचार्य पद

७३५. अशन दवा वस्त्रादि से कर सद्गुरु की भक्ति ।
करता है आचार्य-पद, का आराधन व्यक्ति ॥

५. स्थविर पद

७३६. तीन तरह के स्थविर की, कर निष्कारण भक्ति ।
करता है आराधना, स्थविर-स्थान की व्यक्ति ॥

६. उपाध्याय पद

७३७. अन्नादिक देकर करें, ज्ञानवृद्ध की भक्ति ।
उपाध्याय-पद का करे, आराधन वह व्यक्ति ॥

७. साधु पद

७३८. घोर तपस्वी सन्त की, कर सेवानुष्ठान ।
शीघ्र साधु-पद का करे, आराधन इन्सान ॥

८. ज्ञान पद

७३९. करे सूत्र का अर्थ का, अनुचिन्तन दिन-रात ।
ज्ञान-स्थान का वह करे, आराधन साक्षात् ॥

९. दर्शन पद

७४०. वर्जन कर शंकादि का, स्थैर्यादिक गुणलीन ।
करता दर्शन-स्थान का, आराधन चिल्लीन ॥

१०. विनय पद

७४१. दर्शन ज्ञान चरित्र का, करके विनय प्रशस्त ।
विनय-स्थान आराधना, करता है नर स्वस्थ ॥

११. चरित्र पद

७४२. निरतिचार चारित्र में, करके यत्न महान् ।
चरित-स्थान आराधना, करता है गुणवान ।।

१२. ब्रह्मचर्य पद

७४३. मूलोत्तर गुण में करे, निरतिचार उद्योग ।
ब्रह्मचर्य पद का करे, आराधन नीरोग ।।

१३. समाधि पद

७४४. अप्रमत्त बनकर रहे, आत्म-ध्यान में लीन ।
वह समाधि-पद साधता, साधक गुणी प्रवीण ।।

१४. तप पद

७४५. सहता समता-भाव से, विविध तपस्या भार ।
तप-पद की आराधना, वह करता अविकार ।।

१५. दान पद

७४६. मन, वच, काय विशुद्धि से, देना मुनि को दान ।
दान-स्थान को साधना, करता मनुज महान ।।

१६. वैयावृत्य पद

७४७. आचार्यादिक की करे, अन्नादिक से भक्ति ।
करता है आराधना, इस पद[1] की वह व्यक्ति ।।

१७. संयम पद

७४८. विघ्न दूर कर संघ में, करता परम समाधि ।
करता संयम-स्थान का, आरावन निर्व्याधि ।।

१८. अभिनव ज्ञान पद

७४९. करता है सूत्रार्थ का, जो सयत्न आदान ।
करता वह आराधना, इस पद[2] की मतिमान ।।

---

१. वैयावृत्य पद की २. अभिनवज्ञान पद की

१९. श्रुत पद

७५०. श्रद्धा से श्रुत ज्ञान की, करता भक्ति महान् ।
करता वह आराधना, श्रुतपद की मतिमान् ॥

२०. तीर्थ पद

७५१. जिन शासन की जो करे, प्रभावना अनवद्य ।
करता वह आराधना, तीर्थ-स्थान की सद्य ॥

७५२. वीस पदों का कर आराधन, वज्रनाभ[1] मुनि ने तत्काल ।
किया तीर्थंकर नाम कर्म का, बंध पुण्य की प्रकृति विशाल ॥
संतों की सेवा कर बांधा, बाहु[2] संत ने पुण्य प्रकर्ष ।
चक्रीश्वर के भोग फलों को, देने वाला सुख उत्कर्ष ॥

७५३. घोर तपस्वी मुनियों की कर, मुनि सुवाहु[3] ने अति सेवा ।
किया उपार्जन लोकोत्तर फल, वाहु-शक्ति का वर मेवा ॥
वज्रनाभ मुनि बोले ये हैं, धन्यवाद के पात्र महान ।
संतों की सेवा इन मुनियों[4] ने, की है रख मन अम्लान ॥

७५४. महापीठ[5] औ पीठ[6] मुनि, सुन उनके गुणगान ।
सहन नहीं वे कर सके, ईर्ष्या रोग महान ॥

कभी न की आलोचना, दुष्कृत की गुरु पास ।
वाँध लिया स्त्री नाम का, कठिन कर्म का पाश ॥

७५५. उन षट् मुनियों ने किया, पालन संयम-भार ।
पूर्व चतुर्दश लाख तक, निरतिचार आचार ॥
पुनः उन्होंने है किया, अनशन दृढ़ परिणाम ।
त्याग किया है देह का, नहीं मोह का काम ॥

बारहवाँ भव : अनुत्तर विमान में देव

७५६. हुए छहों ही सन्त वे, सुर सागर तेतीस ।
दीर्घ आयु वाले सभी, भावी शिवपुर ईश ॥

---

१. ऋषभ प्रभु का जीव २. भरत चक्री का जीव ३. बाहुबली का जीव
४. बाहु और सुबाहु मुनि ५. सुन्दरी का जीव ६. ब्राह्मी का जीव

७५७. ऋषभ प्रभु के गत-भवों का और घृत के दान का ।
युगलियों का, कल्पतरु का, विविध-मत-संवाद का ॥
लब्धियों का विशद वर्णन, तीर्थंकर के बीस पद ।
सर्ग पहले में पढ़ें, यह चरित प्रभु का ज्ञान-प्रद ॥

सर्ग दूसरा

(पद्य ३३३)

सागरचन्द्र का वृत्तान्त

१. जम्बू नामक द्वीप में, पश्चिम महाविदेह ।
नगरी है अपराजिता, सुन्दर मन्दिर गेह ।।

२. चन्द्रोत्तर[1] ईशान है, पृथ्वी-पति बलवान ।
लक्ष्मी से वह ख्यात था, ईशानेन्द्र समान ।।

३. उसी शहर में सेठ था, जनप्रिय चन्दनदास ।
सुखदायी सबके लिए, था चन्दन संकाश ।।

४. सागरचन्द्र[2] सुपुत्र था, विनयवान गुणवान ।
प्रमुदित करता तात को, रखकर विनय महान ।।

५. था वह सरल स्वभाव से, धार्मिक प्रज्ञावान ।
अतः हुआ वह नगर का, मुखमण्डन मतिमान ।।

६. राजभवन में वह गया, एक दिवस नृप पास ।
राजा ने उसका किया, अत्यादर सोल्लास ।।

७. तब आया दरबार में, मंगल-पाठक एक ।
कहता है वह नृपति को, बद्धपाणि-सविवेक ।।

८. हे राजन् ! जो आपका, है सुन्दर उद्यान ।
ऋतु वसन्त से वह हुआ, रम्य मनोहर स्थान ।।

९. विकसित पुष्प पराग से, सुरभित दिशा विशेष ।
आप करें शोभित उसे, ज्यों नन्दन अमरेश ।।

१०. द्वारपाल को तब दिया, नरपति ने आदेश ।
जाएँ राजोद्यान में, जनता सुन्दर-वेष ।।

११. करो घोषणा शहर में, सज्जित हों सब लोग ।
करो वसन्तोत्सव सभी, सुन्दर है संयोग ।।

---

१. चन्द्र है उत्तर-आगे जिसके ईशानचन्द्र

२. प्रथम कुलकर विमलवाहन का जीव

१२. नृप ने सागरचन्द्र को, दिया पुनः आदेश ।
आना तुम भी बाग में, जब हो उदित दिनेश ।।

१३. नृप की आज्ञा प्राप्त कर, तत्क्षण सागरचन्द्र ।
आया अपने गेह में, मुदित-मना निस्तंद्र ।।

१४. उसने मित्र अशोक को, नृप-आज्ञा की बात ।
बतलाई दिल खोलकर, सरल-हृदय साक्षात् ।।

१५. दिवस दूसरे बाग में, सब परिवार समेत ।
गये भूप औ लोग भी, वस्त्र पहनकर श्वेत ।।

१६. आया सागरचन्द्र भी, है अशोक भी साथ ।
मलय पवन के साथ ज्यों, ऋतु वसन्त साक्षात् ।।

१७. रति-पति के साम्राज्य में, क्रीड़ाकारी लोग ।
पुष्पों को चुन, कर रहे, नृत्य-गान अभियोग ।।

१८. गायन-वादन ध्वनित था, चारों ओर सजोर ।
सकल दिशाओं में वहाँ, अधिक हो रहा शोर ।।

सागरचन्द्र की वीरता

१९. उसी समय तरु सुरभट में से, एक सुनाई दी आवाज ।
'करो करो झट मेरी रक्षा,'' बोल रही बाला निर्व्याज ।।
सुनते ही चन्दन-सुत सागर, आकर्षित उस तरफ हुआ ।
शीघ्र दौड़ता हुआ गया वह, पूछ रहा क्या बहिन ! हुआ ।।

२०. उसने देखा वहां भेड़िया, जैसे मृगी पकड़ता है ।
वैसे बदमाशों ने कन्या, पकड़ रखी, यह जड़ता है ।।
सागर ने बदमाश जनों के, कर से छुरी हरण कर ली ।
मानो गरदन मोड़ सर्प की, मणि उसने कर-गत कर ली ।।

२१. देख वीरता उसकी तत्क्षण, सारे भाग गये बदमाश ।
क्योंकि व्याघ्र भी आग देखकर, करता जाकर दूर निवास ।।
कन्या चिन्तन करती है यह, कौन पुरुष है उपकारी ।
आया मेरे भाग्य-योग्य से, अहो ! पुरुष यह हितकारी ।।

२२. मेरा तो हो पति यही, है रति-पति सा रूप ।
इसे छोड़कर दूसरा, पति चाहूँ न विरूप ।।

२३. प्यारी पुत्री पूर्ण[1] की, नाम दर्शना[2] ख्यात ।
यों चिन्तन करती हुई, गेह गई साक्षात् ।।

२४. मन-मन्दिर में दर्शना की, स्थापित कर मूर्ति ।
सागर[3] भी निज घर गया, कब हो इच्छा-पूर्ति ।।

२५. श्रेष्ठी चन्दनदास को, ज्ञात हुई जब बात ।
उसने सोचा उचित ही, कार्य हुआ साक्षात् ।।

२६. नलिनी करती मित्रता, राजहंस के साथ ।
अतः हुआ सम्बन्ध यह, दोनों का अवदात ।।

सागर के पिता का पुत्र को उपदेश

२७. सरल स्वभावी-जीव है, बेटा ! सागरचन्द ।
है अशोक जो मित्र यह, महाधूर्त मतिमन्द ।।

२८. इससे जो मैत्री हुई, हुआ बुरा यह काम ।
बुरे मनुज के संग से, होता बुरा प्रकाम ।।

२९. यों चिन्तन कर दे रहा, शिक्षा चन्दनदास ।
निज सुत सागरचन्द्र को, बिठला कर निज पास ।।

३०. यथा महावत द्विरद को, देता शिक्षा-दान ।
शिक्षा देता है तथा, प्रिय-भाषी मतिमान ।।

३१. हे सुत ! तुमने है किया, शास्त्रों का अभ्यास ।
कुशल लोक व्यवहार में, सबको है विश्वास ।।

३२. तो भी तुमसे कुछ कहूँ, है यह मेरी चाह ।
कला-कुशलता से करे, व्यापारी निर्वाह ।।

३३. अतः हमें तो चाहिए, रहना सौम्य स्वभाव ।
और मनोहर वेष में, व्यसनों से अलगाव ।।

---

१. पूर्णभद्र सेठ २. प्रियदर्शना ३. सागरदत्त

३४. प्रकटित भली न वीरता, इसे रखें हम गुप्त ।
फल पाता है नर तभी, गुप्त बीज जो उप्त ।।

३५. स्त्री का आवृत-देह ही, होता है उपयुक्त ।
और भोग, धन, दान, तप, रहे प्रदर्शन-मुक्त ।।

३६. कांचन कंकरण शोभता, नहीं ऊंट के पाद ।
शक्ति-प्रदर्शन वरिणक् का, है दुख की बुनियाद ।।

३७. उचित न करना गुरण प्रकट, जग में धन की भाँति ।
संग न करना दुष्ट का, कुमति सदैव अराति ।।

३८. तेरा मित्र अशोक यह, तुझे कोढ़ की भांति ।
दूषित कर देगा सही, नहीं रहेगी कान्ति ।।

३९. है यह वेश्या की तरह, मायावी मन म्लान ।
मन-वाणी औ कर्म में, इसके भेद महान् ।।

४०. सादर सुनकर तात की, सागर हित की बात ।
सोच रहा है भाग्य से, ऐसे मिलते तात ।।

४१. बोला नम्र स्वभाव से, सविनय सागरचन्द ।।
"पूज्य पिताजी ! आपकी, शिक्षा है सुख-कन्द ।।"

४२. सुत को चलना चाहिए, तात कथन-अनुसार ।
अतः चलूंगा आपका, देख इंगिताकार ।।

४३. होता है जिस काम से, गुरु-जन का अपमान ।
कभी न करना चाहिए, उसको मन में ठान ।।

४४. अनायास ऐसा कभी, आ पड़ता है कार्य ।
करना पड़ता है उसे, उसी समय अनिवार्य ।।

४५. फिर भी ऐसा काम अब, नहीं करूंगा तात ।
ताकि आपके चित्त में, हो न दुःख तिलमात ।।

४६. साथी मित्र अशोक के, लिए कही जो बात ।
वह झूठी है सर्वथा. सत्य नहीं साक्षात् ।।

४७. उसमें मुझे न दीखता, कोई कपटाचार ।
हो भी तो क्या कर सके, वह मेरा अपकार ॥

४८. कांच और मणि ये रहे, दोनों यदि एकत्र ।
कांच रहेगा कांच ही, औ मणि मणि सर्वत्र ॥

४९. कहा सेठ ने पुत्र तू, यद्यपि है धीमान ।
फिर भी देना ही मुझे, पड़ता है कुछ ज्ञान ॥

५०. पुत्र ! जानना कठिन है, पर के मन की बात ।
विश्वासी होता नहीं, हर कोई नर-जात ॥

५१. पुनः सेठ ने पुत्र के, भावों के अनुसार ।
शीघ्र किया प्रियदर्शना, से सम्बन्ध उदार ॥

५२. पूर्ण भद्र के चित्त में, उमड़ा हर्ष अपार ।
कैसे सागरचन्द्र का, भूल सके उपकार ॥

५३. शुभ मुहूर्त में मात पिता ने, चन्द्रोतर[1] सागर का व्याह ।
पूर्णभद्र की पुत्री[2] के सह, किया अमित मन में उत्साह ॥
प्रिय दुन्दुभि बजने से, जैसे होता है सबको आनन्द ।
मन-चाही शादी होने से, वधू और वर हैं सानन्द ॥

५४. सारस पक्षी सम बढ़ती है, दोनों की आपस में प्रीति ।
और चारु व्यवहार परस्पर, रखते धर्म-ध्यान की नीति ॥
निज उत्तरदायित्व दम्पती, अच्छी तरह समझते हैं ।
आजीवन सुख-दुख में साथी, सबसे हिलमिल रहते हैं ॥

अशोकदत्त की दुष्टता

५५. एक दूसरे पर सदा, था विश्वास सुरंग ।
किन्तु दुष्ट नर रंग में, कर देता है भंग ॥

५६. एक बार घर से गया, बाहर सागरचन्द ।
इतने में आया वहां, वह अशोक मतिमन्द ॥

---

१. सागरचन्द्र २. प्रियदर्शना

५७. कहता है प्रियदर्शने !, प्रतिदिन सागरचन्द्र ।
मिलता है धनदत्त की. नारी से सानन्द ।।

५८. क्या कारण है जो वहां, जाता है निर्भीक ।
बिन कारण आता नहीं, कोई नर नजदीक ।।

५९. तब बोली प्रियदर्शना, सहज सरल निष्पाप ।
इसका कारण पूछिये, स्वीय मित्र से आप ।।

६०. महाजनों के कार्य सब, रहते हैं अज्ञात ।
और उन्हें जो जानता, वह कब करता बात ।।

६१. तब अशोक ने फिर कहा, तेरे पति के भाव ।
जान रहा हूँ मैं स्वयं, किन्तु न कथ्य स्वभाव ।।

६२. तब बोली प्रियदर्शना, ऐसी क्या है बात ।
क्यों न उसे करते प्रकट, मैं जानूं साक्षात् ।।

६३. हे सुभ्रू ! जो अभिप्राय है, मेरा आज तुम्हारे साथ ।
उसका भी है अभिप्राय वह, उसके साथ, सही यह बात ।।
ऐसा कहा अशोकदत्त ने, किन्तु न उसका समझी अर्थ ।
मुझसे क्या है काम तुम्हें, बतलाओ होगा नहीं अनर्थ ।।

६४. हे सुभ्रू ! तव पति सिवा, किस मानव को आज ।
कहलाकर कामुक नहीं, पड़ता तुमसे काज ।।

६५. सुनकर दुष्ट अशोक की, वाणी जहर समान ।
सूई सम वह कान में, दुःखद हुई महान् ।।

६६. नत-मस्तक प्रियदर्शना, तब बोली तत्काल ।
अरे नराधम ! आ गया, अब तो तेरा काल ।।

६७. कैसे सोची बात यह, रे निर्लज्ज ! विमूढ़ ।
कैसे दुःसाहस किया, महामूर्ख मतिमूढ़ ।।

६८. मेरे पति को कर रहा, वृथा कलंकित आज ।
मित्र नहीं तू शत्रु है, धूर्तों का सिरताज ।।

६९. क्यों आया मेरे यहां. शीघ्र चला जा दूर ।
दुष्ट ! तुझे धिक्कार है, तू अभद्र भरपूर ।।

७० अपमानित होकर त्वरित. तस्कर सम चुपचाप ।
निकला दुष्ट अशोक तव, करता हुआ विलाप ।।

७१. उसको सागरचन्द्र ने, देखा बहुत उदास ।
तव पूछा उससे करो, मन की बात प्रकाश ।।

७२. तब अशोक ने है लिया, शीघ्र दीर्घ निःश्वास ।
मानो है वह अति दुखी, होता है आभास ।।

७३. रहे हिमालय के निकट, वह ठिठुरा साक्षात् ।
इस जगवासी के लिए, कहां सौख्य की बात ।।

७४. फिर भी फोड़े की तरह, जो कि उठा कुस्थान ।
नहीं गुप्त, औ, प्रकट भी, रख सकते तत्स्थान ।।

७५. मित्र ! आज मेरे लिए, है ऐसी ही बात ।
कपट रुदन करने लगा, करता आंसू-पात ।।

७६. तब विचार करने लगा, ऋजुमति सागरचन्द ।
आज मित्र के हृदय में, है असह्य दुख-कन्द ।।

७७. धुआं आग की सूचना, देता है तत्काल ।
इसके आंसू कर रहे, सूचित दुःख विशाल ।।

७८. गद्गद् स्वर में कह रहा, पर दुख-दुखी महान् ।
बन्धु ! बताओ दुःख का, हेतु स्वीयजन मान ।।

७९. देकर अपने दुःख का, मुझे भार तत्काल ।
अपने दुःख को कम करो, मैत्री-भाव विशाल ।।

८०. बोला दत्त अशोक तब, तुम हो मित्र अनन्य ।
तुमसे गुप्त न रख सकूं, चाहे बात जघन्य ।।

८१. मित्र स्वयं तुम जानते, नारी नरक-खदान ।
धर्म-विघातक कष्ट-कर, है विष-वेल समान ।।

८२. पूछा सागरचन्द्र ने, मित्र! कहो निर्व्याज।
किस नारी के जाल में, अरे! फँसे हो आज॥

८३ कर संकोच बनावटी, बोला दत्त अशोक।
तेरी नारी हो रही, विकृतमना बेरोक॥

८४. कहती रहती थी मुझे, वह तो अनुचित बात।
मित्र! उपेक्षित मैं रहा, सदा अवज्ञा साथ॥

८५. मैंने सोचा वह स्वयं, हो जाये चुपचाप।
किन्तु न दूर हुआ अभी, उसके मन का पाप॥

८६. बन्धु तुम्हारे घर गया, तुमसे मिलने आज।
तब उसने रोका मुझे, तजकर सारी लाज॥

८७. छूटा उसके बन्ध से, बहुत यत्न के बाद।
अभी वहीं से आ रहा, रखकर कुल-मर्याद॥

८८. मैंने सोचा मार्ग में, यह है वधू छिनाल।
मुझको छोड़ेगी नहीं, बहुत बनी विकराल॥

८९. अतः आत्म-हत्या मुझे, करना है चुपचाप।
पर, मरना भी है नहीं, समुचित कार्य-कलाप॥

९०. कारण, यह मेरे लिए, बोलेगी विपरीत।
पहले ही मैं मित्र को, बतला दूं निज गीत॥

९१. हे भाई! है दुःख का, कारण यह साक्षात्।
तू है मेरा मित्रवर, छिपा न सकता बात॥

९२. यह सुन सागरचन्द्र पर, हुआ वज्र-आघात।
मानों उसने पी लिया, हालाहल साक्षात्॥

९३. उस दिन से प्रियदर्शना, अप्रिय हुई महान।
अच्छी वह लगती नहीं, ज्वर में ज्यों पकवान॥

९४. कपटी-जन के संग से, होता बड़ा अनर्थ।
शीलवती प्रियदर्शना, हुई कलंकित व्यर्थ॥

९५. उसने सागरचन्द्र से, कुछ न कहा वृत्तान्त ।
मित्रों के मन में न हो, कटुता-भाव नितान्त ।।

९६. शीलवती प्रियदर्शना, सागर और अशोक ।
आयु पूर्ण कर वे गये, तीनों ही परलोक ।।

९७. जंवू नामक द्वीप है, दक्षिण भरत विशेष ।
गंगा-सरिता सिन्धु के, जो है मध्य प्रदेश ।।

९८. ऋजुमति सागरचन्द्र औ, प्रियदर्शना सुरूप ।
वहां हुए उत्पन्न [1] हैं, युगल जनों के रूप ।।

कालचक्र-षट् पर्वों का वर्णन

९९. भरतैरावत क्षेत्र में, काल-चक्र के योग ।
होता ह्रास, विकास है, कहते ज्ञानी लोग ।।

१००. पहिया होता काल का, जव नीचे की ओर ।
तव होती ह्रासोन्मुखी, संस्कृति सव ही ठौर ।।

१०१. पहिया होता काल का, जव ऊपर की ओर ।
तव विकास का द्वार भी, खुलता है सव ठौर ।।

१०२. कहलाती अवसर्पिणी, जव होता है ह्रास ।
जव होती उत्सर्पिणी, तव सव ओर विकास ।।

१०३. होते हैं अवसर्पिणी, के षट् पर्व विशाल ।
कोटा-कोटि दशाब्धि का, होता उनका काल ।।

१०४. होते हैं उत्सर्पिणी, के षट् अर विख्यात ।
कोटा-कोटि दशाब्धि के, वे होते साक्षात् ।।

१०५. कोटाकोटि नवाब्धि के, होते पहले तीन ।
चार, तीन, दो अब्धि के, वतला रहे प्रवीण ।।

---

१. इस अवसर्पिणी के तीसरे अर में पल्योपम का आठवां भाग वाकी रहा था तव युगलिया रूप में उत्पन्न हुए ।

१०६. दो-चालीस सहस्र कम, कोटा-कोटि प्रमाण ।
होता चौथा पर्व है, बतलाते विद्वान ।।

१०७. है इक्कीस हजार का, पर्व पाँचवा स्पष्ट ।
है उतने ही वर्ष का, छठा पर्व अति कष्ट ।।

१०८. जिस प्रकार अवसर्पिणी, के पर्वों का हाल ।
होता है प्रतिलोम के, क्रम से उन्नति[1] काल ।।

पहला पर्व सुषम-सुषमा

१०६. प्रथम पर्व के समय में, भूमि स्निग्ध महान ।
वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श का, सुन्दर रूप विधान ।।

११०. चीनी से भी धूल में, थी अत्यन्त मिठास ।
हर पदार्थ में स्निग्धता, करती सदा निवास ।।

१११. भोजन करते थे मनुज, तीन दिवस के बाद ।
मात्रा अरहर दाल सम, तृप्त सदा अविवाद ।।

११२. खाद्य सभी थे प्राकृतिक, और अत्यल्प विकार ।
तीन पल्य का आयु था, बन्द दुःख का द्वार ।।

११३. वे स्वभाव से शान्त थे, तीन गाउ की देह ।
थे पहले संहनन के, स्वामी निःसन्देह ।।

११४. कल्पवृक्ष करते सदा, उनको पूरी चाह ।
नहीं देखते थे कभी, वे जन दुःख की राह ।।

११५. बीत गया है अर प्रथम, ह्रासोन्मुख यह काल ।
क्रमशः आयुष्यादि का, हुआ ह्रास तत्काल ।।

दूसरा सुषमा

११६. पर्व दूसरे में युगल, होते सरल विनीत ।
दो पल्योपम का रहा, उनका आयु पुनीत ।।

---

१. उत्सर्पिणी काल

११७. तन की लम्बाई वहां, थी दो गाउ प्रमाण ।
खाते थे दिन तीसरे, मात्रा वेर समान ।।

११८. कल्पवृक्ष[1] का भी हुआ, किंचित् न्यून प्रभाव ।
हुई स्निग्धता की कमी, भू में सहज स्वभाव ।।

११९. होता है हर बात में, क्रमशः ह्रास महान ।
जैसे गज की सूंड में, मोटाई का मान ।।

तीसरा पर्व सुषमा-दुःषमा

१२०. सुख-दुखमय इस पर्व में, हुआ और भी ह्रास ।
एक पल्य का रह गया, नर का जीवन-वास ।।

१२१. खाते थे दिन दूसरे, एक आंवला मात्र ।
एक गाउ अनुमान था, उनका ऊंचा गात्र ।।

१२२. इसके अंतिम चरण में, बहुत हुआ है ह्रास ।
और वहां की भूमि में, कम हो गई मिठास ।।

१२३. कल्प पादपों की हुई महिमा क्रमशः स्वल्प ।
लगे टूटने विश्व में, सहज नियन्त्रित कल्प ।।

चौथा पर्व दुःषम-सुषमा

१२४. दुःषम सुषमा पर्व में, हुआ आयु का ह्रास ।
कोटि पूर्व का ही रहा, नर का जीवन-वास ।।

१२५. है तन की अवगाहना, धनुष पांच सौ स्पष्ट ।
कल्प पादपों का हुआ, अब प्रभाव भी नष्ट ।।

पांचवां पर्व दुःषमा

१२६. हुआ दुःषमा समय में, जीवन शत वर्षीय ।
और गात्र अवगाहना, सात हाथ मननीय ।।

---

१. पहले सर्ग के पेज नं १८ पर देखें (कल्पवृक्ष का वर्णन)

छठा पर्व दुःषम दुःषमा

१२७. है यह दुःषम-दुःषमा, समय दुखमय ख्यात ।
सोलह वर्षों का रहा, मनुज आयु साक्षात् ।।

१२८. होती है उत्सर्पिणी, जब विकास की ओर ।
क्रमशः आयुष्यादि, तब, वृद्धिगत सब ठौर ।।

सात कुलकर तथा हाकारादि तीन नीतियां

प्रथम कुलकर विमलवाहन

१२९. तृतीयार्क के अन्त में, सागरचन्द्र अमन्द ।
और प्रिया प्रियदर्शना, जन्में हैं सानन्द ।।

१३०. वे दोनों नौ सौ धनुष, के तन वाले ख्यात ।
हुए युगलिये पल्य के, दशवें भाग सुजात ।।

१३१. पूर्व-जन्म-कृत कपट से, वह अशोक का जीव ।
चार दांतधर गज हुआ, उज्ज्वल वर्ण अतीव ।।

१३२. उसने देखा एक दिन, पूर्व जन्म का मित्र ।
ऋजुमति सागरचन्द्र को, युगल-रूप में चित्र ! ।।

१३३. उसे देखते ही हुआ, गज के मन में स्नेह ।
आलिंगन कर सूंड से, उठा लिया सस्नेह ।।

१३४. उसको तुरत बिठा लिया, कंधे पर सह हर्ष ।
एक दूसरे की तरफ, देख रहा सोत्कर्ष ।।

१३५. दोनों मित्रों को हुआ, जाति-स्मरण साक्षात् ।
स्मृति में आई है तभी, पूर्व-जन्म की बात ।।

१३६. चार दन्तधर द्विरद पर, बैठा सागरचन्द ।
उसे देखकर युगलिये, विस्मित हुए अमन्द ।।

१३७. विधुंवत् विमल गजेन्द्र पर, उसे देख साक्षात् ।
नाम विमलवाहन हुआ, जगती-तल पर ख्यात ।।

१३८. जाति-स्मरण के ज्ञान से, विविध नीति-निष्णात ।
तदा विमलवाहन हुआ, माननीय विख्यात ।।

१३९. चरित-भ्रष्ट यति की तरह, समयान्तर पश्चात् ।
कल्पवृक्ष की हो गई, शक्ति अल्प साक्षात् ।।

१४०. हुआ काल के योग से, युगल जनों में मोह ।
कल्प पादपों के लिए, करते हैं विद्रोह ।।

१४१. विमल[1] युगल को समझकर, वलशाली हितकार।
उसे युगलियों ने किया, निज स्वामी स्वीकार ।।

१४२. कल्प पादपों का वटवारा, किया विमल ने उसी प्रकार ।
जैसे करता है परिजन में, धन-विभाग घर का सरदार ।।
कल्प-वृक्ष की मर्यादा का, यदि कोई करता था लोप ।
तो मिलता था दण्ड उसे, 'हाकार-नीति' से सदा सकोप ।।

१४३. जैसे जलनिधि का जल अपनी, नहीं छोड़ता मर्यादा ।
वैसे ही 'हा' ! नीति श्रवण कर, पछताते थे वे ज्यादा ।।
सहलेते थे कष्ट सभी, पर; अपना नियम निभाते थे ।
'हा'! तुमने क्या काम किया, यह वाक्य नहीं सह पाते थे ।।

दूसरा कुलकर चक्षुष्मान

१४४. रहा विमलवाहन का बाकी, अर्द्ध वर्ष जब जीवन काल ।
उसकी चन्द्रयशा पत्नी से, एक युग्म जन्मा तत्काल ।।
अष्टशती धनुपोपम ऊँचा, आकर्षक तन श्याम-स्वरूप ।
है आयुष्य असंख्य पूर्व का, और प्रथम संस्थान अनूप ।।

१४५. नामकरण उनका किया, चक्षुष्मान महान् ।
और चन्द्रकान्ता बड़े, वृक्ष-लता उपमान ।।

---

१. विमलवाहन

१४६. दोनों का पालन किया, अर्घ वर्ष सह-हर्ष ।
ज़रा रोग के भोग बिन, मृत्यु हुई आदर्श ।।

१४७. देव विमलवाहन हुआ, भव्य सुवर्णकुमार[1] ।
चन्द्रयशा स्त्री स्वर्ग में, सुरवर नागकुमार[2] ।।

१४८. हाथी भी मरकर हुआ, सुरवर नागकुमार ।
है महिमा यह काल की, कहते आगमकार ।।

१४९. स्वीय पिता की भाँति वह, चक्षुष्मान महान ।
वही नीति 'हाकार' की, चला रहा मतिमान ।।

तीसरा कुलकर यशस्वी

१५०. अन्त समय के निकट जब, पहुँचा चक्षुष्मान ।
तब उसकी स्त्री से हुआ, युगल धर्म सन्तान ।।

१५१. नामकरण उनका किया, सुखद यशस्वी ख्यात ।
और सुरूपा रूप है, सुन्दरतम साक्षात् ।।

१५२. थे उनके संहनन भी उनके तात समान ।
किन्तु आयु कुछ न्यून थी, काल-प्रभाव महान् ।।

१५३. सार्द्ध सात सौ धनुष की, तन ऊँचाई ख्यात ।
तोरण-स्तम्भ समान वे, लगते थे साक्षात् ।।

१५४. स्वर्ग सुवर्ण कुमार में, जन्मा चक्षुष्मान ।
पत्नी नागकुमार में, दिव्य देवता स्थान ।।

१५५. सुखद यशस्वी कर रहा, अपने तात समान ।
युगल जनों की पालना, निष्कारण मतिमान ।।

१५६. किन्तु नीति "हाकार" की, निष्फल हुई नितान्त ।
दण्डनीति 'माकार' की, अपनाई अभ्रान्त ।।

१५७. एक दवा से हो नहीं, आमय अगर विनष्ट ।
तो फिर देता दूसरी, औषधि वैद्य विशिष्ट ।।

---

१. भुवनपति की दशनिकायों में से तीसरी निकाय २. दूसरी निकाय

१५८. स्वल्प करे अपराध जो, उसे दण्ड "हाकार" ।
अधिक करे अपराध जो, उसे दण्ड "माकार" ।।

चौथा कुलकर अभिचन्द्र

१५९. आयु यशस्वी की रही, अब षट् मास प्रमाण ।
तब उसकी स्त्री से हुई, एक युगल सन्तान ।।

१६०. नाम रखा अभिचन्द्र शुभ, जो था चन्द्र-समान ।
और सुता का है रखा, प्रतिरूपा अभिधान ।।

१६१. साढ़े छह सौ धनुष था, ऊंचा उनका गात ।
मात-पिता से आयु थी, कुछ कमती साक्षात् ।।

१६२. देह यशस्वी छोड़कर, नव भव उदधिकुमार ।
और सुरूपा साथ ही, मरकर नागकुमार ।।

१६३. स्वीय पिता की भाँति ही, उभय नीति के द्वार ।
युगल-जनों को दे रहा, दण्ड दोष-अनुसार ।।

पाँचवा कुलकर प्रसेनजित

१६४. प्रतिरूपा के भी हुआ, एक युगल अवदात ।
सुत प्रसेनजित है सुता, चक्षुःकांता ख्यात ।।

१६५. उनकी थी अवगाहना, छह सौ धनुष प्रमाण ।
मात-पिता से स्वल्प था, उनका आयु-विधान ।।

१६६. देव हुआ अभिचन्द्र है, मरकर उदधिकुमार ।
प्रतिरूपा भी साथ ही, मरकर नागकुमार ।।

१६७. श्री प्रसेनजित तब बना, युगलों का अधिराज ।
महाजनों के पुत्र भी, प्रायः नर-सिर-ताज ।।

१६८. तदनन्तर वे युगलिये, नहीं मानते कार ।
दण्ड-नीति का कर रहे, बहिष्कार साकार ।।

१६९. तब प्रसेनजित ने किया, नूतन आविष्कार ।
अपराधी जन के लिए, दण्ड नीति 'धिक्कार' ।।

१७०. तीन नीतियों का किया, यथा-योग्य उपयोग ।
उसके वश में हो गये, सभी युगलिये लोग ।।

छठा कुलकर मरुदेव

१७१. आयु रही अवशेष जब, केवल षट् ही मास ।
चक्षुःकान्ता से हुआ, एक युगल सोल्लास ।।

१७२. उनका है मरुदेव औ, श्री कान्ता अभिधान ।
सार्द्ध पांच सौ धनुष हैं, उनका देह प्रमाण ।।

१७३. तजकर देह प्रसेनजित, तत्क्षण द्वीपकुमार ।
चक्षुःकान्ता भी हुई, नागकुमार उदार ।।

१७४. अपनाकर मरुदेव ने, दण्ड नीतियां तीन ।
युगल जनों को कर लिया, वश में परम प्रवीण ।।

सातवां कुलकर नाभि

१७५. अपने जीवन काल का, समय रहा जब स्वल्प ।
जन्मा है मरुदेव के, एक युगल सुरकल्प ।।

१७६. नाम नाभि है पुरुष का, मरुदेवा स्त्री ज्ञात ।
धनुष पांच सौ* का रहा, उनका तन साक्षात् ।।

१७७. अपने माता तात से, कुछ कम आयु प्रमाण ।
हुई पूर्व संख्यात की, होता यह अनुमान ।।

१७८. जन्मा द्वीपकुमार में, सुर मरुदेव महान् ।
श्रीकान्ता भी कालकर, नागदेव[1] के स्थान ।।

---

* मूलकृति में सवा पांच सौ धनुष की अवगाहना है, यह चिन्तनीय है

१. नागकुमार में

१७९. सप्तम कुलकर नाभि नृप, युगल जनों का नाथ।
तीन नीति[1] से दण्ड वह, देता हाथों-हाथ ।।

तेरहवाँ भव ऋषभनाथ भगवान

१८०. अरक तीसरे के चौरासी, लाख पूर्व नव अस्सी पक्ष ।
शेष रहे जब, तब आया है, ग्रीष्म-काल का सप्तम पक्ष ।।
उसी समय में, वज्रनाभ का, जीव जो कि थे सेठ धना ।
तीन तीस सागर की स्थिति को, पूरण कर वे मुदित मना ।।

१८१. कल्पातीत विमान अनुत्तर, उससे च्यवकर आते हैं ।
मरुदेवी की रत्न-कुक्षि में, गर्भ-स्थित हो जाते हैं ।।
गर्भवास में जब प्रभु आये, तब जग में उद्योत हुआ ।
क्षण भर सब जग के जीवों के, दुःखों का उच्छेद हुआ ।।

[ऋषभदेव की माता के चौदह स्वप्न]

१८२. जिस निशि को च्यव कर माता को, रत्न कुक्षि में आये हैं।
देखे चौदह महास्वप्न तब, घर-घर मोद मनाये हैं ।।
पहले सपने में देखा है, वृषभ पुष्ट कंधेवाला ।
और दूसरे सपने में, गज, देखा चार दशनवाला ।।

१८३. सिंह तीसरे सपने में फिर, देखा है केसर वाला ।
चौथे में लक्ष्मी देखी है, पंचम में सुम की माला ।।
स्वप्न छठे में देखा है अब, शान्ति प्रदायक शीतल चन्द ।
और सातवें सपने में रवि, देखा तम-हर तेज अमन्द ।।

१८४. स्वप्न आठवें में देखा है, एक महाध्वज मनहारी ।
नौवें सपने में देखा है, स्वर्णकलश मानस-हारी ।।
दशवें सपने में देखा है, पद्माकर परिमल भारी ।
एकादशम सपन में देखा, विस्तृत क्षीरोदधि वारि ।।

१८५. द्वादशवें सपने में लक्षित, उत्तम देव-विमान हुआ ।
स्वप्न त्रयोदशवें में सुन्दर, रत्न-पुंज का भान हुआ ।।
स्वप्न चतुर्दशवें में देखी, धूम रहित तेजस्वी आग ।
चौदह सपने पूर्ण हुए तब, मरुदेवी जागी सद्भाग ।।

---

१. हाकार, माकार, धिक्कार ।

१८६. नहीं रहा है पार हर्ष का, जाकर नाभि नृपति के पास ।
सपनों की सब बात सुनाई, मरुदेवी ने सह उल्लास ।।
सुनकर उन पर नाभि नृपति ने, सरल-भाव से किया विचार ।
होगा उत्तम कुलकर हितकर, पुत्र-रत्न जग का आधार ।।

इन्द्र द्वारा चतुर्दश स्वप्न फल

१८७. इन्द्रासन भी हुए प्रकम्पित, जब कारण का ज्ञान हुआ ।
तब सपनों के अर्थ बताने, इन्द्रों का प्रस्थान हुआ ।।
प्रभु की माता मरु-देवी के, निकट इन्द्र सब आते हैं ।
हाथ जोड़कर विनय भाव से, स्वप्न अर्थ बतलाते हैं ।।

१८८. वृषभ स्वप्न का है यह मतलब, पुत्र आपके जो होगा ।
ममता-कर्दम-मग्न धर्म के, रथ का उद्धारक होगा ।।
गज के सपने का है मतलब, पुत्र आपके जो होगा ।
महाजनों का भी गुरु होगा और शक्तिशाली होगा ।।

१८९. सिंह स्वप्न का है यह मतलब, पुत्र आपका जो होगा ।
पुरुषों में पंचानन जैसा, धीर वीर निर्भय होगा ।।
लक्ष्मी के सपने का मतलब, पुत्र आपका जो होगा ।
वह पुरुषोत्तम तीन लोक की, राज्य-रमा का पति होगा ।।

१९०. फूलों की माला का मतलब, पुत्र आपका जो होगा ।
पावन दर्शन-वाला सारे, जग का वह स्वामी होगा ।।
चन्द्र स्वप्न से पुत्र आपका, नयनानन्द-कार होगा ।
सूर्य स्वप्न से मोह-तिमिर-हर, विश्व प्रकाशक वह होगा ।।

१९१. ध्वज महान के सपने से वह, जग में धर्म-ध्वजी होगा ।
पूर्ण कुम्भ के सपने से वह, सब अतिशय-धारी होगा ।।
पद्म सरोवर का है मतलब, पुत्र आपका जो होगा ।
जग-कानन-गत मानव गण के, कष्टों का हारक होगा ।।

१९२. उदधि स्वप्न के दर्शन से, जग-तल में सुत्त अजेय होगा ।
देख स्वप्न में सुर-विमान, वैमानिक सुर का प्रिय होगा ।।
रत्न-पुंज के दर्शन से वह, गुण-रत्नों की खनि होगा ।
अग्नि स्वप्न से तेजस्वी का-तेज पुञ्ज-हर वह होगा ।।

१९३. स्वप्न चतुर्दश सूचित करते, पुत्र आपके जो होगा ।
स्वामी चौदह राजलोक का, माताजी ! निश्चित होगा ।।
इन सपनों का फल ज्ञापित कर, इन्द्र चले हैं अपने स्थान ।
माता सुनकर हुई प्रफुल्लित, दीनों को धन किया प्रदान ।।

१९४. गर्भ-योग से हुई सुशोभित, मरुदेवी माता तत्काल ।
जैसे रवि से घन की माला, हरि से गिरि की गुफा विशाल ।।
श्याम वर्ण वाली माता के, तन का वर्ण हुआ पीला ।
जैसे शारद ऋतु से होती, पीली बादल की लीला ।।

१९५. तीन लोक के नाथ करेंगे, शीघ्र हमारे पय का पान ।
मानों हुए इसी कारण-वश, स्तन उन्नत औ पुष्ट महान् ।।
प्रभु-मुख के दर्शन करने की, उत्कंठा है एक यही ।
इस कारण ही मानों उनकी, आंखें विकसित आज सही ।।

१९६. उनकी मद से मस्त द्विरदसी अब तो मंद हुई है चाल ।
ज्यों-ज्यों विकसित गर्भ हुआ, त्यों-त्यों बढ़ता लावण्य विशाल ।।
तीन लोक का सार रूप ही, यद्यपि गर्भाधान किया ।
तो भी उनको हुई न पीड़ा, प्रभु-प्रभाव यह जान लिया ।।

१९७. पृथ्वी के अन्दर ही जैसे, तरु का अंकुर बढ़ता है ।
वैसे ही वह गर्भ उदर में, गुप्त रीति से बढ़ता है ।।
शीतल जल ज्यों बर्फ योग से, अति शीतल हो ही जाता ।
विश्व-वत्सला अधिक हुई है, वैसे सहगर्भा माता ।।

१९८. गर्भ-स्थित प्रभु के प्रभाव से, स्वीय पिता से भी अति मान्य ।
हुए नाभि नृप युगल-जनों में, शास्ता विश्वसनीय वदान्य ।।
वर्षा ऋतु आने से होता, जैसे सब संताप प्रशान्त ।
वैसे जग में मानव गण के, हुए वैर भी सब उपशान्त ।।

भगवान ऋषभदेव का जन्म

१९९. चैत्र मास के कृष्ण पक्ष को, श्रेष्ठ अष्टमी आधी रात ।
आए थे ग्रह उच्च स्थान में, था नक्षत्र श्रेष्ठ साक्षात् ।।
सुख-पूर्वक तब मरुदेवी से, एक यमज[1] का जन्म हुआ ।
अमर गणों की भाँति जन्म यह, विरहित रुधिर जरायु[2] हुआ ।।

२००. दुनियां की आंखों में अचरजकारी, और तिमिर-हारी ।
तीन लोक में आभा फैली, दिनकर द्युति सम मनहारी ।।
दुन्दुभि बजने लगी गगन में, मानो घन ही गर्ज रहा ।
सुरभित जल की वर्षा से सब, भूमीमण्डल महक रहा ।।

जन्मोत्सव

२०१. देवों के आसन हुए, कम्पित अब सर्वत्र ।
आई दिशा-कुमारियां अधोलोक से तत्र ।।

२०२. प्रभु-प्रसूतिका गेह में, तीर्थंकर की मात ।
देकर उन्हें प्रदक्षिणा, स्तुति की है, नत-गात ।।

२०३. जग-दीपक की जन्मदा, जग माता विख्यात ।
हम करती हैं आपको, वार-वार प्रणिपात ।।

२०४. अधोलोक की वासिनी, हम देवी हैं आठ ।
अवधि-ज्ञान से जानकर, प्रभु का जन्म विराट ।।

२०५. उनके सहज प्रभाव से, आई हैं हम आज ।
महिमा करने के लिए, ये भावी जिनराज ।।

२०६. ऐसे ऊंचे लोक को, दिक्-कुमारियां अष्ट ।
और पूर्व रुचकाद्रि की, उतनी ही है स्पष्ट ।।

---

१. जुड़वां बच्चे
२. वह झिल्ली जिसमें लिपटा आ बच्चा गर्भ से बाहर आता है ।

२०७. दक्षिण रुचक पहाड़ की, दिक्-कुमारियां आठ ।
है पश्चिम रुचकाद्रि की, दिक्-कुमारियां आठ ॥

२०८. उत्तर रुचक पहाड़ की, दिक्-कुमारियां अष्ट ।
ऊंचे नीचे लोक अरु, दिग् से आईं स्पष्ट ॥

२०९. विदिशा के रुचकाद्रि से, आईं देवी चार ।
चार रुचक प्रदीप से, आईं हर्ष अपार ॥

२१०. वैमानिक के इन्द्र दस, भुवनाधिप के वीस ।
व्यंतर के वतीस हैं, दो ज्योतिप के ईश ॥

२११. आये चौंसठ इन्द्र ये, अहमहमिकया दौड़ ।
ऋषभनाथ प्रभु के निकट, खड़े उभयकर जोड़ ॥

२१२. चौंसठ इन्द्रों ने किया, जन्मोत्सव अभियान ।
उसे शलाका[1] चरित में, पढ़ें स्वयं विद्वान ॥

२१३. किया नहीं विस्तार के, भय से वर्णन अत्र ।
अल्प अक्षरों में उसे समझें पाठक-छत्र ॥

नामकरण

२१४. प्रभु के उरु पर ऋषभ का, था शुभ चिन्ह उदार ।
देखा स्वप्नों में प्रथम, ऋषभ स्वप्न साकार ॥

२१५. अतः श्रेष्ठ दिन देखकर, परिजन ने सह हर्ष ।
ऋषभनाम प्रभु का रखा, कर उत्सव उत्कर्ष ॥

२१६. जन्मी उनके साथ जो, वन्या कन्या एक ।
उसका नाम सुमंगला, रखा, हर्ष अतिरेक ॥

२१७. अंगूठे में इन्द्र ने, किया अमृत संचार ।
उसका करते पान प्रभु, यह क्षुत्[2] का उपचार ॥

२१८. किन्तु न करते हैं कभी, माता का स्तन-पान ।
है यह अर्हत् देव के, जीवन का सुविधान ॥

१. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र २. भूख का उपचार

२१९. तात-गोद-स्थित हो रहे, शोभित शिशु भगवान् ।
जैसे गिरि की गोद में मृगपति की सन्तान ॥

२२०. तथा इन्द्र की दाइयां, रहती प्रभु के पास ।
यथा समिति औ गुप्तियां, महाव्रती-संकास ॥

वंश स्थापना

२२१. एक वर्ष के जब हुए, नाभि नृपति के लाल ।
कर में लेकर ईख तव, आया सुर[1] भूपाल ॥

२२२. अवधि ज्ञान से जानकर, सौधर्मेन्द्र-विचार ।
प्रभु ने कर लम्बा किया, लेने ईख उदार ॥

२२३. तत्क्षण नत-शिर इन्द्र ने, ईख दिया उपहार ।
ग्रहण किया प्रभु ने उसे, भक्त-भक्ति अनुसार ॥

२२४. अतः इन्द्र ने भी रखा, नाभि-वंश का नाम ।
है उत्तम इक्ष्वाकु यह, वंश सदा अभिराम ॥

अतिशय

२२५. रोग, श्वेद, मल से रहित, आदिनाथ का देह ।
स्वर्ण-कमल-सम रम्य है, आकृति निःसन्देह ॥

२२६. उनके तन के रुधिर औ, मांस दुग्ध उपमान ।
है भोजन नीहार की-क्रिया अदृश्य महान् ॥

२२७. श्वास और उच्छ्वास की, सौरभ कमल समान ।
चारों अतिशय जन्मना, बतलाते विद्वान ॥

२२८. वज्रऋषभनाराच था दृढ़, संहनन महान् ।
भूमि न धँस जाये अतः, ईश मन्द गतिमान ॥

२२९. लघुवय में भी बोलते, मधुर और गम्भीर ।
बालक केवल आयु से, कहलाते नर-वीर ॥

---

१. सुरेन्द्र

२३०. समवयस्क आये हुए, देव कुमारों साथ ।
क्रीडा करते थे, उन्हें, प्रमुदित करने नाथ ।।

२३१. पांच दाइयों से सदा, लालित पालित देव ।
जल से सिंचित वृक्ष सम, बढ़ते हैं स्वयमेव ।।

२३२. प्रभु अंगूठा चूसते, शिशुवय में साक्षात् ।
सिद्ध अन्न का ही अशन, करते तत्पश्चात् ।।

२३३. किन्तु नाभि-नृप-पुत्र तो, हैं उसके अपवाद ।
उत्तर कुरु से देव-गण, लाते फल सुस्वाद ।।

२३४. कल्पवृक्ष के वे मधुर, फल खाते जग-तात ।
पीते क्षीर-समुद्र का, जल निर्मल साक्षात् ।।

अङ्ग वर्णन

२३५. बीते कल की भांति अब, शिशुपन हुआ समाप्त ।
यौवन का आश्रय लिया, सकल अंग पर्याप्त ।।

२३६. यौवन में भी नाथ के, युगल चरण थे रक्त ।
किसलय[1] कोमल श्वेद से,-विरहित, उष्ण सशक्त ।।

२३७. समतलुए वाले तथा, सुस्थिर कम्प-विहीन ।
चक्र-चिन्ह के चिन्ह से, चिह्नित रम्य अहीन ।।

२३८. माला अंकुश औ ध्वजा, के थे चिन्ह वरिष्ठ ।
मानो लक्ष्मी-हस्तिनी, को स्थिर रखना इष्ट ।।

२३९. कुम्भ, शंख दो चिन्ह थे, पग-तल में रमणीय ।
स्वस्तिक[2] का वर चिन्ह था, एडी में कमनीय ।।

२४०. अहि के फन की भांति था, अंगूठा असमान ।
चिन्हित था श्री-वत्स[3] से, गोलाकार निशान ।।

---

१. नया पत्ता २. मांगलिक चिन्ह ३. दक्षिणावर्त भौंरी का सा चिन्ह

२५३. दण्ड, चक्र, चामर, कमल, धनुष, मत्स्य,[1] हय, छत्र ।
ध्वज, अंकुश, श्री वत्स, रथ, प्रभु तन में एकत्र ॥

२५४. शंख, कुम्भ, मन्दिर, मकर,[2] ऋषभ, सिंह जल-नाथ[3] ।
स्वस्तिक, तोरण आदि से, अंकित तन साक्षात् ॥

२५५. अंगूठे के पर्व में, चिन्ह यवों के श्रेष्ठ ।
रेखात्रिक थी हाथ के, मूलभाग में प्रेष्ठ ॥

२५६. शोभित रेखा तीन से, गोलाकार महान् ।
ध्वनि गभीर वाला सुखद, कण्ठ शंख उपमान ॥

२५७. निर्मल वर्तुल[4] कांति-युत, सुन्दर रूप अमन्द ।
मानो भू पर दूसरा, निष्कलंक नव चन्द ॥

२५८. मांसल कोमल स्निग्ध थे, रम्य कपोल[5] महान् ।
अन्दर की आवर्त्त[6] से, सुन्दर लम्बे कान ॥

२५९. होठ विम्ब[7] के फल सदृश, दांत कुन्द[8]-कलिरूप ।
उन्नत वंश समान थी, विस्तृत नाक सुरूप ॥

२६०. उनकी ठुड्डी पुष्ट थी, कोमल गोल सुरम्य ।
उस पर डाढी केश थे, श्याम स्निग्ध अतिरम्य ॥

२६१. उनकी जिह्वा कल्पतरु, नव्य प्रवाल समान ।
द्वादशांग के अर्थ की, व्याख्यात्री अम्लान ॥

२६२. थी अन्दर के भाग में, आंखे श्याम रु श्वेत ।
और किनारे लाल थे, दिव्य ज्योति-समुपेत ॥

२६३ मांसल कोमल कठिन था, प्रभु का दिव्य ललाट ।
शोभित था वह अष्टमी, चन्द्र समान विराट ॥

२६४. क्रमशः उन्नत मौलि था, उलटे छत्र समान ।
मौलि-छत्र पर था मुकुट, रम्य कलश द्युतिमान ॥

---

१. मछली २. मगरमच्छ ३. सागर ४. गोल ५. गाल ६. भंवर
७. कुन्दरु का फल ८. सफेद फूल

२६५. टेढ़े कोमल केश थे, जलतरंग उपमान ।
भ्रमरवर्ण श्यामल गहन, गुम्फित केश-वितान ।।

२६६. गोरोचन[1] के गर्भ सम, गौर त्वचा अति-रम्य ।
सोने के रस से सरस, पोती हुई सुरम्य ।।

२६७. कोमल काली भ्रमर सी, कमल-तन्तु उपमान ।
अधिक सुशोभित देह पर, रोमावली महान् ।।

२६८. विविध विलक्षण लक्षण से युत, प्रभु किसके थे सेव्य नहीं ? ।
इन्द्र स्वयं उनको देते थे, हाथ सहारा सदा सही ।।
"चिर जीवो" "चिर जीवो", उनको कहते रहते सुर चहुं ओर ।
फिर भी प्रभु के मन में होता, नहीं, प्रविष्ट "अहं" का चोर ।।

युगल की अकाल मृत्यु

२६९. एक दिवस की बात है, ताड़-वृक्ष के पास ।
एक युगल जोड़ी वहां, खेल रही सोल्लास ।।

२७०. एक बड़ा फल ताड़ का, अकस्मात् तत्काल ।
गिरा युगल के पुरुष पर, आई मृत्यु अकाल ।।

२७१. मरकर लड़का युगलिया, हुआ स्वर्ग में देव ।
है कषाय की अल्पता, कारण ही स्वयमेव ।।

२७२. युगलों के मृत-देह को, पक्षी पहले काल ।
शीघ्र उठाकर डालते, जलनिधि में तत्काल ।।

२७३. पर अवसर्पण के समय, यह न रही है बात ।
युगल कलेवर इसलिए, पड़ा रहा अज्ञात ।।

२७४. उस जोड़ी में बालिका, जो थी रूप निधान ।
निज साथी के विरह में, बैठी खिन्न महान ।।

२७५. फिर उसके माता-पिता, आये उसके पास ।
उसे उठाकर ले गये, वे अपने आवास ।।

---

१. एक सुगन्धित पदार्थ जिसकी उत्पत्ति गाय के पित्त से मानी जाती है ।

सुनन्दा

२७६. पालन पोषण कर रहे, मात-पिता सानन्द ।
नाम सुनन्दा से उसे, बतलाते जनवृन्द ।।

२७७. मात-पिता सुरपुर गये, कुछ दिवसों के बाद ।
निःसहाय पा स्वयं को, करती विरह-विषाद ।।

२७८. क्या अब करना चाहिए, कुछ भी उसे न भान ।
पथ-च्युत हरिणी भाँति वह, भटक रही अनजान ।।

२७९. सब अंगों से श्रेष्ठ है, रूप अधिक रमणीय ।
वन-देवी की भांति वह, कानन में कमनीय ।।

२८०. देख अकेली बालिका, किंकर्त्तव्य विमूढ़ ।
युगल पकड़ कर ले गये, नाभि निकट दिग्मूढ़ ।।

२८१. "हो यह पत्नी ऋषभ की", यों कर शब्दोच्चार ।
किया भूमि-पति नाभि ने, बाला को स्वीकार ।।

२८२. कर्म-भूमि में अब मुझे, करना है प्रस्थान ।
प्रभु ने भी यों सोचकर, व्याह-बात ली मान ।।

२८३. लोगों को व्यवहार का, बतलाना है पंथ ।
और भोगने हैं मुझे, कृत-कर्मों के स्कन्ध ।।

सुमंगला सुनन्दा से ऋषभ का व्याह

२८४. नाभि नृपति ने है किया, ऋषभ पुत्र का व्याह ।
सबने हिलमिल कर लिया, लग्नोत्सव सोत्साह ।।

२८५. सुन्दर रूप सुमंगला, और सुनन्दा शिष्ट ।
प्रभु की दोनों पत्नियाँ, उनमें स्नेह घनिष्ट ।।

२९१. फिर सुमंगला ने पाये हैं, क्रमशः युगल पुत्र उन्चास ।
पुत्रों से हो रहे सुशोभित, ऋषभनाथ सुगुणों के वास ।।
पराक्रमी उत्साही बालक, ऐसे बढ़ते हैं दिन-रात ।
जैसे विंध्याचल में वढ़ते, गज-गरण के बच्चे साक्षात् ।।

२९२. काल-दोष से सुरतरुओं का. क्रमिक हो गया न्यून प्रभाव ।
जैसे प्रातःकाल दीप का, कम होता है तेज स्वभाव ।।
लाक्षा-कण पैदा होते हैं, जैसे पीपल-तरुवर में ।
राग-द्वेष के अंकुर पैदा, होने लगे युगल-नर में ।।

२९३. करने लगे उपेक्षा अब तो, तीन नीति की युगल सभी ।
कई युगलिये मिलकर आये, ऋषभनाथ के पास तभी ।।
अनुचित जो घटनाएं देखी, उन्हे सुनाई सह विस्तार ।
शक्तिमान हो ज्ञानवान हो, करो शीघ्र इनका उपचार ।।

२९४. अवधि ज्ञान के धारक प्रभु ने, कहा युगलियों को तत्काल ।
जग में मर्यादा-भंजक को, दण्डित करते हैं नरपाल ।।
नृप को पहले सिंहासन पर, स्थापित कर करते अभिषेक ।
और पूर्ण अधिकारी होता, होता सेना-बल अतिरेक ।।

२९५. युगल-जनों ने कहा आप ही, बने हमारे भूमी-पाल ।
करें हमारी आप उपेक्षा, यह तो उचित न कार्य त्रिकाल ।
कारण, हममें है न दूसरा, योग्य आदमी आप समान ।
जो कर सके कुशल अनुशासन, और प्रतापी हो बलवान ।।

प्रथम राजा ऋषभनाथ

२९६. कहा नाथ ने करो प्रार्थना, उत्तम कुलकर नाभि समीप ।
राजा देंगे शीघ्र तुम्हें वे, कुनय-तिमिर के लिए प्रदीप ।।
कुलकराग्रणी नाभि निकट फिर जाकर की है विनति महान् ।
कहा नाभि ने नृपति तुम्हारा, बने ऋषभदेव मतिमान ।।

२९७. कर्ण-गोचरी कर यह वाणी. मुदित मना आये प्रभु पास ।
नाभि तात ने तुम्हे बनाया, राजा यों बोले सोल्लास ।।
तदनन्तर अभिषेक अर्थ वे, गये शीघ्र पानी लाने ।
उसी समय सुरपति भी आये, अभिषेकोत्सव मनवाने ।।

२९८. सहस्राक्ष ने स्वर्ण-वेदिका, पर सिंहासन बनवाया
और तीर्थ-जल लाये सुरगण, उससे प्रभु को नहलाया ।।
दिव्य वस्त्र धारण करवाये, सुरपति ने प्रभु को सह हर्ष ।
अलंकार से किया अलंकृत, प्रभु का तन, है भक्ति प्रकर्ष ।।

२९९. तदन्तर जल कमल दलों में, युगल लोग लेकर आये ।
खड़े सामने मानो वे सब, अर्घ्य दान-हित ललचाये ।।
सोच रहे हैं भूषण-भूषित, प्रभु पर उचित न जल अभिषेक ।
इसीलिए प्रभु के चरणों में, चढ़ा दिया है जल सविवेक ।।

३००. अतः इन्द्र ने समझ लिया है, लोग हुए हैं ये सुविनीत ।
इन लोगों के लिये बसायें. नाम विनीता नगर पुनीत ।।
फिर कुवेर को आज्ञा दी है, करो शीघ्र नगरी-निर्माण ।
यों कहकर सौधर्माधिप फिर, चला गया है अपने स्थान ।।

अयोध्या नगरी-निर्माण

३०१. बारह योजन लम्बी नगरी, चौड़ी नौ योजन परिमाण ।
किया विनीता नामक नगरी, का कुवेर ने नव निर्माण ।।
उस नगरी का नाम दूसरा, रखा अयोध्या जग-विख्यात ।
धान्य और धन से परिपूरण, भवन गगन-चुम्बी साक्षात् ।।

३०२. उस नगरी के व्यापारी गण, थे इतने धनवान महान ।
मानो धनद स्वयं व्यापारी बनकर आया उद्यमवान ।।
सुधा तुल्य जल वाली लाखों, बावड़ियां हैं कूप अनेक ।
जहां ढूंढने से भी मिलता, नहीं भिखारी कोई एक ।।

३०३. बीस लाख जब पूर्वों की वय, हुई ऋषभ प्रभुवर की स्पष्ट ।
राजा बने प्रजा-प्रतिपालक, हरने दुनियां के सब कष्ट ।।
समुचित दण्ड मिले दुष्टों को, और सुरक्षित सज्जन हों ।
अतः नियुक्त किये मन्त्रीगण, जो निःस्पृह समता-घन हों ।।

३०४. चोर न चोरी करे राज्य में, चौकीदार नियुक्त हुए ।
और न्याय निष्पक्ष करें, वे मानव न्यायाधीश हुए ।।
सेना के उत्कृष्ट अंग थे, हाथी ऊँचे अद्रि समान ।
बनवाई घुड़साल, अश्व थे जिसमें पवन सदृश गतिमान ।।

३०५. उत्तम लकड़ी के बनवाये, रथशाला में रथ रमणीक ।
शूरवीर योद्धा सेना में, पैदल सैनिक हैं निर्भीक ।।
पुत्र-विहीन वंश सम सुरतरु, सभी हुए उस समय विनष्ट ।
अतः लोग अब कन्द-मूल फल. इत्यादिक खाते हैं स्पष्ट ।।

३०६. चावल, गेहूँ आदि घास-सम, उगने लगे स्वतः उस काल ।
उसे युगलिये कच्चा खाने, से न पचा पाते तत्काल ।।
अतः उन्होंने प्रभु-चरणों में, जाकर पहुँचाई यह बात ।
"उनके छिलके अलग करो फिर, खाओ" यों बोले जग-तात ।।

३०७. फिर भी हुआ अजीर्ण उन्होंने, प्रभु सम्मुख गाया गाना ।
तब प्रभु बोले उसे उदक में, भिगो भिगो कर है खाना ।।
किया उन्होंने ऐसा ही पर, फिर भी पाचन हुआ नहीं ।
पुनः उन्होंने किया निवेदन, तब फिर प्रभु ने कही सही ।।

आग की उत्पत्ति

३०८. गरमी लगे धान्य को ऐसे, रखो बगल या निजकर में ।
ऐसा करने पर भी उनके, हुआ अपच फिर तन घर में ।।
वृक्षों के घर्षण से पैदा, अग्नि हुई है पहली वार ।
अचरज कारी इस घटना से, जन-मन विस्मित हुआ अपार ।।

३०९. जलने लगी लकड़िया उससे, और सघन कानन का घास ।
तब लोगों ने समझ लिया यह, रत्न-राशि का दिव्य प्रकाश ।।
उन रत्नों की प्रबल जिघृक्षा,[1] अतः किये हैं लम्बे हाथ ।
जलने लगे हाथ जब, आये, प्रभु के चरणों में सब साथ ।।

३१०. लगे बोलने प्रभुवर ! वन में, प्रकट हुआ है अद्भुत भूत ।
स्निग्धकाल सह रूक्ष काल से, आज हुई है आग प्रसूत ।।
यदा समय एकान्त स्निग्ध या, रूक्ष तदा हो प्रकट न आग ।
जाओ उसमें अन्न पकाकर, खाओ होगा शान्त दिमाग ।।

---

१. ग्रहण करने की इच्छा

३११. डाल दिया है अन्न आग में, भोले लोगों ने तत्काल ।
वह सारा ही भस्म हो गया, नहीं गली है उनकी दाल ।।
पुनः कहा है प्रभु से आकर, भुक्कड़ सी लगती है आग ।
अन्न जो कि उस में डाला था, वह सारा खा गई अभाग ।।

शिल्प कला का आविष्कार

३१२. उसी समय थे प्रभु हाथी पर, मंगवाया मृत्-पिंड विशाल।
गज के सिर की आकृति वाला, बरतन रचा गया तत्काल ।।
सबसे पहले कुम्भकार का, प्रभु ने शिल्प बताया है ।
करो दूसरे भी यों बरतन, प्रभु ने फिर सिखलाया है ।।

३१३. उन पात्रों में अन्न पकाकर, खाने की विधि बतलाई ।
कुम्भकार पहले कारीगर, हुए तभी से सुखदाई ।।
गृह-रचना की कला सिखाई, हुए वर्द्धकी[1] भी तैयार ।
चित्रकला की शिक्षा दी है, चित्रकार फिर हुए उदार ।।

३१४. काम बुनाई का बतलाया, बने जुलाहे नर-तत्काल ।
केश काटने वाले नापित,[2] शिक्षा पाकर बने विशाल ।।
बीस-बीस प्रत्येक शिल्प के, भेद हुए हैं सौ परिपूर्ण ।
फैल गये हैं वे जग-तल में, ज्यों ज्यों प्रवाह सरिता का पूर्ण ।।

३१५. जीवन-यापन हित बतलाया, कृषि का काम और व्यापार ।
साम,[3] दाम[4] और दण्ड[5] भेद,[6] इन चार नीतियों का अवतार ।।
भरत पुत्र को ऋषभदेव ने, कला❀ बहत्तर सिखलाई ।
वही भरत ने निज पुत्रों औ बन्धुजनों को बतलाई ।।

३१६. योग्य पुरुष को पाठित विद्या, शत-शाखी हो जाती है ।
अतः पात्र को विद्या देना, नीति यही सिखलाती है ।।
बाहुबली को नर गजादि की, लक्षण विद्या बतलाई ।
ब्राह्मी को अष्टादश लिपियां,● सव्य हाथ से सिखलाई ।।

❀ देखें टिप्पण नं० ५ ● देखें टिप्पण नं० ६

१. बढ़ई २. नाई ३. राजा के चार उपायों में से एक, कह सुनकर अपनी ओर कर लेना ४. शत्रु पर विजय पाने के चार उपायों में से एक। ५. जुर्माना
६. शत्रु पक्ष में फूट डालना ।

३१७. सुता सुन्दरी को भी वाएँ, कर से दिया गणित का ज्ञान ।
और वस्तु के मानादिक[1] का, समझाया समुचित विज्ञान ।।
उसी समय प्रारम्भ हुए हैं, धनुर्वेद आयुर्विज्ञान ।
अर्थ-शास्त्र, संग्राम, बन्ध[2] वध तथा सभादिक का अभियान ।।

३१८. यह माता है, और पिता ये, यह भाई है, यह नारी ।
यह घर, यह धन, यह मेरे हैं प्रकट हुई ममता भारी ।।
ब्याह-समय प्रभु को देखा था वस्त्राभूषण से सज्जित ।
लोगों ने भी नग्न देह में, अपने को माना लज्जित ।।

३१९. पर कन्या[3] के साथ हो गया, अब विवाह करना प्रारम्भ ।
चूड़ा-कर्म[4] और क्ष्वेडा[5] उपनयन[6] आदि का भी आरंभ ।।
यद्यपि हैं सावद्य कार्य ये धर्म-दृष्टि से हेय सभी ।
फिर भी इनका किया प्रवर्तन प्रभु ने जगहित समझ सभी ।।

३२०. परम्परागत वे विद्यायें, और कलायें जीवित हैं ।
संप्रति विद्वद्गण के द्वारा, उनके आगम निर्मित हैं ।।
विश्व-स्थिति-रूपी नाटक के सूत्रधार प्रभु से प्रख्यात ।
उग्र[7] भोग[8] राजन्य[9] और हैं, क्षत्रिय[10] कुल स्थापित अवदात ।।

३२१. अपराधी लोगों को देना, उचित दण्ड यह किया विधान ।
दण्डनीति अन्याय-सर्प-हित हैं विष-विद्या के उपमान ।।
घर-क्षेत्रादिक की मर्यादा-भंग नहीं कोई करता ।
खेतों में जल-सिंचन करने, मेघ सदा वर्षा करता ।।

---

१. मान (माप) उन्मान (तोला, माशा, आदि वजन) अवमान (गज फुट इन्च आदि) प्रतिमान (पाव सेर आदि वजन) ।

२. बेड़ी कोड़े व फांसी की सजा ३. दूसरों के द्वारा दी गई कन्या ४. बालक को सर्व प्रथम मुंडन कराकर चोटी रखने का कार्य । ५. युद्धनाद

६. यज्ञोपवीत ७. उग्रदण्ड के अधिकारी लोगों का (यानि सिपाही गिरी करने वालों का और चोर, लुटेरे आदि प्रजा को सताने वाले लोगों को सजा देने वालों का) जो समूह था उस समूह के लोगों का कुल उग्रकुलवाला कहलाया ।

८. इन्द्र के जैसे त्रायस्त्रिंश देवता हैं वैसे प्रभु के मन्त्री का काम करने वाले लोगों का कुल भोगकुल वाला कहलाया । ९. प्रभु के समान आयु वाले जो प्रभु के साथ ही रहते थे और मित्र थे लोगों का कुल राजन्य कुल कहलाया ।

१०. बाकी जो मनुष्य थे उन सबका कुल क्षत्रिय कुल कहलाया ।

३२२. खेतों से औ धेनु-कुलों से, गुञ्जित करते हुए शहर ।
सूचित करते थे स्वामी की,-ऋद्धि सम्पदा और महर ॥
सब लोगों को उपादेय औ, हेय वस्तु का दिया विवेक ।
इससे दक्षिण भरत क्षेत्र ओ, भू-विदेह मानों हैं एक ॥

३२३. इसी तरह से नाभि-नृपति के,-सुत ने राज तिलक के बाद ।
पूर्व लाख तिरसठ तक भू का,-पालन किया सफल अविवाद ॥
अब नश्वर भोगों को तजकर, करना है संयम स्वीकार ।
धर्म-नीति का प्रचलन करना, लक्ष्य एक है यही उदार ॥

वसन्त ऋतु वर्णन

३२४. ऋतु वसंत आया धरती पर, पौधे फूल खिले अम्लान ।
परिकर लोगों के अनुनय से, आये उपवन में भगवान ॥
फूलों के घर में बैठे हैं, फूलों के गहने परिधान ।
मानो तनधारी वसन्त ऋतु, है यह होता है अनुमान ॥

३२५. यौवन जैसे नर-नारी की, शोभा अधिक बढ़ाता है ।
वृक्ष लताओं को भी वैसे, काल वसंत सजाता है ॥
युवक युवतियाँ खेल रहे हैं, विविध तरह के रोचक खेल ।
लूट रही है ऋतु वसन्त का, ललनाएं आनन्द सहेल[1] ॥

३२६. नागर-लोगों की क्रीड़ा का, दृश्य देखकर प्रभु तत्काल ।
सोच रहे क्या और जगह भी, होते ऐसे खेल विशाल ॥
चिन्तन करते अवधि ज्ञान से, स्मृति-पथ में आई सब बात ।
शीघ्र विमान अनुत्तर तक के,-सुख, स्मृति में आये साक्षात् ॥

वैराग्य

३२७. चिन्तन करते करते उनका, टूट गया ममता-बन्धन ।
है धिक्कार भोगरत नर को, यों अब करते हैं चिन्तन ॥
इस भव-रूपी कूप-कुहर में, निज निज कर्मों के अनुसार ।
करते हैं अरघट्ट भांति वे, प्राणी यातायात अपार ॥

१. क्रीड़ासक्त

३२८. जिस प्रकार निद्रा गत नर की, व्यर्थ बीत जाती है रात ।
उसी तरह नर-जन्म व्यर्थ है, मोह-मुग्ध नर का साक्षात् ।।
मोह-मुग्ध नर वट तरुवर वत्, प्रतिदिन क्रोध बढ़ाता है ।
और क्रोध यह क्रोधी नर को, जड़ से ही खा जाता है ।।

३२९. मानारूढ़ मनुज करते हैं, नहीं किसी की भी परवाह ।
गुरु-जन की आज्ञा के प्रति भी, रहते हैं वे लापरवाह ।।
दुष्टाशय-प्राणी माया को, नहीं छोड़ते किसी प्रकार ।
और लोभ-काजल से करता, आत्म-वस्त्र को काकाकार[1] ।।

३३०. जब तक भव-कारा के जाग्रत, हैं कषायमय चौकीदार ।
तब तक पुरुषों को मिल सकता, कभी न मुक्ति पुरी का द्वार ।।
जो नीरोग बनाता हरि को, वह उसको ही खा जाता ।
यह उन्माद इन्द्रियों का है, जो होता दुख का दाता ।।

३३१, लोग खिलौने से बालक को, जैसे नित बहलाते हैं ।।
वैसे रम्य वस्तुओं द्वारा, मानव धोखा खाते हैं ।।
तीन दोष सम विषयों में रत, नर निज भान भुलाते हैं ।
चिन्ता-मणिवत् नर-भव का वे, कुछ भी लाभ न पाते हैं ।।

३३२. इस असार संसार-सुखों से, प्रभु का जब मन हुआ उदास ।
ब्रह्म देवलोकान्त-निवासी आये प्रभु चरणों के पास ।।
कहते हैं वे प्रभु से "जैसे प्रचलित किया लोक व्यवहार ।"
वैसे निज कर्तव्य समझकर, धर्म-तीर्थ का करो प्रचार ।।

गीतिका-छन्द

३३३. वृत्त सागर-चन्द्र का औ, सात कुलकर की कथा ।
भव त्रयोदशवां ऋषभ का, स्वप्न माता के तथा ।।
जन्म प्रभु का और उत्सव राज्य की वर स्थापना ।
दूसरे इस सर्ग में है, भव विरति की भावना ।।

---

१. कौए जैसा काला २. वात, पित्त, कफ (त्रिदोष)

सर्ग तीसरा

(पद्य ३०२)

१. सर्ग दूसरे में हुआ, जन्म, राज्य-व्यवहार ।
सुनो तीसरे सर्ग में, दीक्षा का अधिकार ।।

२. सरदारों को, निज पुत्रों को, प्रभुवर ने आह्वान किया ।
और भरत से कहा पुत्र ! अब, राज्य करो जो तुम्हें दिया ।।
"ग्रहण करेंगे संयम-रूपी, हम साम्राज्य अचल निर्भय ।
नश्वर सुख तजकर अविनश्वर, प्राप्त करेंगे सुख अक्षय ।।"

३. पूज्यतात के शब्द श्रवण कर, नत-शिर भरत खड़े चुपचाप ।
गद्-गद् स्वर में हाथ जोड कर, यों बोले वाणी निष्पाप ।।
"हे स्वामी ! गुण-धामी तेरे, चरणों में जो सुख मिलता ।
वह सुख-सिंहासन-स्थित को भी, नहीं कभी भी मिल सकता ।।

४. तेरे चरणों की छाया में, शान्ति मुझे जो मिलती है ।
वह साम्राज्य-छत्र की छाया, में न प्रभो ! मिल सकती है ।।
सहना पड़े वियोग आपका, ऐसा राज्य न मैं चाहूँ ।
प्रभु-चरणों में चंचरीक बन, कर ही मैं रहना चाहूँ ।।"

५. स्वामी बोले-"छोड़ दिया है, प्राज्य राज्य मैंने तृणवत् ।
अगर न होगा भूमण्डल पर, राजा गज पर अंकुशवत् ।।
मत्स्य[1] गलागल न्याय प्रवर्तन होगा फिर जगती-तल में ।
अतः करो हे पुत्र ! राज्य, हो पूर्ण समर्थ कला बल में ।।"

भरत का राज्याभिषेक

६. शिरोधार्य कर प्रभु की आज्ञा, राज्य भरत ने ग्रहण किया ।
नम्र-भाव से तात-पाद का, सिंहासन स्वीकार किया ।।
राज्यारोहण का वर उत्सव, जनता ने सह-हर्ष किया ।
उनको अपना पालक राजा, सब लोगों ने मान लिया ।।

---

१. पानी में बड़ी मछलियां छोटी मछलियों को खा जाती हैं इसी तरह यदि राजा नहीं होता है तो सबल निर्बलों का शोषण करते हैं । इसी न्याय को "मत्स्य गलागल" कहते हैं ।

७. उनके मस्तक पर शशधर सा, सुन्दर छत्र सुशोभित है ।
दोनों तरफ सफेद चमर जो, डुलते, हुए चमत्कृत हैं ।।
वस्त्रों से ऐसे शोभित हैं, मानों वे तद्गुण साकार ।
नृप-मण्डल ने नव नरपति को, किया नव्य शशि-सम सत्कार ।।

वार्षिक दान

८. बाहुबली आदिक पुत्रों को, यथा योग्य भू-भाग दिया ।
अपना-अपना राज्य करो, अब है सबकी स्वाधीन क्रिया ।।
तदन्तर प्रारम्भ किया है, प्रभु ने वार्षिक दान महान ।
डोंडी पिटवा दी सब पुर में, ले लो प्रभु-कर से सब दान ।।

९. तब कुबेर ने जृंभक देवों को, आज्ञा दी है सत्वर ।
धन अनगिन पहुँचावें जाकर, ऋषभदेव प्रभु के घर पर ।।
जृंभक देवों ने तब ऐसा, धन लाकर भण्डार भरा ।
जिसका अधिप न कोई हो, जो है गुप्त भूमि में रखा पड़ा ।।

१०. भरते हैं इस तरह खजाना, जृंभक देव स्वयं तत्काल ।
जैसे वर्षा का जल भरता, सरिता, वापी, कूप विशाल ।।
सूर्योदय से एक प्रहर तक, देते थे प्रभु कर से दान ।
प्रतिदिन एक कोटि औ, ऊपर,—आठ लाख मुद्रा अनुमान ।।

११. एक वर्ष तक प्रभु ने अपने हाथों से यह दान[1] किया ।
प्रभु दीक्षा लेने वाले हैं, यह लोगों ने जान लिया ।।
उन लोगों के भी मानस में, हुआ विरति का प्रादुर्भाव ।
अतः दान के मिलने पर भी, रहते कम लेने के भाव ।।

दीक्षा—उत्सव

१२. इन्द्रासन अब हुआ प्रकम्पित, पूर्ण हुआ जब वार्षिक दान ।
प्रभु के चरणों में आया है, इन्द्र दूसरे भरत समान ।।
लेकर जल के कलश हाथ में, इन्द्र दूसरे भी थे साथ ।
राज्योत्सव की तरह किया है, प्रभु दीक्षा-उत्सव साक्षात् ।।

---

१. तीन सौ अठासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण मुद्रा की कीमत जितना धन दान में दिया ।

१३. सुरपति अपने भक्ति-भाव से, वस्त्राभूषण लाया है ।
ऋषभ देव ने उन्हें इन्द्र की, भक्ति देख अपनाया है ।।
शिविका की तैयार इन्द्र ने, वर सुदर्शना है अभिधान ।
स्वर्ग विमान अनुत्तर जैसा, सुन्दरतम जिसका संस्थान ।।

१४. इन्द्र-हाथ का पा आश्रय वे, शिविका-स्थित हो जाते हैं ।
मानो शिवमंदिर की पहली, सीढ़ी पर चढ़ जाते हैं ।।
पहले रोमांचित नर-गण ने, शिविका-भार उठाया है ।
पीछे देवगणों ने अपना, भी कर्तव्य निभाया है ।।

१५. मगल वाद्यों की ध्वनि द्वारा, हुई दिशाएं ध्वनित महान ।
प्रभु के दोनों तरफ चंवर हैं, मानों मूर्तिमान सित-ध्यान ।।
वृन्दारक सुर-गण करते हैं, उच्च स्वर से जय-जयकार ।
मानव-गण हर्षित होते हैं, सुनकर मंगल शब्दोच्चार ।।

१६. प्रभु को जाते हुए देखकर, ऐसे दौड़ रहे हैं लोग ।
जैसे बच्चा दौड़ लगाता, माता के पीछे बे-रोक ।।
प्रभु के दर्शन करें दूर से, जैसे घन के करते मोर ।
वृक्ष–डालियों पर बैठे हैं, देख रहे हैं प्रभु की ओर ।।

१७. कई चढ़े हैं मन्दिर महलों ऊपर, प्रभु के करने दर्श ।
मान रहे हैं तेज धूप को, चन्द्र-चांदनी-शीतल-स्पर्श ।।
कई अश्व की भांति मार्ग पर, दर्शन करने दौड़ रहे ।
जन-समूह में घुसकर जल में, मीन भांति वे निकल रहे ।।

१८. कई-मार्ग-स्थित घर की वधुएँ, खड़ी हुई हैं ले जल-पात्र ।
डाल रही हैं कई नारियाँ, प्रभु तन पर लाजा नत-गात्र ।।
"चिरजीवो चिरजीवो" कहकर, कुछ अशीषें देती थीं ।
और कई प्रभु पीछे चलकर, चिदानन्द-रस लेती थीं ।।

१९. अहमहमिकया देव आ रहे, चार तरह के चारों ओर।
ऋषभनाथ प्रभु की दीक्षा का, उत्सव देखेंगे कर गौर ॥
पृथ्वी-तल को छाया-छादित, करते थे वे देव-विमान ।
मद-जल वरसाते गज लेकर, आते थे सुर मेघ समान ॥

२०. प्रभु के दोनों तरफ भरत औ, बाहुबली थे अति बलवान ।
अठानवें थे पुत्र विनययुत, श्री प्रभु के पीछे गतिमान ॥
माता मरुदेवी थी पत्नी, थी सुमंगलादिक सब साथ ।
साश्रु-नयन प्रभुवर के पीछे, चलती थी कटि पर दे हाथ ॥

२१. जग-उद्धारक प्रभु पहुंचे हैं, है सिद्धार्थ जहां उद्यान ।
वह मानों प्रभु के गत-भव का, है सर्वार्थ सिद्ध शुभयान ॥
तरू अशोक के नीचे उतरे, शिविका से जग-तारक ईश ।
भव-सागर से शीघ्र उतरता, जैसे निर्मोही योगीश ॥

२२. वस्त्राभूषण का कषायवत्, ऋषभनाथ ने त्याग किया ।
देव-दूष्य तब वस्त्र इन्द्र ने, प्रभु कंधे पर डाल दिया ॥
चन्द्र उत्तराषाढ़ा में था, चैत्र अष्टमी पहला पक्ष ॥
दिन का चौथा प्रहर श्रेष्ठ था, जयमंगल की ध्वनि प्रत्यक्ष ॥

पंच मुष्टि लोच

२३. शिर के केशों का प्रभुवर ने, चार मुष्टि से लोच किया ।
प्रथम स्वर्ग के पति ने उनको, निज अँचल में बाँध लिया ॥
मुष्टि पांचवीं से करना था, जब फिर शेष कचों का लोच।
इन्द्र-प्रार्थना से तब प्रभु ने, शेष कचों को दिया विमोच ॥

२४. सुरपति ने जाकर केशों को, क्षीरोदधि में डाल दिया ।
कर से कर संकेत इन्द्र ने, वाद्य बजाना बन्द किया ॥
उस दिन ऋषभनाथ प्रभुवर का, था निर्जल छठ भक्त महान् ।
मन वैराग्य-रंग-रंजित था, और समुज्ज्वल अविचल ध्यान ॥

चार हजार शिष्यों के साथ ऋषभदेव की दीक्षा

२५. सुर-नर-असुर गणों के सम्मुख, सिद्धों को करके वन्दन ।
करता हूँ सावद्य योग का, प्रत्याख्यान निरालम्बन ।।
यों उच्चारण कर चरित्रवर, ग्रहण किया है दृढ़ परिणाम ।
जो कि अनन्य उपाय मुक्ति का, और दुखों से सदा विराम ।।

२६. प्रभु का संयम नरक-जीव को, क्षण भर सुख दिखलाता है ।
ताप-तप्त नर घन-छाया से, स्वल्प समय सुख पाता है ।।
उसी समय उत्पन्न हुआ है, प्रभु को चौथा ज्ञान महान् ।
मनुज-क्षेत्र में पंचेन्द्रिय के, मन का जिससे होता ज्ञान ।।

२७. महाकच्छ कच्छादि भूमिपति, जिनकी संख्या चार हजार ।
ऋषभनाथ प्रभु साथ सभी ने, की है मुनि-दीक्षा स्वीकार ।।
मित्रों ने उनको रोका है, और कुटुम्बी जन ने भी ।
वार-वार प्रतिषेध किया है, भरत अयोध्या नृप ने भी ।।

२८. तो भी तृणवत् राज्य, पुत्र, स्त्री, गेह आदि का त्याग किया ।
अपने स्वामी की करुणा पर, अन्तर दिल से ध्यान दिया ।।
अलिवत्[2] प्रभु के चरण-कमल का,-विरह सह्य होगा न कभी ।
जो अपने स्वामी की गति है, वही हमारी सही अभी ।।

इन्द्र स्तुति

२९. अब बद्धांजलि इन्द्रादिक सब, प्रभु की स्तवना करते हैं ।
भव-भव के संचित कर्मों को, नम्र-भाव से हरते हैं ।।
प्रभो ! आपके गुण-वर्णन में, हम अशक्त निज को पाते ।
फिर भी देव ! हमारी मति को, विकसित करने गुण गाते ।।

३०. हिंसा तजकर आप बने हैं, अभयदान-दात्री शाला ।
और झूठ को त्याग, बने हैं, सत्य सुधा-जल घन-माला ।।
पुनः अदत्तादान त्याग कर, बने आप विश्वस्त महान् ।
ब्रह्मचर्य व्रत को धारणकर, प्रभु हैं तेजस्वी भास्वान ।।

---

१. दो दिन का उपवास २. भ्रमर की तरह

३१. आप बने हैं निर्मोही प्रभु, सकल परिग्रह का कर त्याग।
महाव्रतों का भार उठाने, बली ऋषभ हैं, हे गत-राग! ॥
ऐसे स्तुति कर देव गये वे, नन्दीश्वर जाकर निज स्थान।
भरत आदि भी प्रभु को वन्दन, कर फिर पहुंचे अपने स्थान ॥

विहार

३२. सह दीक्षित मुनि कच्छादिक सह, मौनी प्रभु ने किया विहार।
गए गोचरी लाने प्रभुवर, मगर मिले कैसे आहार ॥
कारण, नहीं जानते थे जन, कैसे देना भिक्षा-दान।
प्रभु को राजा समझ प्राग्वत् करते हैं वे अश्वप्रदान ॥

३३. कई अप्सराओं सी सुन्दर, कन्याएं करते उपहार।
कई लोग हीरों पन्नों के, भूषण की करते मनुहार ॥
कई कीमती कपड़े लाते, तरह तरह के जो रंगीन।
किन्तु एक भी चीज न लेते, उनमें से प्रभु त्याग-प्रवीण ॥

३४. भिक्षा प्राप्त न हुई कहीं पर, फिर भी प्रभु की वृत्ति अदीन।
करते जंगम-तीर्थ तरह वे, जग को पावन निज में लीन ॥
भूख-प्यास को ऐसे सहते, मानों धातुज[1] हैं न शरीर।
दीक्षित नृप भी नाथ साथ हैं, किन्तु हुए हैं कई अधीर ॥

जटाधारी तापसों की उत्पत्ति

३५. भूख-प्यास से पीड़ित नृप वे, है न उन्हें तत्त्वों का ज्ञान।
सोच रहे हैं तब वे मन में, अपनी अपनी बुद्धि प्रमाण ॥
मीठे फल भी नाथ न खाते, मान रहे किम्पाक समान।
खारे जल की तरह न करते, प्रभु मीठे जल का भी पान ॥

३६. रहते हैं निरपेक्ष देह से, करते नहीं विलेपन स्नान।
वस्त्र अलंकारों को प्रभुवर, समझ रहे हैं भार समान ॥
पवनोत्थित धूली को धारण, करते है प्रभु अद्रि समान।
और सूर्य के प्रखर ताप को भी, सहलेते हैं भगवान ॥

---

१. सात धातुओं का बना हुआ नहीं है।

३७. कभी न सोते नींद न लेते, थकते हैं न कभी भगवान ।
उत्तम गजवत् सरदी गरमी, में रखते सम-भाव महान् ।।
ये प्रभु गिनते नहीं भूख को, और पिपासा को न कभी ।
अपराधी की भाँति हमें प्रभु, करते हैं न प्रसन्न कभी ।।

३८. यों विचार कर सभी तपस्वी, गए कच्छ[1] नेता के पास ।
जो हैं प्रभु के निकट निवासी, सेवक सम रहते सोल्लास ।।
कहते हैं प्रभु कहां क्षुधाजित्, कहां अन्न के हम हैं कीट ।
कहां प्यासजित् नाथ कहां हम, पानी के मेंढक समधीठ ।।

३९. कहां शीत से विगत-भीत प्रभु ! कहां भीत हम सब हैं लोग ।
कहां नींद से रहित नाथ प्रभु. कहां नींद-रत हम सब लोग ।।
गरुड़ विहंगम की करते हैं, अनुगति कौवे अज्ञानी ।
प्रभु-दीक्षा के अनुकारी बन, हमने की है नादानी ।।

४०. तब अपने जीवन-यापन हित, क्या लें पुनः राज्य जो त्यक्त ।
मगर भरत ने उन पर अपना, ही अधिकार किया है व्यक्त ।।
क्या जीवन-निर्वाह हमारा, भरत आसरा पाने में ।
किन्तु भरत की भीति अधिक है, स्वामी को तज जाने में ।।

४१. आर्य-प्रवर ! हैं आप नाथ के, पास सदा रहने वाले ।
और आप उनके भावों को, भी अवगत करने वाले ।।
अतः आप अब हमें बतायें, क्या कर्तव्य हमारा है ।
क्योंकि अभी दिग्मूढ़ बने हैं, और न सबल सहारा है ।।

४२. ज्यों कि स्वयं-भूरमण उदधि का, पार न कोई पा सकता ।
त्यों अपने प्रभु के भावों का, ज्ञान न कोई कर सकता ।।
पहले हम चलते थे प्रभु की, आज्ञा के अनुसार सदा ।
किन्तु अभी तो मौनी प्रभु हैं, अतः बोलते नहीं कदा ।।

४३. जैसे अभी न आप जानते, प्रभुवर के मानस की बात ।
वैसे हम भी कुछ न जानते, दशा एक सी ही साक्षात् ।।
फिर आपस में कर विचार वे, गये सभी गंगा के तीर ।
कंद-मूल का भोजन चालू, किया उन्होंने पीना नीर ।।

---

१. कच्छ और महाकच्छ सभी तपस्वियों के नेता थे ।

४४. उसी समय से भूमण्डल पर, फिरने लगे जटाधारी ।
कंद-मूल खाते वे तापस, थी जमात उनकी भारी ।।
होता है अनुकरण न हितकर, ज्ञान बिना यह बात सही ।
अगर क्रिया के साथ ज्ञान हो, वह निष्फल होती न कहीं ।।

नमि विनमि का प्रभु की भक्ति करना और विद्याधरों का ऐश्वर्य पाना

४५. कच्छ और नृप महाकच्छ के, थे नमि विनमि पुत्र सुविनीत ।
प्रभु ने दीक्षा ली तब वे सब, गए हुए थे दूर अभीत ।।
वापस आते समय उन्होंने, जब निज जनक तरफ देखा ।
तब खिंच गई हृदय पर उनके, एक खिन्नता की रेखा ।।

४६. अपने जनकों की क्यों ऐसी, दशा हुई यह चित्र महान् ।
कहां कीमती वस्त्र और ये, कहां भील के वस्त्र समान ।।
कहां गजों की श्रेष्ठ सवारी, कहां नग्न पद से चलना ।
कहां फूल सी कोमल शय्या, कहां भूमि-शय्या करना ।।

४७. तात-पाद को पूछ रहे हैं, बद्धांजलि कर भक्ति प्रणाम ।
तब उनको सब स्थिति बतलाई, जीवन में जो घटी तमाम ।।
ऋषभदेव ने सब पुत्रों में, भूमि बांट, ली है दीक्षा ।
हम सबने भी साहस करके, ली है उनके अनुदीक्षा ।।

४८. भूख-प्यास के दुःखों से भय, खाकर व्रत को त्याग दिया ।
फिर भी उचित न घर जाना है, अतः यहीं पर वास किया ।।
तात-पाद की सुनकर बातें, आये हैं वे प्रभु के पास ।
हम भी अपना हिस्सा मांगे, एक यही है मन की प्यास ।।

४९. ध्यान-स्थित प्रभु के चरणों में, नमस्कार सह-भक्ति किया ।
वे न जानते थे कि नाथ ने, अब तो सब कुछ छोड़ दिया ।।
अतः उन्होंने कहा आपने, हमको भेज दिया परदेश ।
भरत आदि को सब भू देकर, स्वीकृत किया संत का वेष ।।

५०. हमको गोष्पद[1] मात्र भूमि भी, नहीं मिली प्रभु के द्वारा।
इसीलिए हे प्रभुवर ! हमको, देना होगा बँटवारा ।।
क्या अपराध हमारा देखा, जो कि नहीं करते हैं बात ।
ऐसा कहने पर भी प्रभु ने, नहीं दिया उत्तर साक्षात् ।।

५१. निर्मोही मानव सदा, रहते निज में लीन ।
दुनियां की चिन्ता नहीं, करते कभी प्रवीण ।।

५२. सेवा करना काम हमारा, चाहे बोलें नाथ नहीं ।
यों विचार कर सेवा में रत, रहते, जाते नहीं कहीं ।।
प्रभु के चारों ओर भूमि की, धूल नहीं उड़ने पाये ।
अतः छिड़कते थे वे पानी, कमल-दलों में जो लाये ।।

५३. प्रातः प्रभु के आगे सुरभित,-फूलों के गुच्छे रखते ।
हाथों में तलवारें लेकर, प्रभु-सेवा का रस चखते ।।
प्रातः सायं औ दुपहर में, बद्धांजलि यांचा करते ।
स्वामिन् ! हम को राज्य दीजिए, हम चरणों में सिर धरते ।।

५४. एक दिवस धरणेन्द्र, नाथ को, वन्दन करने हित आया ।
शिशु-सम सरल कुमारों को वह, देख-देख कर चकराया ।।
राज्य-रमा की प्रभु से यांचा, पुनः पुनः वे करते हैं ।
और भक्ति से सेवा करते, नहीं कष्ट से डरते हैं ।।

५५. पूछ रहा धरणेन्द्र कौन हो, और तुम्हारा क्या अभिधान ।
और बड़े आग्रह से प्रभु से, मांग रहे हो क्या अनुदान ।।
कहां गये थे जब प्रभुवर ने, एक वरस तक दान दिया ।
अब तो प्रभुवर ने निःस्पृह बन, जग-ममता का त्याग किया ।।

५६. एक हमारे ये ही स्वामी, हम सेवक सेवाकारी ।
हमें इन्होंने दूर भेज कर, ली है दीक्षा अघहारी ।।
पीछे से अपने पुत्रों को, बांट दिया है सारा राज्य ।
तो भी लेंगे इनसे ही हम, क्यों मांगे औरों से भाज्य ।।

---

१. गाय के खुर का निशान या उससे बना गड्ढा ।

५७. सेवक को सेवा से मतलब, उसे न करना यह चिंतन ।
कुछ भी पास नहीं स्वामी के, क्या देंगे वे निष्किंचन ॥
तब बोले धरणेन्द्र देव तुम, जाओ चक्री भरत समीप ।
उससे मांगो क्योंकि वही है, प्रभु-सम प्रभु के कुल का दीप ॥

५८. फिर बोले नमि और विनमि "अब, क्यों जाएँ औरों के पास' ।
जबकि हमारे प्रभु सुरतरु हैं, क्यों रक्खें औरों की आश ॥
सुरतरु तजकर तरु करीर[1] के, निकट नहीं जाता मतिमान ।
घन को तजकर चातक करता, कभी न धरती जल का पान ॥

५९. यही हमारा है दृढ़ निश्चय, जो कुछ देंगे, देंगे नाथ ।
औरों से कुछ कभी न लेंगे, लेंगे निज स्वामी के हाथ ॥
उनकी ऐसी बातें सुनकर, प्रमुदित बहुत हुआ नागेश ।
और कहा उसने मेरे भी, स्वामी ऋषभनाथ तीर्थेश ॥

६०. धन्यवाद के भाजन तुम हो, तुम हो भाग्यवान मतिमान ।
'ये स्वामी ही सेवनीय हैं,' श्रेष्ठ तुम्हारी दृढ़ श्रद्धान ॥
इनको सेवा से मिलती है, राज्य-सम्पदा अपने-आप ।
इनकी सेवा से मिलती है, देवलोक की ऋद्धि अमाप ॥

६१. इनकी सेवा करने वाला, पाता है शिव-सुख का स्थान ।
किं बहुना इनकी सेवा से, मानव बन जाता भगवान ॥
चरण-दास हूँ मैं इन प्रभु का, तुम भी हो इन प्रभु के दास ।
विद्याधर पतियों की प्रभुता, देता हूँ तुमको सोल्लास ॥

६२. इनकी सेवा फलस्वरूप ही, तुमको राज्य मिला है आज ।
मानों स्वामी ने ही तुमको, राज्य दिया है सह सब साज ॥
पुनः[2] देव ने गौरी आदिक, विद्या अड़तालीस हजार ।
जो कि पाठ करते ही देती, वांछित-सिद्धि सदा साकार ॥

---

१. एक कंटीली झाड़ी २. धरणेन्द्र

६३. ये विद्याएँ देकर उनको, कहा, नागपति ने तत्काल ।
जाओ गिरि[1] पर नगर बसाओ, करो वहाँ पर राज्य विशाल ।।
नमस्कार कर प्रभु को पुष्पक, नाम विमान[2] बनाते हैं ।
उस पर हो आरूढ़ नागपति, संग विनमि-नमि आते हैं ।।

६४. महाकच्छ औ कच्छ पिता को, सब वृत्तान्त सुनाते हैं ।
और भरत को भी वे अपनी, सारी ऋद्धि बताते हैं ।।
तदनन्तर अपने स्वजनों को, परिकर को भी लेकर साथ ।
आये गिरि वैताढ्य जहां है, नगर बसाना हाथो-हाथ ।।

वैताढ्य गिरि पर नगर निर्माण

६५. भरत क्षेत्र के मध्य भाग में, है पर्वत वैताढ्य सुठौर ।
वह पचास योजन है लम्बा, पश्चिम और पूर्व की ओर ।।
है योजन पच्चीस भूमि से, ऊंचा नीचा अंग[3] सपाद ।
गंगा और सिन्धु सरिताएं, करती हैं तन्निकट निनाद ।।

६६. उनमें दो हैं गुफा तिमिश्रा, खंड प्रपा जिनका अभिधान ।
नयनानन्द-प्रदाता सुन्दर, मन्दिर श्रेणी औ उद्यान ।।
मानों कंठाभूषण ही हो, वैसे विविध रत्न वाले ।
उसके ऊपर हैं शिखर नौ, देवों के क्रीड़ा वाले ।।

६७. उसके विंशति योजन ऊपर, दक्षिण, उत्तर ओर महान् ।
व्यंतर देवों के रहने की, उभय श्रेणियां सत् संस्थान ।।
जड़ से लेकर चोटी तक है, स्वर्ण-शिलाएँ अति रमणीक ।
मानो स्वः का पाद-कटक[4] ही, भू पर गिर आया निर्भीक ।।

६८. पवन-प्रकम्पित तरु शाखाएँ,-मानों भुजादण्ड बलवान ।
जो कि करों के संकेतों से, उनको करती है आह्वान ।।
नमि राजा ने भू-तल से फिर, दश योजन ऊपर की ओर ।
नगर पचास बसाए सुन्दर, दक्षिण हिस्से में शुभ ठौर ।।

---

१. वैताढ्य गिरि के दोनों तरफ २. विद्या-बल से बनाया ३. सवा छः योजन
४. पैरों का एक जेवर ।

६९. किन्नर पुरुषों ने मिलकर पुनि, पहले मंगल-गान किया।
फिर नमि ने रथनुपुर[1] नगर में अपना सुस्थिर स्थान किया॥
नगर बसाए साठ विनमि ने, पर्वत के उत्तर की ओर।
नभ[2] वल्लभ नामक नगरी में, वास किया है देख सुठौर॥

७०. पुनः विनमि-नमि ने वहाँ, कई बसाये ग्राम।
और नगर, जनपद कई, दर्शनीय अभिराम॥

७१. सब नगरों में है जहां, भव्य सभा रमणीय।
सुन्दर मन्दिर श्रेणियों, से है जो कमनीय॥

७२. विद्याओं से हो नहीं, विद्याधर अविनीत।
अतः नियम नागेन्द्र ने, निश्चित किये पुनीत॥

७३. जिनपति जिन-आगम तथा, चरम शरीरी संत।
ध्यान-स्थित अनगार जो, हैं त्यागी अत्यन्त॥

७४. अगर करेगा जो पुरुष, इन सबका अपमान।
रह पायेगा फिर नहीं, उसका विद्या-ज्ञान॥

७५. पर-नारी को जो पुरुष, देखेगा प्रतिकूल।
उसके विद्या-वृक्ष का, नहीं रहेगा मूल॥

७६. इस आज्ञा का जो किया, नागेश्वर ने घोष।
रत्नों की दीवार पर, खुदवाया निर्दोष॥

७७. नमि नृप का औ विनमि का, हुआ राज्य-अभिषेक।
विद्याधर गण के बने, विधिवत् राजा छेक॥

७८. अन्य व्यवस्थाएं सभी, कर धरणेन्द्र महान्।
समुद वहां से हो गया, तत्क्षण अन्तर्धान॥

७९. विद्याओं के नाम से, हुई जातियाँ ख्यात।
विद्याधर गण की हुई, वे सोलह प्रख्यात॥

८०. नमि भूपति के राज्य में, जाति हुई वे अष्ट।
अष्ट विनमि के राज्य में, ये सब सोलह स्पष्ट॥

---

१. रथनुपुर चक्रवाल

२. गगन-वल्लभ नगर में विनमि ने धरणेन्द्र की आज्ञा से निवास किया।

८१. अपनी अपनी जाति में, जो हैं विद्या-देव ।
उनकी की है स्थापना, उन सबने स्वयमेव ।।

८२. अद्रि-शिखर पर नमि-विनमि, जाकर सह परिवार ।
करते हैं क्रीड़ा वहां, मन में हर्ष अपार ।।

८३. जाते क्षेत्र विदेह में, जहां देव अरिहंत ।
उनकी वाणी श्रवण कर, प्रमुदित मन अत्यन्त ।।

८४. कई वार वे भक्ति से, चारण मुनियों पास ।
धर्म-देशना श्रवणकर, करते ज्ञान-प्रकाश ।।

८५. कच्छ और नृप महाकच्छ जो, हुए तपस्वी वनवासी ।
वे गंगा के तट पर मृगवत्, घूम रहे हैं सन्यासी ।।
वल्कल[1] के धारण कर चीवर लगते थे तरु तुल्य सही ।
घरवासी के भोजन को वे, अपनाते थे कभी नहीं ।।

८६. तप के द्वारा क्षीण हुआ है, देह अस्थि-पञ्जर उपमान ।
तरु से अपने आप गिरे हों, भू-पर ललित पुष्प फल पान ।।
उनका करते थे वे भोजन, यही पारणे में क्रम था ।
एक ध्यान बस ध्याते प्रभु का, उनका यही उपक्रम था ।।

साधु अवस्था

ऋषभ यति-पति प्रथम जिनपति, सुमति समता में रति ।
साधना-रत सतत सुव्रत, तिमिर-हारी दिनपति ।।ध्रुवपद ।।

८७. मौन धारण कर जिनेश्वर, कर रहे विहरण सदा ।
देश आर्य अनार्य में भी, गये प्रभु सम-सम्पदा ।।
निराहार विहार करते, वर्ष बीता एक है ।
ज्ञान विन अनजान जग को, दान का न विवेक है ।।

८८. वृक्ष फलते हैं सलिल से, दीप जलते तेल से ।
प्राणियों के देह टिकते, उचित भोजन-मेल से ।।
अत: जीवन के लिये है, उचित भोजन का ग्रहण ।
हो न सकता कभी उसके, बिना संयम-निर्वहण ।।

---

१. पेड़ की छाल के

८९. मुनि को लेना चाहिए, भोजन त्रिकरण शुद्ध ।
भ्रमरवृत्ति से देखकर, दाता-भाव विशुद्ध ।।

९०. विगत समय की भांति फिर, करूँ न यदि आहार ।
टिका रहेगा देह यह, मेरा तो अविकार ।।

९१. किन्तु न मिलने से अशन, ज्यों मुनि चार हजार ।
भ्रष्ट हुए हैं धर्म से, तजकर मुनि आचार ।।

९२. वैसे ही फिर दूसरे, हो जाएंगे भ्रष्ट ।
ऋषभनाथ प्रभु ने किया, यों विचार फिर स्पष्ट ।।

श्रेयांस का स्वप्न

९३. ऋषभ जिनपति सुभग गज-गति, हस्तिनापुर आ रहे ।
वे तितिक्षा-मूर्ति घर-घर, गोचरी-हित जा रहे ।।
वहाँ नरपति सोम[1]-प्रभ का, पुत्र श्री श्रेयांस है ।
स्वप्न आया मेरु गिरि का, जो कि श्यामाभास है ।।

९४. दुग्ध-घट से सींचकर, उसका किया शुभ रूप है ।
कर रहा श्रेयांस चिन्तन, कौन मेरु-स्वरूप है ।।
"रश्मि रवि की हुई निःसृत" स्वप्न देखा सेठ[2] ने ।
उन्हें स्थापित पुनः की है, सूर्य में श्रेयांस ने ।।

९५. देखता है यशोत्तर नृप, सोम[3] स्वप्न निशा समय ।
शत्रु-गण से घिरे नृप ने, प्राप्त की रण में विजय ।।
मिली उसमें शक्ति अपने, पुत्र श्री-श्रेयांस की ।
कर रहा है अब प्रतिक्षा !, सफल स्वप्नाभास की ।।

९६. स्वप्न तीनों हैं सुनाते, दिल परस्पर खोलकर ।
किन्तु उनके कारणों की, है न कोई भी खबर ।।
गोचरी के लिए गजपुर, में हुआ प्रभु[4] आगमन ।
आज मानों वे करेंगे, स्वप्न के फल का कथन ।।

---

१. बाहुबलि का पुत्र २. सुबुद्धि नाम का सेठ
३. यश है उत्तर जिसके अर्थात् सोमयशा नृपति ४. ऋषभनाथ प्रभु

९७. पादचारी निराहारी, ऋषभ प्रभु को देखकर ।
अहो! आये प्रभु हमारे, हुआ आनन्दित नगर ।।
छोड़कर घर सभी दौड़े, खड़े प्रभु को घेरकर ।
एक बोला प्रभो! चलिये, कृपाकर मम गेह पर ।।

९८. दूसरे ने कहा करलो, छत्र धारण शीष पर ।
तीसरे ने कहा करुणा, करो चन्दन-लेप कर ।।
भूषणों से देह भूषित, करो चौथा कह रहा ।
मनोहर ये वस्त्र पहनों, पाँचवें नर ने कहा ।।

९९. किसी ने फिर कहा कन्या, भेंट यह स्वीकृत करो ।
किसी ने फिर कहा गज की, सवारी पर पग धरो ।।
तो किसी ने कहा हय यह, पवन-गतिवाला सुखद ।
फिर किसी ने कहा रथ को, करो पावन अभय-प्रद !।।

१००. इस तरह सब लोग करते, प्रार्थना कर जोड़कर ।
मगर प्रभु तो जा रहे हैं, उन सभी को छोड़कर ।।
चांद जैसे घूमता हर-एक तारे पर सदा ।
फिर रहे घर-घर तथा प्रभु, गोचरी के हित मुदा ।।

१०१. जन-कोलाहल श्रवण कर, श्री श्रेयांस कुमार ।
छड़ीदार को कह रहा, क्यों यह तुमुल अपार ।।

१०२. जाकर उसने शहर में, देखा पुर का हाल ।
वापस आकर कह रहा, हाथ-जोड़ तत्काल ।।

१०३. त्रिभुवन के तारण-तरण, चिन्तामणि अनुहार ।
करते हैं इन्द्रादि भी, जिनकी सेवा सार ।।

१०४. किया जिन्होंने जगत में, लौकिक धर्म-प्रचार ।
जीवन के साधन सभी, बतलाएं साकार ।।

१०५. यथायोग्य भरतादि को, देकर भूमी-भाग ।
सब सांसारिक कार्य का, किया जिन्होंने त्याग ।।

१०६. किया सभी सावद्य का, आजीवन परिहार ।
कर्म-निर्जरा के लिए, जो करते तप सार ।।

१०७. घोर तपस्वी धैर्य-घन, करके पाद-विहार ।
धरणी-तल को कर रहे, पावन साक्षात्कार ।।

१०८. शीत-ताप में गिरि-सदृश, रखते समता-भाव ।
भूख-प्यास सहते सदा, है जग से अलगाव ।।

श्रेयांस से प्रभु का इक्षु रस पाना और अक्षयतृतीया के पर्व का प्रारम्भ होना

१०९. घोर तप-धारक ऋषभ प्रभु, तव पितामह के पिता ।
हैं पधारे नगर में वे, विविध है उपयोगिता ।।
गोप पीछे दौड़ती है, जिस तरह गौएं सदा ।
नगर-वासी दौड़ते हैं, नाथ के पीछे मुदा ।।

११० यों सुना श्रेयांस ने सब, शीघ्र दौड़ा जा रहा ।
हर्ष के अतिरेक से वह, रुक न सकता है वहां ।।
पैर नंगे दौड़ते युवराज को तब देखकर ।
शीघ्र दौड़े सभ्य-गण भी, वहीं सब कुछ छोड़कर ।।

१११. गृहांगण में देख प्रभु को, हुआ हर्ष-विभोर अब ।
निजकचों[1] से प्रभु चरण की, धूलि करता साफ सब ।।
धो रहा है आंसुओं से, ऋषभ प्रभुवर के चरण ।
फिर खड़ा हो देखता है, नाथ को अनिमिष नयन ।।

११२. अहो ! मैंने वेष ऐसा, भूत में देखा कभी ।
मिला चिन्तन मनन करते. जाति-स्मृति का फल तभी ।।
क्षेत्र पूर्व विदेह में थे, चक्रवर्ती प्रभु जहां ।
वज्रनाभ सुनाम उनका, सारथी था मैं वहां ।।

---

१. केशों

११३. उसी भव में नाथ के थे, तात[1] ऐसे तीर्थंकर ।
देखता हूँ ऋषभ प्रभु को, आज जैसे हर्ष घर-घर ॥
वज्रसेन जिनेश से की, ग्रहण दीक्षा है तदा ।
वज्रनाभ[2] नरेश ने अरु, साथ मैंने भी मुदा ॥

११४. वज्रसेन जिनेश से भी, सुना मैंने उस समय ।
प्रथम तीर्थंकर भरत में, ऋषभ होंगे विजितभय ॥
अन्य भव[3] में भी रहा हूँ, मैं इन्हीं के सह सदा ।
इस समय वे हैं पिता के, पितामह सम-सम्पदा ॥

११५. आज जग पर और मुझ पर, कर कृपा आये यहां ।
पूर्व संचित पुण्य से हो, आज दर्शन पा रहा ॥
इक्षु-रस के कुम्भ आये, भेंट में श्रेयांस-घर ।
जाति-स्मृति से दोष-विरहित, दान की विधि जानकर ॥

११६. ईश से श्रेयांस ने की, प्रार्थना कर जोड़ कर ।
करो करुणा आज मुझ पर, शुद्ध रस यह ग्रहण कर ॥
हस्त-रूपी पात्र उसके, सामने प्रभु ने किया ।
तब उठाकर कुम्भ रस, के दान उसने है दिया ॥

११७. अंजली में मधुर रस वह, इस तरह स्थिर हो गया ।
गगन में मानों शिखा बन, आज वह रस जम गया ॥
किया वार्षिक तपस्या का, पारणा रस-पान कर ।
जोर से बजने लगे हैं, गगन में दुन्दुभि प्रवर ॥

११८. वृष्टि रत्नों की हुई है, पुष्प की वर्षा सुखद ।
और चेलोत्क्षेप[4] वर्षा गन्ध जल आनन्द प्रद ॥
दिव्य पांचो प्रकट होते. आर्हतों के दान से ।
दिवस यह अक्षय हुआ है, तीज के अभिधान से ॥

---

१. वज्रसेन नाम का

२. ऋषभनाथ भगवान का जीव वज्रनाभ नाम का चक्रवती था और वज्रसेन तीर्थंकर चक्रवती के पिता थे श्रेयांस कुमार का जीव चक्रवती का सारथि था ।

३. स्वयंप्रभादि के भव में ४. उज्ज्वल वस्त्रों की वृष्टि

११६. अतः अक्षयतृतीया के, नाम से यह दिन हुआ ।
आज भी प्रचलित जगत में, जो कि पहले था हुआ ।।
दान देना हुआ है प्रारम्भ, श्री श्रेयांस से ।
और सब व्यवहार जग के, आदि ईश-प्रयास से ।

१२०. वृष्टि रत्नों की हुई, प्रभु ने किया जब पारणा ।
थे चकित राजा प्रजा यह देख दान-प्रभावना ।।
वे सभी श्रेयांस नृप के आ रहे आवास में ।
कच्छ आदिक भूमि-पति भी आ रहे सब पास में ।।

१२१. पारणे की बात सुनकर हुए हैं, प्रमुदित सभी ।
देह रोमांचित हुई है, नगर लोगों की तभी ।।
कह रहे श्रेयांस को सब लोग ! तुम ही धन्य हो ।
दान देकर इक्षु रस का, तुम हुए कृत-कृत्य हो ।।

१२२. कर रहे हम भेंट सब कुछ, ग्रहण प्रभु ने की नहीं ।
ग्राम नगरों जंगलों में, वे नहीं ठहरे कहीं ।।
और सेवा तो किसी की, ग्रहण प्रभु ने की नहीं ।
है अतः धिक्कार हमको, हम रहे वंचित सही ।।

१२३. किया पूर्वों तक हमारा, जिन्होंने पालन सदा ।
किन्तु अब तो बात भी वे, नहीं करते हैं कदा ।।
तब कहा श्रेयांस ने, क्यों बात ऐसी कर रहे ।
हैं न स्वामी अब परिग्रह-वान नृप जो कुछ कहे ।।

१२४. इस समय सावद्य-कृत्यों, से विरत हो यति बने ।
स्नान, उबटन, वस्त्र, भूषण, से गृही रहते सने ।।
मगर भव से विरत के हित, ये सभी बेकार हैं ।
और कन्या-ग्रहण कैसे कर सके, अनगार हैं ।।

१२५. फल सचित्त न भोगते हैं, अवद्य-जीवी संयति ।
एषणीय विशुद्ध भोजन में सदा रखते रति ।।
नाथ ने बातें कभी ये, हमें बतलाई नहीं ।
आप कैसे जानते युवराज ! बतलाओ सही ।।

१२६. उपजती है वुद्धि जैसे, ग्रन्थ के अध्ययन से ।
जाति-स्मृति विज्ञान वैसे, है हुआ प्रभु दर्श से ।।
आठ भाव तक मैं रहा हूँ, साथ प्रभुवर के मुदा ।
है बहुत परिचय पुराना, नाथ से मेरा सदा ।।

१२७. इस भव से गत-तीसरे, भव में क्षेत्र विदेह ।
वज्रसेन थे प्रभु पिता, तीर्थंकर निःस्नेह ।।

१२८. उनसे प्रभु दीक्षित हुए, मैं भी तज-जग काज ।
उस भव की स्मृति से सभी, बातें जानी आज ।।

१२९. तात-पाद को, सेठ[1] को, और मुझे गत रात ।
आये थे जो स्वप्न यह, उनका फल साक्षात् ।।

१३०. श्याम मेरु को दूध से, धोया देखा अद्य ।
जो आया था स्वप्न यह, रात्रि समय अनवद्य ।।

१३१. तप से कृश तन जो हुआ, उसे इक्षु रस योग ।
करवाया है पारणा, हुए नाथ नीरोग ।।

१३२. मेरे तात-पाद ने देखा, जिनको अरि से करते युद्ध ।
वे हैं ये ही ऋषभनाथ प्रभु, जिनकी सारी चर्या शुद्ध ।।
और उन्होंने मेरे द्वारा, कारित पारणा के सहयोग ।
हरा दिया है परिषह-रूपी, वैरी-गण को समता-योग ।।

१३३. श्रेष्ठी सुवुद्धि ने देखा था, जो कि रात में स्वप्न प्रशान्त ।
मैंने रवि किरणों को वापस, आरोपित कर दिया नितान्त ।।
रवि के सन्निभ ये प्रभुवर हैं, किरण रूप है केवल-ज्ञान ।।
होते हुए विनष्ट उसी का[2], पुनः किया है अनुसंधान ।।

१३४. बातें सुन श्रेयांस की, हुए सभी सन्तुष्ट ।
अपने अपने घर गये, ज्ञान हुआ है पुष्ट ।।

---

१. सुबुद्धि सेठ को

२. प्रभु को आहार का अंतराय था । आहार के बिना शरीर नहीं टिकता, शरीर के बिना केवल ज्ञान नहीं होता । इसलिए कहा गया है कि आहार देकर श्रेयांस कुमार ने नष्ट होते हुए केवल ज्ञान को जोड़ दिया ।

बहली में प्रभु का आगमन

१३५. विहरण करते करते प्रभुवर, आये बहली, हो आत्मस्थ ।
सायं तक्षशिला के बाहर,-रहे बाग में शुभध्यानस्थ ।।
बागवान ने बाहुबली को, जाकर यह सन्देश दिया ।
तीन भुवन के तारक प्रभु ने, पुण्य-पदार्पण आज किया ।।

१३६. बाहुबली ने सुनकर तत्क्षण, प्रभु के शुभागमन की बात ।
"करो सुसज्जित शीघ्र नगर को," दी है यह आज्ञा अवदात ।।
जगह-जगह कदली-स्तम्भों की, तोरण मालाएं कमनीय ।
हर-रास्ते पर मंच बनाये, जो हैं रत्नों से रमणीय ।।

१३७. उच्च पताकाओं की श्रेणी के, मिष नगरी नाच रही ।
कुंकुम जल से आर्द्र भूमि में, अंग राग है किया सही ।।
प्रभु-दर्शन की उत्सुकता से, सत्वर जाग्रत नगर हुआ ।
शीघ्र करूँ मैं प्रभु के दर्शन, बहली-पति तैयार हुआ ।।

१३८. प्रातः होते ही प्रभुवर ने, किया वहां से उग्र विहार ।
इधर चले हैं बाहुबली नृप, प्रभु-दर्शन-हित हर्ष अपार ।।
बड़े बड़े नृप औ मंत्री भी, उनकी सेवा में हैं साथ ।
और सुसज्जित सेना से हो, रहा सुशोभित बहली-नाथ ।।

१३९. अन्तःपुर की सभी रानियाँ, सज्जित हो तैयार खड़ी ।
प्रभु-दर्शन की है उत्कंठा, एक यही है साध बड़ी ।।
स्वर्ण छड़ीवाला प्रतिहारक, आगे पथ दिखलाता था ।
घुड़सवार हैं पीछे मानव-संघ न वहां समाता था ।।

१४०. बाहुबली आरूढ़ हुए थे, भद्रजाति के हाथी पर ।
वंदी-जन के जयकारों से, सभी दिशाएँ हुई मुखर ।।
दर्शन-प्यासे बाहुबली नृप, आये जब उपवन के पास ।
गज से नीचे उतर राज के,-चिन्ह उतारे हैं सोल्लास ।।

---

१. श्रेयांस ने रत्नमय पीठिका बनवाई २. ऋषभनाथ भगवान

१४१. विना चन्द्र के नभ-तल जैसे, विन प्रभु के देखा उद्यान ।
प्रभु-दर्शन के इच्छुक नृप ने, पूछा "कहां पूज्य भगवान?" ।।
वन-पालक बोला, "प्रभु ने तो, आगे कहीं विहार किया ।
देना खवर आपको हमने, ऐसा अभी विचार किया" ।।

१४२. इतने में ही आप आ गये, किन्तु आपके हुए न दर्श ।
यों सुनते ही बाहुवली का, मानस हुआ व्यथित उत्कर्ष ।।
साश्रु नयन अव सोच रहे हैं, हा ! पूरी न हुई है चाह ।
प्रभु के दर्शन कर न सका मैं, अन्तराय का योग अथाह ।।

१४३. स्वामी को मैं देख न पाया, अप्रभात है अतः प्रभात ।
और सूर्य भी यह असूर्य है, तथा नयन अनयन साक्षात् ।।
ओह ! रात को तीन भुवन-पति, रहे यहां पर प्रतिमा-रूप ।
हीन-पुण्य है वाहुवली ! तू, महलों में सो रहा विरूप ।।

१४४. प्रभु के दर्शन विना हुए हैं, खिन्न वाहुवलि तव अत्यन्त ।
मंत्री ने तव कहा आपके मन में संस्थापित भगवंत ।।
और चिन्ह ये प्रभु चरणों के, उनको देख रहे साक्षात् ।
अतः मानिये भाव-दृष्टि से, प्रभु को देखा है अवदात ।।

१४५. वात सचिव की श्रवण कर, तत्क्षण वहली नाथ ।
आये पुर में खिन्न हो, निज परिकर के साथ ।।

केवल ज्ञान प्राप्ति

१४६. विविध तपस्याओं में रत प्रभु, अप्रतिवद्ध विहारी थे ।
भीषण कष्टों को समता से, सहते जग-हितकारी थे ।।
विविध अभिग्रह-धारक मौनी, पतितोद्धारक निर्मोही ।
एक दिवस सम वर्ष विताए दश[1]-सौ अन्तर अरिद्रोही ।।

१४७. विहरण करते करते क्रमशः, पुरी अयोध्या में आये ।
पुरिमताल उपनगर उसी का, देव-पुरी-सम कहलाये ।।
उसकी उत्तर ओर शकटमुख, है उद्यान अधिक रमणीक ।
उसमें ऋषभनाथ प्रभुवर ने, स्वस्थ प्रवेश किया निर्भीक ।।

---

१. हजार वर्ष

१४८. अष्टम तप-धारी प्रतिमा-स्थित, गुरणस्थान सप्तम-धारी ।
पुनः आठवें गुरणस्थान में, श्रेणी[1] क्षपक श्रेय-कारी ।।
तदनन्तर गुरणस्थान नवम को, और दशम को प्राप्त किया ।
ऐक्यश्रुत[2] अविचार प्राप्त कर, क्षीरण-मोह का स्थान लिया ।।

१४९. दर्शन ज्ञानावरण साथ में, अन्तराय का नाश किया ।
एकादशी प्रथम फाल्गुन की, प्रातः "केवल" प्राप्त किया ।।
प्रमुदित हुई दिशाएँ सारी, चली हवा भी सुखकारी ।
क्षणभर नारक जीवों को भी, सुख का स्पर्श हुआ भारी ।।

१५०. तत्क्षरण सुरपुर में इन्द्रों के, हुए प्रकम्पित देव-विमान ।
मानो केवल उत्सव के हित, प्रेरित करते सब का ध्यान ।।
सब स्वर्गों में घंटे बजने,-लगे मधुर जिनकी आवाज ।
मानों स्वर्ग-स्थित देवों को, बुला रहे हैं वे निर्व्याज ।।

१५१. सौधर्मेश्वर ने प्रभु चरणों, में जाने का किया विचार ।
ऐरावण नामक सुर आया, गज का धारण कर अवतार ।।
उसने अपना देह बनाया, एक लाख योजन विस्तार ।
मानो प्रभु-दर्शक का इच्छुक, है जंगम-सुरगिरि साकार ।।

१५२. स्वर्ण-पत्र से सज्जित उसके, आठ-आठ मुंह और ललाट ।
किंचित् टेढ़े मोटे ऊंचे, थे हर-मुंह में रद भी आठ ।।
थी प्रत्येक दांत पर उसके, एक-एक पुष्करिणी रम्य ।
थे हर पुष्करिणी के जल में, आठ-आठ वर कमल सुरम्य ।।

१५३. थे प्रत्येक कमल में पत्ते, आठ-आठ सुन्दर-तम स्पष्ट ।
हर पत्ते पर चार तरह के, अभिनय* युत नाटक थे अष्ट ।।
और वहां थे हर-नाटक में, द्वात्रिंशत् वर नाटक-कार ।
ऐसे उत्तम गज पर बैठा, सौधर्मेश्वर सह-परिवार ।।

---

१. सविचार पृथकत्व वितर्क युक्त नामक शुक्ल ध्यान की प्रथम श्रेणी ।
२. एकत्व का चिंतन करने वाला ध्यान एकत्व श्रुत है और इसमें परिवर्तन नहीं होता इसलिए यह अविचार है ।
* हाथ आदि से हृदय के भाव को बताना ।

१५४. क्रमशः अपने तन को छोटा, करता हुआ चला गजराज ।
क्षण में जा पहुंचा उपवन में, जहां विराजित थे जिनराज ।।
और दूसरे सुरपति-गण भी, अहमहमिकया[1] हर्ष-समेत ।
प्रभु के चरणों में पहुँचे थे, दिव्य देवताओं समुपेत ।।

समवसरण

१५५. समवसरण की रचनासुर-गण, करते हैं मन हर्ष अपार ।
योजन परिमित भूमि-प्रमार्जन, करते हैं अब वायु कुमार ।।
मेघ-कुमार देव करते हैं, सुरभित पानी की बरसात ।
स्वर्ण-रत्न का फर्श बनाया, व्यंतर देवों ने साक्षात् ।।

१५६. उस पर सुरभित पांच रंग के, फूल विछाये हैं तत्काल ।
चारों ओर स्वर्ण रत्नों के,-तोरण बांधे बहुत विशाल ।।
रत्नादिक की वहाँ पुतलियां, आपस में प्रतिविम्बित हैं ।
मानो सखियाँ प्रेमालिंगन कर, आपस में प्रमुदित हैं ।।

१५७. श्वेत-छत्र थे वहाँ सुशोभित, और ध्वजायें फहराती ।
मानों हाथों को ऊँचे कर, पृथ्वी नर्तन दिखलाती ।।
और तोरणों के नीचे थे, स्वस्तिक आदिक मंगल अष्ट ।
जो पूजा के लिए विनिर्मित, वेदी तुल्य दीखते स्पष्ट ।।

१५८. समवसरण के ऊपर का जो, भाग बड़ा भारी रमणीय ।
वहाँ बनाया रत्नों का गढ़[2], वैमानिक सुर ने कमनीय ।।
उस गढ़ पर मणियों के निर्मित, कंगूरे थे रम्य महान ।
स्वीय रश्मियों से वे नभ को, करते रंजित वसन समान ।।

१५९ मध्य-भाग में ज्योतिष्पति ने, स्वर्णिम गढ़ बनवाया है ।
रत्न-जटित कंगूरों से जो, अतिशय शोभा पाया है ।।
भुवनाधिप ने बाह्य भाग में, चांदी का गढ़ बना दिया ।
उस पर सोने के कंगूरे, दर्शक का मन हरण किया ।।

१६०. तीन गढ़ों वाली वह भूमि, थी नयनानन्दन-कारी ।
थे हर गढ़ में चार-चार वर, द्वार सुसज्जित जो भारी ।।
धूप-दानियां रखी हुई थीं, व्यंतर देवों के द्वारा ।
छोड़ रही थीं हर-दरवाजे, धूम्र सुरभिमय की धारा ।।

---

१. होड़ से २. प्रथम गढ़

१६१. हर-दरवाजे पर गढ़ के सम. चारों पथ औ अन्दर भी ।
बनवाई थी स्वर्ण-कमल की, बावड़ियां रमणीय सभी ।।
गढ़ द्वितीय में एक बनाया, देव छन्द[1] रमणीय महान् ।
जो ईशान कोण में प्रभु के, था विश्राम काम[2] पहचान ।।

१६२. पहले गढ़ के पूर्व द्वार में, अन्दर दोनों तरफ बड़े ।
द्वारपाल होकर कनकाभा, वैमानिक दो देव खड़े ।।
दक्षिण दरवाजे में दोनों, तरफ द्वाःस्थ है व्यंतर देव ।
थे पश्चिम में लाल रंग के, दो ज्योतिष्क द्वाःस्थ स्वयमेव ।।

१६३. उत्तर के दरवाजे पर हैं, मानो उन्नत मेघ समान ।
द्वारपाल होकर भुवनाधिप, दोनों तरफ खड़े बलवान ।।
गढ़[3] द्वितीय के दरवाजों पर, दो, दो देवी प्रतिहारी ।
अन्तिम गढ़ के दरवाजों पर, देव-द्वय पहरेदारी ।।

१६४. समवसरण के मध्य-भाग में, ऊंचा तीन कोस परिमाण ।
चैत्य-वृक्ष व्यंतर देवों के, द्वारा किया गया निर्माण ।।
अपनी आभा से जो देता, रत्नत्रय का उदयाभास ।
उस तरु के नीचे रत्नों की, पीठ बनाई दिव्य प्रकाश ।।

१६५. उसी पीठ पर एक बनाया, छंदक[4] मणियों का रमणीय ।
फिर छंदक के मध्य-भाग में, पादपीठ संयुत कमनीय ।।
एक बनाया था रत्नों का, सिंहासन प्राची की ओर ।
उस पर उज्ज्वल तीन छत्र का, शीघ्र किया निर्माण सजोर ।।

१६६. सिंहासन के उभय पार्श्व में, लेकर चमर खड़े थे यक्ष ।
भक्ति समाई नहीं हृदय में, मानों चमर-व्याज प्रत्यक्ष ।।
सोने के कमलों में स्थापित, धर्म-चक्र थे चारों द्वार ।
और कार्य करणीय किये हैं, व्यंतर-गण ने सोच विचार ।।

---

१. वेदिका के आकार का आसन विशेष   २. लियें ।

३. दूसरे गढ़ के चारों दरवाजों पर दोनों तरफ क्रमशः अभय पाश (तरुणास्त्र) अंकुश और मुद्गर धारण किये हुए, श्वेत मणि, शोणमणि, स्वर्णमणि और नीलमणि के समान कांतिवाली और ऊपर कहा गया है वैसे चारों निकायों (जातियों) की जया, विजया, अजिता और अपराजिता नाम की दो दो देवियां प्रतिहार (दरबान) की तरह खड़ी थी ।

४. वेदिका के आकार का आसन

१६७. सुखद सवेरे चार तरह के, देव करोड़ों थे जब साथ ।
समवसरण में हुए समवसृत जगद्ध्येय नाभेय सुनाथ ।।
सोने के नव कमल देवकृत, पंखुड़ियां हैं एक हजार ।
प्रभु के आगे उनको क्रमशः, रखते सुर-सह भक्ति अपार ।।

१६८. उनमें से दो-दो कमलों पर, स्वामी, रखते थे निज-पाद ।
ज्योंही प्रभु के पद पड़ते थे, अगले कमलों पर अविवाद ।।
त्यों ही पिछले कमलों को सुर, आगे रख देते तत्काल ।
पूर्वद्वार से समवसरण में, क्रमशः आये जग-भूपाल ।।

१६९. पूर्वाचल पर सूरज जैसे, सिंहासन पर चढ़े जिनेश ।
पूर्व-दिगभिमुख हुए विराजित, मोह तिमिरहारी तीर्थेश ।।
प्रभु मस्तक के चारों बाजू, वर भामण्डल प्रकट हुआ ।
रवि मण्डल भी भामण्डल को, देख स्वयं निस्तेज हुआ ।।

१७०. दुन्दुभि बजने लगी गगन में, जिसका स्वर है घन-अनुहार ।
गूंज उठी है सभी दिशायें, जिसकी प्रतिध्वनि से साकार ।।
एक रत्नमय ध्वज था प्रभु के, निकट मनोहारी अवदात ।
मानो यह संकेत जगत् को, करता है ऊँचा कर हाथ ।।

१७१. ये ही एक विश्व में प्रभु हैं, सचमुच तारण-तरण-जहाज ।
इनकी सेवा से मिलता है, सेवक को सुख बे-अन्दाज ।।
वीतराग प्रभु को तजकर, जो अन्य देव को ध्याता है ।
मानों वह चिन्तामणि तजकर, कंकड़ को अपनाता है ।।

१७२. वैमानिक की देवियाँ. आई प्राची[1] द्वार ।
प्रभु को की है वन्दना, विधिवत् कर सत्कार ।।

१७३. पहले गढ़ में छोड़कर, मुनि, आर्या का स्थान ।
अग्नि[2] कोण में थी खड़ी, तजकर मन अभिमान ।।

१७४. भुवनाधिप ज्योतिष्क औ, व्यंतर नारी-संघ ।
आया दक्षिण द्वार से, प्रभु-वन्दन नत-अंग ।।

१७५. खड़ी कोण नैऋत्य[3] में, नत-शिर हर्ष-विभोर ।
देख रही अनिमिष-नयन, ऋषभनाथ की ओर ।।

---

१. पूरब दिशा २. पूरब और दक्षिण का कोना ३. दक्षिण पश्चिम का कोना

१७६. भुवनाधिप ज्योतिष्क औ, व्यंतर देव सभक्ति ।
आये पश्चिम द्वार से, प्रभु-पद में अनुरक्ति ।।

१७७. विधिवत् प्रभु को वंदना, कर श्रद्धा समुपेत ।
बैठे दिग् वायव्य[1] में, हार्दिक हर्ष समेत ।।

१७८. वैमानिक सुर-गण तथा, नर-नारी-समुदाय ।
उत्तर-दिग् के द्वार से, आये अवनत काय ।।

१७९. वंदन कर भगवान को, विधियुत श्रद्धावान ।
नत-मस्तक बद्धांजलि, बैठे दिग् ईशान[2] ।।

१८०. समवसरण में है नहीं, कभी किसी को रोक ।
निर्धन धनिक सभी वहाँ, जा सकते बे-रोक ।।

१८१. शान्त-चित्त बैठी सभी, परिषद् भक्ति विचित्र ।
उत्सुक सुनने के लिए, प्रभु-उपदेश पवित्र ।।

१८२. बैठे हैं तिर्यंच सब, गढ़ द्वितीय में शान्त ।
और तीसरे में रहे, सब वाहन एकान्त ।।

१८३. समवसरण की इस तरह, रचना विविध प्रकार ।
युग-युग के हैं ये सभी, मान मूल्य आधार ।।

इन्द्र द्वारा प्रभु की स्तुति

१८४. कहाँ आप आगार गुणों के, और कहां मैं बुद्धि-विहीन ।
कहां आप दिनकर तेजस्वी, और कहां मैं दीपक दीन ।।
फिर भी भक्ति-भाव ने मुझको, बना दिया है अति वाचाल ।
अतः आपकी मैं करता हूँ, स्तवना पूजनीय जगपाल ।।

१८५. गुण-सागर ! जैसे रत्नाकर, शोभित है रत्नों के योग ।
वैसे नाथ ! आप भी शोभित, हैं ज्ञानादिक के संयोग ।।
भरत-क्षेत्र में बहुत समय से, लुप्त हुआ है धर्म महान ।
पुनः धर्म-तरु के उद्गम-हित, प्रभो ! आप हैं बीज समान ।।

---

१. पश्चिम उत्तर का कोना । २. उत्तर पूरब का कोना

१८६. प्रभो ! आपकी निरवधि महिमा, जगती-तल में है निकलंक ।
स्वीय-स्थान-स्थित देवों को, अत्र-स्थित करते हैं निः शंक ।।
देव लोक में देवों को जो, रहने का सौभाग्य मिला ।
प्रभो ! आप की सेवा का ही, मानो पुण्य प्रसून खिला ।।

१८७. प्रभो ! आपका कोई निन्दक, औ कोई गुण-गायक है ।
किन्तु आप दोनों पर रखते साम्य-भाव सुख-दायक है ।।
प्रभो ! स्वर्ग की लक्ष्मी से भी, आज मुझे संतोष नहीं ।
अतः आपकी भक्ति हृदय में, अचल रहे यह चाह सही ।।

१८८. प्रभु की स्तुति कर अमर-पति, वन्दन वार करोड़ ।
बैठा प्रभु के सामने, बद्धांजलि कर-जोड़ ।।

मरुदेवी को केवल ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति

१८९. उधर अयोध्या में चक्रीश्वर, मरुदेवी माता के पास ।
नमस्कार करने महलों में, आये भर मन में उल्लास ।।
पुत्र-विरह औ रुदन-योग से, नयनों में नीली[1] का रोग ।
अतः दीखना बन्द हो गया, नयन नहीं अब रहे निरोग ।।

१९०. ज्येष्ठ पौत्र यह खड़ा आपके चरणों में शिर धरता है ।
यों कह पितामही को सादर नमस्कार फिर करता है ।।
मरुदेवी भी आशिष देकर अपनी व्यथा सुनाती है ।
भरत ! ऋषभ की विरह-व्यथा जो, मेरे दिल न समाती है ।।

१९१. मुझको, तुझको, धन-वैभव को, और राज्य को तृण-वत् छोड़ ।
चला गया वह कहीं अकेला, मेरा पुत्र ऋषभ बे-जोड़ ।।
कितने भीषण संकट अब वह, सहता होगा वन अनगार ।
फिर भी यह मरुदेवी कैसे, जीवित है आश्चर्य अपार ।।

१९२. मेरे सुत के शिर-पर रहता, चाँदी सा वह छत्र कहाँ ।
उसके बिन अब तेज धूप में, सहता होगा दुःख महा ।।
पहले गज असवारी करता, कभी अश्व की असवारी ।
अब नंगे पैरों कांटों की, चुभन भुगतना अति भारी ।।

---

1. आंखों का एक रोग ।

१९३. वारनारियां[1] चंवर डुलाती, पहले मेरे वेटे पर।
अब वह मच्छर डांसादिक की, पीड़ा सहता है दुष्कर ॥
पहले वह भोजन करता था, दिव्य देवताओं द्वारा।
अब नीरस भोजन भी भिक्षा, विना न कोई है चारा ॥

१९४. पहले सिंहासन स्थित रहता, अब भूमी ही आसन है।
पहले महलों में रहता था, अब तो उसका घर वन है ॥
दिव्य अंगनाओं के मुख से, सुनता श्रोत्र सुखद संगान।
अब सुनता है वह सर्पों की, फूत्कारें जंगल वीरान ॥

१९५. कहां सुखद स्थिति वह पहले की, कहां आज की दुखदायी।
हाय ! पुत्र मेरा वह कितना, सहता है संकट भाई ॥
जो कोमल था कमल तुल्य वह, कैसे सर्दी सहता है।
और जंगली गज-वत् कैसे, गर्मी में वह रहता है ॥

१९६. वनवासी वन मेरा वेटा, साधारण जन की भांति।
फिरता है वह सदा अकेला कहां उसे है सुख शान्ति ॥
ऐसे दुःखित वेटे को नित, सम्मुख हो त्यों देख रही।
और दुःख की वातें कह कर, दुखी तुझे भी वना रही ॥

गीतिकाछन्द

१९७. श्रवण कर चक्रीश माता के, व्यथा की यह कथा।
कह रहा नतशीर्ष वद्धांजलि, मधुर वाणी पथा ॥
धैर्य के गिरिराज मानव,—ताज मेरे तात हैं।
आप उनकी जन्मदात्री, दुःख की क्या बात है ॥

१९८. इस समय मेरे पिताजी, साधना में लीन हैं।
भव-उदधि का पार पाने हेतु वे स्वाधीन हैं ॥
हिंस्र प्राणी सभी होते, चित्रवत् प्रभु-दर्श कर।
क्षुधादिक सब हैं परीषह, पूर्व संचित कर्महर ॥

---

१. वेश्याएं।

१९९. यदि नहीं विश्वास मेरी, बात पर मातेश्वरी ! ।
वात 'केवल-ज्ञान' की जव, सुनेंगी क्षेमंकरी ।।
आपको विश्वास मेरा, स्वतः होगा तव सही ।
देख लेना आप थोड़े समय में देरी नहीं ।।

२००. उसी समय आये दो मानव, मानव-पति आगे नत-सीस ।
यमक नाम का नर कहता है, सुनिये श्रेष्ठ श्रव्य जगदीश ! ।।
पुरिमताल के शकटानन में, आये हैं अर्हत् भगवान ।
उनको आज हुआ है अक्षय, अप्रतिहत-वर केवल-ज्ञान ।।

२०१. शमक नाम का नर कहता है, भरत भूमिपति को कर-जोड़ ।
चक्र-रत्न उत्पन्न हुआ है, आयुधशाला में वेजोड़ ।।
ये दो शुभ संवाद श्रवण कर, हर्षित हुए भरत भू-पाल ।
सोच रहे हैं पहले किसकी, पूजा करनी है इस काल ।।

२०२. मगर विश्व के अभय-प्रदाता, कहां तात जग-तारक हैं ।
कहां चक्र यह प्राणी-गण के, प्राणों का संहारक है ।।
यों चिन्तन कर तातपाद की, पूजा का आदेश दिया ।
पुरस्कार दे यमक, शमक को, भरत भूप ने विदा किया ।।

२०३. मरुदेवी माता को जाकर, शुभ संदेश सुनाते हैं ।
मात.जी ! चलिये अव अपने, सुत की ऋद्धि वताते हैं ।।
आप कहा करती थी मेरा, वेटा दुख का भाजन है ।
आज वने हैं तीन भुवन-पति, जिनके दुर्लभ दर्शन हैं ।।

२०४. हाथी पर आरूढ़ हुए हैं, ऋजुमति मरुदेवी माता ।
पीछे आर्षभ[1] हुए रवाना, सज्जित हो कर भू-धाता ।।
मूर्तिमान-लक्ष्मी हो वैसे हय-गज भूषण-भूषित हैं ।
अर्हद् आदीश्वर के दर्शन कव हो, सव उत्कंठित हैं ।।

२०५. समवसरण में ऊपर वाला, रत्नों का गढ़ वहुत विशाल ।
उसे दूर से देख भरत नृप, वोले माता को तत्काल ।।
हे देवी ! वह आप देखिए, समवसरण सुर-विरचित है ।
श्रवण कीजिए देवों द्वारा, जय-ध्वनि से नभ गुंजित है ।।

---

१. ऋषभपुत्र भरत ।

२०६. सुर-दुन्दुभि की मधुर ध्वनि से, धरती अम्बर ध्वनित महान।
भक्तअमर[1] का सिंहनाद यह, मेघ गर्जना के उपमान ।।
लक्ष्य कर यह देव विमानों के घुंघुरुओं की आवाज।
गंधर्वों के गीति-नाद से, परमानन्दित सकल समाज ।।

गीतिका छन्द :

२०७ दुःख-दारक प्रीतिकारक, भरत द्वारा सुन कथा।
हुई परमानन्दरत माँ, दूर सब दुख की व्यथा ।।
आंसुओं से कट गये हैं, नयन के जाले तथा।
मार्ग-स्थित सब कीच धुलता, सलिल धारा से यथा ।।

२०८. देख पायीं इसलिए निज, चक्षुओं से जन्मदा।
तीर्थंकृत् के रूप में निज पुत्र को सह-सम्पदा ।।
क्षपक-श्रेणी में चढ़ी है, जगज्जननी[2] उस समय।
ज्ञान-केवल और दर्शन, का हुआ है अभ्युदय ।।

२०९. तोड़कर सब कर्म-बन्धन, भावना से ऋजुमति।
द्विरद-स्थित ही सिद्ध माता, हुई मरुदेवी सती ।।
देशना में कहा प्रभु ने, प्रथम सिद्धा[3] भगवती।
बात अद्भुत श्रवणकर, पर्षद हुई विस्मितमति ।।

२१०. मरुदेवी के देह का, कर सत्कार विशाल।
डाल दिया है अब्धि में, देवों ने तत्काल ।।

२११. हुआ तभी से मृतक की, पूजा का व्यवहार।
बड़े मनुज के कार्य ही, होते जन-आचार ।।

भरत कृत स्तुति :

२१२. मरुदेवी के मुक्ति-गमन से, भरत हुआ सहहर्ष सशोक।
घन-छाया औ सूर्य-धूप से, मिश्रित शारद दिन बेरोक ।।
तदनन्तर चक्री तजकर सब राज चिन्ह, परिकर समुपेत।
उत्तर दरवाजे से आये, समवसरण में भक्ति-समेत ।।

---

१. भक्त देवता।
२. मरुदेवी माता।
३. अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में।

२१३. चार निकायों के देवों से, घिरे हुए हैं वहां जिनेश।
उनके दर्शन कर भरतेश्वर, परमानन्दित हुए विशेष॥
तीन बार दे वर प्रदक्षिणा, प्रभु को करके भक्ति-प्रणाम।
बद्धांजलि मस्तक पर रख कर, चक्री करते स्तुति अभिराम॥

२१४. अभय-प्रदाता जग के भ्राता, प्रभो। आपकी जय हो जय।
हे त्रिभुवन! तारक तीर्थंकर प्रभो, आपकी जय हो जय॥
जगरूपी कमलाकर के हित, सूर्य! आपकी जय हो जय।
भव-संताप शान्त करने हित, जलद! आपकी जय हो जय॥

२१५. देव आपके शुभ दर्शन से, मम-अज्ञान हुआ है नष्ट।
और करोड़ो भव के संचित, आज हुए हैं कर्म विनष्ट॥
जन-मन-कश्मल-जल[1] के हित हैं, वचन आपके कतक[2] समान।
और आपके शासन-रथ-स्थित, नर का निश्चित है कल्याण॥

२१६. प्रभो! आपके कर सकते हैं, इस जग में दर्शन साक्षात्।
अतः मोक्ष से अधिक मानते, भरत-क्षेत्र-को हे जग-तात॥
नाथ! आपके है शुभ दर्शन, परमानन्द-सलिल-धारा।
उसमें न्हाने से धुल जाता, संचित पाप कर्म सारा॥

२१७. रागद्वेष अरि-गण के द्वारा, निगड़ित है यह सब संसार।
इसको उनसे शीघ्र छुड़ाने, लिया आपने प्रभु! अवतार॥
हे तीर्थंकर देव! बताते, आप मोक्ष का मार्ग महान।
इससे बढ़कर फिर क्या मांगू, प्रभो! आपसे मैं अनुदान॥

२१८. विभो! आपकी इस परिषद् में, बैठे हैं अरि भी बन मित्र।
यह गज मृगपति पंजे से निज, देह खुजाता है यह चित्र!॥
हय को चाट रहा है भैंसा, अपनी जिह्वा के द्वारा।
चीते का मुख सूंघ रहा मृग, जो रहता डर का मारा॥

२१९. चित्र! नकुल के निकट अवस्थित, निर्भय होकर अहि साकार।
तीन भुवन के तात! आपका, यह निःशंक प्रभाव अपार॥
भरत नृपति जिनपति की स्तुति कर, उठे वहां से विनय विशाल।
पीछे हटकर क्रमशः बैठे, सुरपति के पीछे नरपाल॥

---

१. गंदाजल २. फिटकरी।

२२०. योजन मात्र भूमि में प्राणी, वहां करोड़ों हैं आसीन।
तीर्थनाथ का है प्रभाव यह, हुआ न कोई कष्टाधीन॥
सब भाषा छूने वाली थी, पांच तीस अतिशय वाली।
योजन गतिवाली प्रभु वाणी, सबके मन हरने वाली॥

२२१. दिव्य देशना दी है प्रभु ने, अन्तर-तम हरने वाली।
जन्म-मरण के जरा-रोग के, दुःखों को दारण-वाली॥
यह जग-कानन आधि, व्याधि के. तीखे कांटों से है व्याप्त।
चिंतामणि सम दुर्लभतम यह, मानव-जन्म हुआ है प्राप्त॥

२२२. भव्य जनों! नर से नारायण, बनने का यह योग मिला।
आत्म साधना कर शिवपद को, पाने का संयोग मिला॥
दोहद[1] पूरण होने से ज्यों, तरुवर होता है फल-युक्त।
धर्म-साधना से वैसे ही, नर-भव होता फल-सयुक्त॥

२२३. अति ऊंचाई का होता है, जैसे गिरना ही परिणाम।
वियोगान्त होते हैं वैसे जग के सब संयोग प्रकाम॥
मरु-भूमी में जैसे मीठा, पानी होता है न कहीं।
वैसे चारों गतियों में भी, सुख का होता लेश नहीं॥

२२४. परमाधार्मिक देवों द्वारा, अथवा क्षेत्र-दोष के योग।
दुःखित नारक जीवों को कब, कैसे सुख का मिले सुयोग॥
वध वन्धन सर्दी-गर्मी, औ भूख प्यास के कष्ट अनेक।
भार-वहन करने वाले, तिर्यञ्चों को सुख मिले न एक॥

२२५. रोग, शोक, भय, मौत बुढ़ापा, दैन्य गरीबी से संत्रस्त।
मानव को है सौख्य कहां पर, चिन्ताओं में जो है व्यस्त॥
कलह, कदाग्रह, द्वेष परस्पर, च्यवन आदि के दुःख महान।
देवलोक में भी देवों को, सुख का कभी न मिलता स्थान॥

---

१. किवदंती है कि पहले कई फलदार वृक्ष ऐसे होते थे, जो बड़े होने पर भी तब तक नहीं फलते थे जब तक उनके तने में किसी ऐसी स्त्री का पैर नहीं लगता था जिसकी पहली सन्तान पुत्र हो, और जिसको प्रसववेदना अधिक नहीं हुई हो इसी बात को वृक्ष का दोहदपूर्ण होना कहा जाता था।

२२६. तो भी जैसे जल बहता है, सदा निम्न-धरती की ओर ।
वैसे ही अज्ञानी प्राणी, जाते हैं संसृति की ओर ।।
भव्य जनों! ज्यों दूध पिलाकर, अहि को करते हैं परिपुष्ट ।
मनुज-जन्म के द्वारा त्यों मत, करना संसृति को संपुष्ट ।।

२२७. हे विवेकियों! संसार-स्थित, प्राणी पाते दुःख अनेक ।
यों विचार कर मुक्ति-प्राप्ति के, लिये करो उद्यम अतिरेक ।।
जग में नरक-दुःख के जैसा, गर्भवास का दुख होता ।
वैसा पंचम गति में संकट, सिद्धों को न कभी होता ।।

२२८. कुम्भी से आकृष्ट नरक के, जीवों की पीड़ा जैसी ।
प्रसव-वेदना मुक्ति-नगर में, कभी नहीं होती ऐसी ।।
नहीं मोक्ष में आधि व्याधि है, अन्दर बाहर कील[1] समान ।
तेज-हारिणी यम की दूती, जरा काम[2] है वहां न स्थान ।।

२२९. और मृत्यु भी कभी न होती, भव-भ्रमण के कारण रूप ।
मोक्ष-महल में अक्षय अव्यय, अविचल सुख है शाश्वत रूप ।।
रत्न-त्रय का आराधक हर, कोई पा सकता शिव-स्थान ।
हुए और भी होंगे वे सब, हैं अनन्त सिद्ध भगवान ।।

२३०. रत्न त्रय का जो करे, आराधन अविकार ।
वह साधक ही पा सके, मोक्ष नगर का द्वार ।।

सम्यग् ज्ञान

२३१. तत्त्वों का संक्षिप्त या, विस्तृत समुचित ज्ञान ।
उसे समझना चाहिए, सम्यग्ज्ञान प्रमाण ।।

२३२. मति, श्रुत ज्ञान परोक्ष हैं, और तीन प्रत्यक्ष[3] ।
अवधि, मनःपर्याय हैं, केवल विश्व-समक्ष ।।

---

१. कांटे के समान पीड़ा कारिणी आधि व्याधि

२. लिये ।

३. स्पष्टतया निर्णय करने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । इनसे पदार्थ का स्पष्ट प्रतिभास होता है ।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—पारमार्थिक और सांव्यवहारिक । केवल-ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है क्योंकि वह इन्द्रिय आदि साधनों की सहायता के बिना

२३३. इन्द्रिय, मन के योग से, जो होता है ज्ञान ।
ज्ञान वही[2] मति ज्ञान है, यहां न शंका-स्थान ।।

२३४. अवग्रहादिक[3] भेद हैं, अष्टाविंशति ख्यात ।
बहुग्राह्यादिक भेद भी, होते हैं साक्षात् ।।

सिर्फ आत्मा से होता है। अवधि और मनःपर्याय विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष होते हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से निर्णय करने वाले अवग्रह आदि ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। अवग्रह आदि का ज्ञान वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु अन्य ज्ञानों की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होने से लोक-व्यवहार में उन्हें प्रत्यक्ष माना जाता है।

अस्पष्टतया निर्णय करने वाले ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। परोक्ष दो प्रकार का होता है—मति और श्रुत। अथवा परोक्ष के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।

संस्कार के जागरण से 'वह' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है-अनुभूत विषय का स्मरण होता है उसे स्मृति कहते हैं।

'वह जलाशय', यह पूर्व अनुभव किए हुए जलाशय की याद है। 'यह वही है' इत्यादि रूप में होने वाले संकलनात्मक जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। व्याप्ति-ज्ञान को तर्क कहते हैं।

साध्य और साधन के नित्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे—जहां-जहां धुआं (साधन) होता है, वहां-वहां अग्नि (साध्य) होती है। जिस ज्ञान से इस सम्बन्ध का निश्चय होता है, उसे तर्क कहते हैं। साधन से साध्य का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। जो साधने के योग्य होता है, उसे साध्य कहते हैं। साध्य के बिना जो निश्चित रूप से न हो सके उसे साधन कहते हैं। जैसे यह पर्वत अग्निमान है क्योंकि यहां धुआं है।

आप्त वचन से जो अर्थ-ज्ञान होता है उसे आगम कहते हैं। यथार्थ तत्त्वों को जानने वाला और उनका यथार्थ उपदेश करने वाला आप्त होता है।

२. इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मति कहते हैं। मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध ये सब एकार्थक हैं।

३. मतिज्ञान चार प्रकार का है—(१) अवग्रह (२) ईहा (३) अवाय (४) धारणा।

अवग्रह दो प्रकार का है—१. व्यंजन का अवग्रह और २. अर्थ का अवग्रह। शब्दादि के साथ उपकरण+इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है, उसे

२३५. लांछित है स्यात् शब्द से, अंगादिक के योग ।
जो कि हुआ विस्तृत बहुत, वह श्रुत[4] है उपयोग ।।

व्यञ्जन कहते हैं। उसके द्वारा जो शब्दादिक का अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसे व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। व्यञ्जनावग्रह होने के बाद और कहीं कहीं (चक्षु और मन के बोध में) उसके अभाव में भी व्यञ्जनावग्रह से कुछ स्पष्ट अनिर्देश्य सामान्य मात्र अर्थ का ग्रहण होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं। अवग्रह के द्वारा जाने हुए अर्थ की विशेष आलोचना करने को ईहा कहते हैं।

ईहा के द्वारा जाने हुए अर्थ का विशेष निर्णय करने को अवाय कहते हैं। वह अवाय ही जब दृढ़तम अवस्था में परिणत हो जाता है तब उसे धारणा कहते हैं।

पांच इन्द्रिय और मन के साथ अवग्रह आदि का गुणन करने से (६ × ५ = ३० चक्षु और मन का व्यञ्जनावग्रह नहीं होता अतः शेष २८) मतिज्ञान २८ प्रकार का होता है।

४. ज्ञान दो प्रकार का होता है—अर्थाश्रयी और श्रुताश्रयी। पानी को देखकर आँख को पानी का ज्ञान होता है, यह अर्थाश्रयी ज्ञान है। 'पानी' शब्द के द्वारा जो 'पानी द्रव्य' का ज्ञान होता है, वह श्रुताश्रयी ज्ञान है। इन्द्रियों को सिर्फ अर्थाश्रयी ज्ञान होता है मन को दोनों प्रकार का होता है। श्रोत्र 'पानी' शब्द मात्र को सुनकर जान लेगा, किन्तु पानी का अर्थ क्या है, पानी शब्द किस वस्तु का वाचक है—यह श्रोत्र नहीं जान सकता। 'पानी' शब्द का अर्थ 'यह पानी द्रव्य है' ऐसा ज्ञान मन को होता है। इस वाच्य-वाचक के सम्बन्ध से होने वाले ज्ञान का नाम श्रुत-ज्ञान, शब्द ज्ञान या आगम है। श्रुत-ज्ञान का पहला अंश, जैसे—शब्द सुना या पढ़ा, वह मति ज्ञान है और दूसरा अंश, जैसे—शब्द के द्वारा अर्थ को जाना, यह श्रुत ज्ञान है। इसीलिए श्रुत को मतिपूर्वक 'मइपुव्वंसुयं' कहा जाता है।

[जैन दर्शन मनन और मीमांसा]

श्रुत के १४ भेद—

(१) अक्षरश्रुत अक्षरों द्वारा कहने योग्य भाव की प्ररूपणा करना।

(२) अनक्षरश्रुत—मुँह, भौं, अंगुली आदि के विकार या संकेत से भाव जताना।

इन दोनों में साधन को साध्य माना गया है। अक्षर और अनक्षर दोनों श्रुतज्ञान के साधन हैं। इनके द्वारा श्रोता, पाठक और द्रष्टा, वक्ता, लेखक और संकेतक के भावों को जानता है।

२३६. औरों को समझा सके, अपने स्पष्ट विचार ।
अक्षर-श्रुत इत्यादि है, जिसके विविध प्रकार ।।

२३७, मूर्त्त द्रव्य को जानना, विना बाह्य सहयोग ।
अवधिज्ञान[5] पहचान वह, है विशेप उपयोग ।।

---

(३) संज्ञिश्रुत—मनवाले प्राणी का श्रुत ।

(४) असंज्ञिश्रुत—विना मनवाले प्राणी का श्रुत । ये दोनों भेद ज्ञान के अधिकारी के भेद से किये गये हैं ।

(५) सम्यक्श्रुत—सम्यग् दृष्टि का श्रुत, मोक्ष-साधना में सहायक श्रुत ।

(६) मिथ्याश्रुत—मिथ्यादृष्टि का श्रुत, मोक्ष-साधना में बाधक श्रुत । ये दोनों भेद प्ररूपक और ग्राहक की अपेक्षा से हैं ।

(७) सादिश्रुत—आदि सहित ।

(८) अनादिश्रुत—आदि रहित ।

(९) सपर्यवसित श्रुत—अन्त सहित ।

(१०) अपर्यवसित श्रुत—अन्त रहित ।
शब्दात्मक—रचना की अपेक्षा श्रुत सादि सान्त होता है और सत्य के रूप में या प्रवाह के रूप में अनादि अनन्त ।

(११) गमिक श्रुत—१२ वाँ अंग, दृष्टिवाद । इसमें आलापक पाठ-सरीखे पाठ होते हैं—से सं तहेव भाणियव्वं'—कुछ वर्णन चलता है और बताया जाता है शेष उस पूर्वोक्त पाठ की तरह समझना चाहिए । इस प्रकार एक सूत्र पाठ का सम्बन्ध दूसरे सूत्र-पाठ से जुड़ा रहता है ।

(१२) अगमिक श्रुत—जिसमें पाठ सरीखे न हों ।

(१३) अंग प्रविष्ट श्रुत—गणधरों के रचे हुए आगम १२ अंग जैसे—आचार, सूत्रकृत् आदि-आदि ।

(१४) अनंग प्रविष्ट श्रुत—गणधरों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों द्वारा रचे गये ग्रन्थ । [जैन सिद्धान्त दीपिका]

५. इन्द्रिय और मन की सहायता के विना केवल आत्मा के सहारे जो रूपी द्रव्यों को जानता है, उसे अवधि ज्ञान कहते हैं । देवता और नारकों के भव सम्बन्धी अवधि ज्ञान होता है । मनुष्य और तिर्यञ्चों के अवधिज्ञान क्षयोपशम सम्बन्धी होता है । [जैन सिद्धान्त दीपिका]

अवधि ज्ञान के छह प्रकार हैं—

(१) अनुगामी—जिस क्षेत्र में अवधि ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अतिरिक्त क्षेत्र में भी बना रहे वह अनुगामी है ।

२३८. अनुगामी इत्यादि है, जिसके विविध प्रकार ।
जिज्ञासा पूर्वक उन्हें, समझें सह विस्तार ।।

२३९. जन्मजात होता अवधि, नरक-स्वर्ग में ख्यात ।
मनुज और तिर्यञ्च में, शुद्धि-जन्य विख्यात ।।

२४०. मन-भावो को जानना, मनो-वर्गणा-योग ।
ज्ञान मनःपर्याय[6] है, स्वामी संयति-लोग ।।

---

(२) अननुगामी—उत्पत्ति क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में बना न रहे वह अननुगामी है।

(३) वर्धमान—उत्पत्ति काल में कम प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः बढ़े वह वर्धमान है।

(४) हीयमान—उत्पत्ति काल में अधिक प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः घटे वह हीयमाण है।

(५) अप्रतिपाती—आजीवन रहने वाला अथवा केवल ज्ञान उत्पन्न होने तक रहने वाला अप्रतिपाती है।

(६) प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो वापिस चला जाए, वह प्रतिपाती है।

६. मनःपर्यायज्ञान—यह ज्ञान मन के प्रवंतक या उत्तेजक पुद्‌गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जो सोचता है, उसी के अनुरूप चिन्तन प्रवंतक पुद्‌गल द्रव्यों की आकृतियां पर्यायें बन जाती हैं। वे मनःपर्याय के द्वारा जानी जाती हैं, इसलिए इसका नाम है—मन की पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान।

मनःपर्याय ज्ञान का विषय

१. द्रव्य की अपेक्षा—मन रूप में परिणत पुद्‌गल-द्रव्य मनोवर्गणा।
२. क्षेत्र की अपेक्षा—मनुष्य क्षेत्र में
३. काल की अपेक्षा—असंख्य काल तक का (पल्योपम का असंख्यातवां भाग) अतीत और भविष्य।
४. भाव की अपेक्षा—मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाएं।

अवधि और मनःपर्याय की स्थिति—

मानसिक वर्गणाओं की पर्याय अवधिज्ञान का भी विषय बनती है, फिर भी मनः पर्याय मानसिक पर्यायों का विशेषज्ञ है। एक डाक्टर वह है जो सम्पूर्ण शरीर की चिकित्सा विधि जानता है और एक वह है जो आंख का, दांत का, एक अवयव का विशेष अधिकारी होता है यही स्थिति अवधि और मनःपर्याय की है।

२४१. ऋजुमति पहला विपुलमति, भेद दूसरा जान ।
स्पष्ट मनःपर्याय के, हैं प्रकार पहचान ।।

२४२. स्वामी, क्षेत्र, विशुद्धि औ, विषय चार के योग ।
अवधि, मनःपर्याय का, अन्तर समझें लोग ।।

२४३. निखिल द्रव्य, पर्याय का, जिससे साक्षात्कार ।
होता केवल-ज्ञान[1] वह, अप्रतिहत साकार ।।

विश्व के मूल में दो श्रेणी के तत्त्व हैं—पौद्गलिक और अपौद्गलिक। पौद्गलक (मूर्त तत्त्व) इन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के क्षयोपशमिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है। अपौद्गलिक (अमूर्त तत्त्व) केवल क्षायिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है।

चिन्तक मूर्त के बारे में सोचता है वैसे अमूर्त के बारे में भी। मनःपर्याय ज्ञानी अमूर्त पदार्थ को साक्षात् नहीं कर सकता। वह द्रव्य मन के साक्षात्कार के द्वारा जैसे आत्मीय चिन्तन को जानता है, वैसे ही उसके द्वारा चिन्तनीय पदार्थों को जानता है। इसमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है, फिर भी वह परोक्ष नहीं होता। कारण की मनःपर्याय ज्ञान का मूल विषय मनो-द्रव्य की पर्यायें हैं। उनका साक्षात्कार करने में उसे अनुमान आदि किसी भी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं होती।

[जैन दर्शन मनन और मीमांसा]

१. केवल-ज्ञान—केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय होता है। ज्ञानावरण के विलय होने पर ज्ञान के अवान्तर भेद मिटकर ज्ञान एक हो जाता है फिर उसे इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए वह केवल कहलाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! केवली इन्द्रिय और मन से जानता और देखता है?

भगवन्—गौतम ! नहीं जातना-देखता।

गौतम—भगवन् ! ऐसा क्यों होता है?

भगवन् गौतम ! केवली पूर्व-दिशा (या आगे) में मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। वह इन्द्रिय का विषय नहीं है।

केवल का दूसरा अर्थ 'शुद्ध' है। ज्ञानावरण के विलय होने पर ज्ञान में अशुद्धि का अंश भी शेष नहीं रहता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का तीसरा अर्थ 'सम्पूर्ण' है। ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान की अपूर्णता मिट जाती है, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का चौथा अर्थ 'असाधारण' है। ज्ञानावरण का विलय होने पर जैसा ज्ञान होता है वैसा दूसरा नहीं होता, इसलिये वह केवल कहलाता है।

केवल का पांचवां अर्थ— 'अनन्त है' ज्ञानावरण का विलय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह फिर कभी आवृत नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल शब्द के चार अर्थ— 'सर्वज्ञता' से सम्बन्धित नहीं है। आवरण का क्षय होने पर ज्ञान एक शुद्ध असाधारण और अप्रतिपाती होता है। इसमें कोई लम्बा चौड़ा विवाद नहीं है। विवाद का विषय है ज्ञान की पूर्णता। कुछ तार्किक लोग ज्ञान की पूर्णता का अर्थ बहुश्रुतता करते हैं और कुछ सर्वज्ञता।

जैन - परम्परा में सर्वज्ञता का सिद्धान्त मान्य रहा है। केवल ज्ञानी केवल ज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है।

केवल ज्ञान का विषय सब द्रव्य और पर्याय है। श्रुत-ज्ञान के विषय को देखते हुए वह अयुक्त भी नहीं लगता। मति को छोड़ शेष चार ज्ञान के अधिकारी केवली कहलाते हैं। श्रुत-केवली, मनःपर्याय ज्ञान-केवली और केवल-ज्ञान-केवली। इनमें श्रुत-केवली और केवल-ज्ञान-केवली का विषय समान है। दोनों सब द्रव्यों और सब पर्यायों को जानते हैं इनमें केवल जानने की पद्धति का अन्तर रहता है। श्रुत-केवली-शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से तथा क्रमशः जानता है और केवल ज्ञान केवली उन्हें साक्षात् तथा एक साथ जानता है।

ज्ञान की कुशलता बढ़ती है तब एक साथ अनेक विषयों का ग्रहण होता है एक क्षण में अनेक विषयों का ग्रहण नहीं होता है किन्तु ग्रहण का काल इतना सूक्ष्म होता है कि वहां काल का क्रम नहीं निकाला जा सकता केवलज्ञान ज्ञान के कौशल का चरम रूप है। वह एक क्षण में भी अनेक विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। हम अपने ज्ञान के क्रम से उसे नापें तो वह अवश्य ही विवादास्पद बन जायेगा उसे संभावना की दृष्टि से देखें तो वह विवाद मुक्त भी है।

निरूपण एक ही विषय का हो सकता है यह भूमिका दोनों की समान है। सहज स्थिति में तारतम्य नहीं होता वह क्रियमाण कार्य में होता है। ज्ञान-आत्मा की सहज स्थिति है। जानना एक कार्य है। कार्य में केवली और अकेवली का कोई भेद नहीं है केवल-ज्ञान की विशेषता सिर्फ जानने में ही है।

[जैन दर्शन मनन और मीमांसा — [illegible])

सम्यक्त्व :

२४४. शास्त्र-कथित जो तत्त्व हैं, उनमें रुचि अभ्रान्त।
सम्यग्-श्रद्धा है वही, सात प्रकृति उपशान्त॥

२४५. गुरु उपदेश, स्वभाव से, होती है वह प्राप्त।
मुक्ति-महल की नींव है, बतलाते जिन-आप्त॥

२४६. इस अनादि संसार में, भटक रहे हैं जीव।
उनके कर्मों की स्थिति, जब हो क्षीण[1] अतीव॥

२४७. प्रथम करण[2] द्वारा तभी, संसारी असुमान।
पाता ग्रंथी-देश[3] को, कहते हैं विद्वान॥

---

१. ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय नाम के कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा कोटि सागरोपम की है। गोत्र व नाम कर्म की स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है और मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोटा-कोटि सागरोपम की है। अनुक्रम से फल का अनुभव (उपभोग) करके सभी कर्म, पर्वत से निकली हुई नदी में टकराते-टकराते पत्थर जैसे गोल हो जाते हैं उसी न्याय से अपने आप कर्म क्षय हो जाते हैं इस तरह क्षय होते हुए कर्म की अनुक्रम से उन्तीस उन्नीस और उनहत्तर कोटा कोटि सागरोपम तक की स्थिति क्षय होती है और एक कोटा-कोटि सागरोपम से कुछ कम स्थिति बाकी रहती हैं तब प्राणी यथा-प्रवृति करण द्वारा ग्रन्थी देश को प्राप्त होता है।

२. यथा प्रवृत्ति करण

३. दुःख से (बहुत कठिनता से) भेदे जा सकें ऐसे राग द्वेष के परिणामों को ग्रंथी-देश कहते हैं। वह ग्रन्थी काठ की गांठ की तरह दुरुच्छेद (बहुत मुश्किल से कटने वाली) और बहुत मजबूत होती है जैसे किनारे पर आया हुआ जहाज वायु के वेग से वापस समुद्र में चला जाता है वैसे ही रागादिक से प्रेरित कई जीव ग्रन्थी को भेदे बिना ही ग्रन्थी के पास से लौट जाते हैं। कई जीव मार्ग में रुकावट आने से जैसे सरिता का जल रुक जाता है वैसे ही, किसी तरह के परिणाम विशेष के बगैर ही वहीं रुक जाते हैं, कई प्राणी जिनका भविष्य में भद्र (कल्याण) होने वाला होता है अपूर्व-करण द्वारा अपना बल प्रकट करके दुर्भेद्य ग्रन्थी को उसी तरह शीघ्र ही भेद देते हैं जिस तरह बड़े (कठिन मार्ग को तै करने वाले मुसाफिर घाटियों के मार्ग को लांघ जाते हैं। कई चार गति वाले प्राणी अनिवृत्ति करण द्वारा अन्तर करण करके मिथ्यात्व को विरल (क्षीण) करके अन्त मुंहूर्त मात्र में सम्यग् दर्शन पाते हैं।

२४८. दुःख से भेदे जा सकें, जो कषाय के भाव ।
है यह ग्रन्थी-देश जो, समझे कर्म-स्वभाव ॥

२४९. दुरुच्छेद है गांठ यह, काठ गांठ उपमान ।
और बहुत मजबूत है, रे प्राणी ! पहचान ॥

२५०. जलधि-तीर संप्राप्त भी, वायु-वेग के योग ।
वापस जाती जलधि में, नौका बिन उद्योग ॥

२५१. वैसे ही प्राणी कई, रागादिक के योग ।
ग्रन्थी को भेदे बिना, मुड़ते बिन उद्योग ॥

२५२. ज्यों पथ के अवरोध से, रुकता जल अवशेष ।
त्यों रुक जाते जीव भी, बिन परिणाम विशेष ॥

२५३. प्राणी करण-अपूर्व से, कई शक्ति कर प्राप्त ।
करते ग्रन्थी-भेद हैं, कर उद्यम पर्याप्त ॥

२५४. कई अनिवृत्तिकरण से, कर मिथ्यामति क्षीण ।
पाते अन्तर्मुहूर्त में, सम्यग् दृष्टि प्रवीण ॥

२५५. नैसर्गिक श्रद्धान यह, बतलाते भगवान ।
अधिगम गुरु उपदेश से होता है श्रद्धान ॥

सम्यक्त्व के प्रकार

२५६. होता दर्शन मोह का, जब उपशम अम्लान ।
पाता अन्तर्मुहूर्त्त तक, औपशमिक श्रद्धान ॥

२५७. जो जाता मिथ्यात्व की,—ओर, छोड़ श्रद्धान ।
सास्वादन सम्यक्त्व वह, आवलिका षड्मान ॥

२५८. होता है जो मोह के, क्षय उपशम के योग ।
क्षयोपशम सम्यक्त्व वह, कहते ज्ञानी लोग ॥

२५९. अनन्तानुबन्धी हुआ, जब कषाय-अवसान ।
भोक्ता अंतिम अंश[1] का, यह वेदक पहचान ॥

---

1. सम्यक्त्व मोह के अंतिम अंश को भोगने वाला ।

२६०. सात[1] प्रकृतियों का करे, जो साधक प्रक्षीण।
वह क्षायिक सम्यक्त्व को, पाता शीघ्र प्रवीण ॥

सम्यक्त्व गुण से तीन प्रकार का

२६१. आगमोक्त सत्-तत्त्व में, बिना हेतु दृष्टान्त।
होता दृढ़ विश्वास है, वह रोचक है कान्त ॥

२६२. औरों के सम्यक्त्व को, करता जो कि प्रदीप्त।
वह दीपक सम्यक्त्व है, दोषों से निर्लिप्त ॥

२६३. जो करता उत्पन्न है, संयम, तप के भाव।
वह कारक सम्यक्त्व है, रहते नित सद्भाव ॥

सम्यक्त्व के पांच लक्षण

२६४. हो कषाय का उपशमन, वह शम–शान्ति महान।
विषयों में वैराग्य जो, वह संवेग प्रधान ॥

२६५. अनासक्ति निर्वेद है, अनुकम्पा निरवद्य।
आस्तिकता है सत्य के, प्रति निष्ठा अनवद्य ॥

२६६. होती है संप्राप्त जब, सम्यग्-दृष्टि महान्।
मानव का अज्ञान भी, तब हो जाता ज्ञान ॥

चारित्र

२६७. सब अवद्य-युत[2] योग का, करना प्रत्याख्यान।
है पवित्र चारित्र यह, मुक्ति-महल सोपान ॥

२६८. सत्य, अहिंसा ब्रह्मव्रत, है अदत्त परिहार।
और परिग्रह-त्याग ये, पांच चारित्र प्रकार ॥

---

१. अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय।

२. पापसहित

२६९. करना त्रिकरण योग से, कभी न प्राणी घात ।
प्रथम महाव्रत है यही, परम अहिंसा ज्ञात ॥

२७०. मृषा-वाद बोले नहीं, तीन करण त्रिक योग ।
सत्य महाव्रत है यही, साधे योगी लोग ॥

२७१. करना वस्तु अदत्त का, ग्रहण न त्रिकरण योग ।
अभय महाव्रत तीसरा, यह अचौर्य शुभ योग ॥

२७२. करना त्रिकरण योग से, सर्व मिथुन का त्याग ।
ब्रह्मचर्य यह है महा-व्रत रहना बे-दाग ॥

२७३. सर्व सचित्त-अचित्त पर, मूर्च्छा का परिहार ।
है अपरिग्रह यह महा-व्रत मुनि का अविकार ॥

श्रावक के बारह अणुव्रत

२७४. निरपराध त्रस-जीव की,—हिंसा का परिहार ।
स्थूल अहिंसा-व्रत सुखद, श्रावक का आचार ॥

२७५. स्थूल-मृषा का त्याग है, श्रावक धर्म महान् ।
और स्थूल-अस्तेय-व्रत, ग्रहण करे मतिमान ॥

२७६. है स्वदार-संतोष-व्रत, ब्रह्मचर्य अविकार ।
इच्छा का परिणाम है, व्रत अपरिग्रह सार ॥

२७७. दिशि की मर्यादा करे, दिग्व्रत यह पहचान ।
भोग और परिभोग की, मर्यादा सुख-खान ॥

२७८. विरमण दण्ड अनर्थ का, है गुणव्रत सुखकार ।
सामायिक सम-भाव से, शिक्षा-व्रत शिव-द्वार ॥

२७९. शिक्षा-व्रत है दूसरा, त्याग देश अवकाश ।
पोषध-व्रत, व्रत है विमल, अहो-रात्र अभ्यास ॥

२८०. देना है सत्पात्र को, शुद्ध यथाकृत-दान ।
चौथा शिक्षा-व्रत सुखद, ग्रहण करे मतिमान ॥

हिंसादिक के फल

२८१. कोढ़ी, पंगु, कुणित्व[1] ये, हिंसा के फल स्पष्ट।
विन अपराधी जीव को, अतः न देना कष्ट ॥

२८२. मन-मनत्व, मुख-रोग[2] औ, मूक-भाव अपवाद।
ये असत्य के फल अतः, त्यागें मिथ्यावाद ॥

२८३. अंग-छेद[3] दुर्भाग्य औ, दरिद्रता, दासत्व।
स्तेय-कर्म के फल दुखद, अतः हेय यह तत्त्व ॥

२८४. इन्द्रिय का छेदन तथा, क्लीव-भाव[4] विख्यात।
है मैथुन के फल अतः, हेय पर-स्त्री गात ॥

२८५. अप्रतीति, आरम्भ,[5] दुख, अरु तृष्णा उद्भाव।
है मूर्छा के फल अतः, हेय परिग्रह भाव ॥

तीर्थ की स्थापना

२८६. दुःख-नाशिनी दिव्य देशना, प्रभु की सुनकर सुधा समान।
भरत नृपति-सुत ऋषभसेन ने, की है हार्दिक विनति महान् ॥
राग-द्वेषमय-दावानल से, दारुण यह जग-कानन है।
उसमें सुधा-स्यन्दिनी वर्षा, करने आप घनाघन हैं ॥

२८७. प्रभो! डूबते हुए पुरुष को, मिल जाता ज्यों श्रेष्ठ जहाज।
प्यासे को प्याऊ मिलती, ज्यों निर्धन को धन बे-अन्दाज ॥
शीत-व्यथित को ताप आग की, धूप-तप्त को छाया शीत।
वैसे भव-से भीत जगत को, आप मिले हैं परम पुनीत ॥

---

१. जिसका हाथ टेढ़ा हो गया हो या सूख गया हो।
२. जीभ, मसूढ़े, गले आदि में होने वाले रोग।
३. हाथ, पांव, कान, नाक आदि कटवाने का दण्ड।
४. नपुंसकता।
५. हिंसादिक में प्रवृत्ति।

२८८. तारो, तारो, तारो, प्रभुवर !, तारण-तरण आप साक्षात् ।
आया हूँ मैं शरण आपकी, आप अकारण है जगभ्रात ।।
भव-भ्रमण के हेतु-भूत हैं, नारी, पुत्र, पिता, परिवार ।
कृपा-सिन्धु ! अब कृपा कीजिए, शीघ्र दीजिये शिक्षा सार ।।

२८६. ऋषभसेन ने भरत भूप के, अन्य पांच सौ पुत्रों साथ ।
और सात सौ पौत्रों के सह, दीक्षा ली है प्रभु के हाथ ।।
प्रभु के पूर्ण ज्ञान की, महिमा सुरासुरों ने की तत्काल ।
देख मरीचि इसे उद्यत, हो दीक्षा ली तज जग-जंजाल ।।

२९०. ब्राह्मी ने भी दीक्षा ली है, पाकर भरत भूप-आदेश ।
प्रायः लघु जीवों के होता, साक्षी-मात्र सुगुरु-उपदेश ।।
हुई सुन्दरी प्रथम श्राविका, और भरत श्रावक सुविनीत ।
और कई परिषद् में श्रावक, सम्यक्त्वी, मुनि बने पुनीत ।।

२९१. सिवा कच्छ औ महाकच्छ के, अन्य राज-तापस तत्काल ।
आकर प्रभु के पास ग्रहण की, दीक्षा पुनः विराग विशाल ।।
उसी समय से चार तीर्थ की, हुई स्थापना धर्मवती ।
ऋषभ सेन मुनि ब्राह्मी साध्वी, भरत, सुन्दरी देशव्रती ।।

चतुर्दश पूर्व और द्वादशाङ्गी की रचना

२९२. ऋषभसेन आदिक चौरासी, गणधर जो थे प्रज्ञावान ।
उनको त्रिपदी का प्रभुवर ने, दिया प्रथम उपदेश महान ।।
जिसमें शास्त्र समा जाते सब, है उत्पाद, विगम स्थिति रूप ।
उसके ही अनुसार रचे हैं पूर्व चतुर्दश अंग[1] अनूप ।।

२९३. सूत्र, अर्थ, सूत्रार्थ, द्रव्य, गुण, औ पर्याय उभय नयतः ।
आदिनाथ प्रभु ने दी आज्ञा[2], गण की आज्ञा पुनः स्वतः ।।
जलधर जल के ग्राहक तरुवत् गणधर सभी खड़े कर जोड़ ।
सिंहासन-स्थित प्रभु ने पावन धर्म देशना दी बे-जोड़ ।।

---

१. द्वादशांग ।
२. गणधरों को आज्ञा दी ।

२९४. प्रभु-रूपी जल-निधि से उत्थित दिव्य देशना-रूपी ज्वार।
उसकी मर्यादा सम दी है, एक प्रहर तक धारा सार ॥
तदनंतर प्रभु उठकर, उत्तर, पथ से बाहर आये हैं।
सभी इन्द्र-गण साथ चले ज्यों, सुम पर मधुप लुभाये हैं ॥

२९५. रत्न स्वर्णमय-चारु वप्र के, मध्य भाग में दिशि ईशान।
देव-छन्द पर वहां विराजित. हुए ऋषभ पहले भगवान ॥
तत्क्षण प्रभु के पहले गणधर, ऋषभसेन सुविनीत महान।
प्रभु के पाद-पीठ पर स्थित हो, किया दिव्य देशना-दान ॥

२९६. कारण स्वामी को थकान में मिलता है आनन्द प्रधान।
शिष्यों के होते गुण-दीपन, उभय और विश्वास महान ॥
गणधर प्रभु की दिव्य देशना,–के हैं, ये सब गुण साकार।
सुनकर वाणी प्रभु वन्दन कर, श्रोता गये सभी घर-द्वार ॥

२९७. हुआ अधिष्ठायक अब गोमुख, यक्ष जो कि रहता प्रभु साथ।
चार हाथ थे उसके, उनमें से जो थे दक्षिण दो हाथ ॥
एक हाथ तो था वर-दाता, एक अक्ष माला संयुक्त।
वाम तरफ के दोनों कर थे, पाश और बीजोरा युक्त ॥

२९८. उसके तन का वर्ण स्वर्ण सा, वाहन था उसका गजराज।
और तीर्थ में प्रभु के शासन,–देवी प्रतिचक्रा[1] निर्व्याज ॥
स्वर्ण-कांति थी, उसका वाहन-गरुड़, हाथ में बाण रु पाश।
वाम-करों में धनुष, चक्र औ, वज्रांकुश थे उसके खास ॥

प्रभु का विहार

२९९. नक्षत्रों से युक्त चन्द्र की, भांति साधु-गण से संयुक्त।
किया वहां से जगह दूसरी, विहार प्रभु ने मोह-वियुक्त ॥
मानो पथ में जाते प्रभु को, तरु भी करते भक्ति प्रणाम।
अधोवदन कांटे हो जाते, पक्षी प्रदक्षिणा अभिराम ॥

---

१. चक्रेश्वरी।

३००. हो जाते अनुकूल वायु औ, ऋतुएँ प्रभु के अतिशय-योग ।
एक करोड़ देवता रहते, कम से कम प्रभु-निकट निरोग ।।
आर्हत प्रभु के केश श्मश्रु औ, नख बढ़ते थे कभी नहीं ।
जाते थे प्रभु जहां वहां पर, होती मारी[1] ईति[2] नहीं ।।

३०१. अनावृष्टि अतिवृष्टि-उपद्रव, और नहीं दुर्भिक्ष[3] कहीं ।
स्व-पर-चक्र[4] से जन्य भीति औ, वैर-भावना वहां नहीं ।।
अप्रतिबद्ध विहार निरन्तर, करते हैं तीर्थंकर देव ।
जन्म-मरण से भीत जगत् को, तार रहे हैं वे स्वयमेव ।।

गीतिका छन्द

३०२. राज्य का परित्याग, दीक्षा, इक्षुरस का पारणा ।
और केवल-ज्ञान जननी––मुक्ति की अवतारणा ।।
देशना औ संघ की वर स्थापना, संयम-ग्रहण ।
तीसरे इस सर्ग में है, द्वादशांगों संग्रथन ।।

---

१. महामारी ।
२. बाधा उपद्रव ।
३. अकाल ।
४. स्वराज्य पर राज्य ।

२९४. प्रभु-रूपी जल-निधि से उत्थित दिव्य देशना-रूपी ज्वार।
उसकी मर्यादा सम दी है, एक प्रहर तक धारा सार॥
तदनंतर प्रभु उठकर, उत्तर, पथ से बाहर आये हैं।
सभी इन्द्र-गण साथ चले ज्यों, सुम पर मधुप लुभाये हैं॥

२९५. रत्न स्वर्णमय-चारु वप्र के, मध्य भाग में दिशि ईशान।
देव-छन्द पर वहां विराजित, हुए ऋषभ पहले भगवान॥
तत्क्षण प्रभु के पहले गणधर, ऋषभसेन सुविनीत महान।
प्रभु के पाद-पीठ पर स्थित हो, किया दिव्य देशना-दान॥

२९६. कारण स्वामी को थकान में मिलता है आनन्द प्रधान।
शिष्यों के होते गुण-दीपन, उभय और विश्वास महान॥
गणधर प्रभु की दिव्य देशना,—के हैं, ये सब गुण साकार।
सुनकर वाणी प्रभु वन्दन कर, श्रोता गये सभी घर-द्वार॥

२९७. हुआ अधिष्ठायक अब गोमुख, यक्ष जो कि रहता प्रभु साथ।
चार हाथ थे उसके, उनमें से जो थे दक्षिण दो हाथ॥
एक हाथ तो था वर-दाता, एक अक्ष माला संयुक्त।
वाम तरफ के दोनों कर थे, पाश और बीजोरा युक्त॥

२९८. उसके तन का वर्ण स्वर्ण सा, वाहन था उसका गजराज।
और तीर्थ में प्रभु के शासन,—देवी प्रतिचक्रा[1] निर्व्याज॥
स्वर्ण-कांति थी, उसका वाहन-गरुड़, हाथ में वाण रु पाश।
वाम-करों में धनुप, चक्र औ, वज्राकुंश थे उसके खास॥

प्रभु का विहार

२९९. नक्षत्रों से युक्त चन्द्र की, भांति साधु-गण से संयुक्त।
किया वहां से जगह दूसरी, विहार प्रभु ने मोह-वियुक्त॥
मानो पथ में जाते प्रभु को, तरु भी करते भक्ति प्रणाम।
अधोवदन कांटे हो जाते, पक्षी प्रदक्षिणा अभिराम॥

---

१. चक्रेश्वरी।

३००. हो जाते अनुकूल वायु औ, ऋतुएँ प्रभु के अतिशय-योग।
एक करोड़ देवता रहते, कम से कम प्रभु-निकट निरोग।।
आर्हत प्रभु के केश श्मश्रु औ, नख बढ़ते थे कभी नहीं।
जाते थे प्रभु जहां वहां पर, होती मारी[1] ईति[2] नहीं।।

३०१. अनावृष्टि अतिवृष्टि-उपद्रव, और नहीं दुर्भिक्ष[3] कहीं।
स्व-पर-चक्र[4] से जन्य भीति औ, वैर-भावना वहां नहीं।।
अप्रतिबद्ध विहार निरन्तर, करते हैं तीर्थंकर देव।
जन्म-मरण से भीत जगत् को, तार रहे हैं वे स्वयमेव।।

गीतिका छन्द

३०२. राज्य का परित्याग, दीक्षा, इक्षुरस का पारणा।
और केवल-ज्ञान जननी—मुक्ति की अवतारणा।।
देशना औ संघ की वर स्थापना, संयम-ग्रहण।
तीसरे इस सर्ग में है, द्वादशांगों संग्रथन।।

---

१. महामारी।
२. बाधा उपद्रव।
३. अकाल।
४. स्वराज्य पर राज्य।

चौथा सर्ग

(पद्य ४९६)

भरत का चौदह रत्न पाना और दिग् विजय करना

१. अतिथि भाँति अब चक्र हित, उत्कंठित भरतेश।
अपने शस्त्रागार में, सत्वर किया प्रवेश ॥

२. चक्र देखते ही किया, नृप ने उसे प्रणाम।
होता क्षत्रिय के लिए, शस्त्र राम का नाम ॥

३. रुचिर रोमहस्तक वसन, चक्री ने तत्काल।
कर में लेकर चक्र को, पौंछा हर्ष विशाल ॥

४. यद्यपि होती है नहीं, चक्र-रत्न पर धूल।
फिर भी भक्तों की यही, रही रीति अनुकूल ॥

५. उदयमान रवि को उदधि, ज्यों करवाता स्नान।
त्यों चक्री ने चक्र को, करवाया जल-स्नान ॥

६, उस पर चन्दन का किया, मंगल-तिलक महान।
पुनः पुष्प गंधादि से, पूजा सह सम्मान ॥

७. चक्रीश्वर श्री भरत ने, उसके आगे स्पष्ट।
रजतशालि-कण से किए, चित्रित मंगल अष्ट ॥

८. पांच वर्ण के सुमन का, वहां रखा उपहार।
चन्दन और कपूर का, धूप किया है सार ॥

९. देकर तीन प्रदक्षिणा, भरत उमंगित चाल।
आठ पैर पीछे हटे, है गुरु-भाव-विशाल ॥

१०. घुटना वाम सिकोड़ कर, वामेतर भू-न्यस्त।
किया भरत ने चक्र को, नमन जोड़कर हस्त ॥

११. तत्रस्थित श्री भरत ने, होकर हर्षित हृद्य।
उत्सव वर अष्टाह्निका, किया चक्र का सद्य ॥

१२. पूजा जिसकी पूज्य भी, करते हैं साक्षात्।
उसकी पूजा विश्व में, सब करते दिन-रात ॥

दिग् विजय के लिये भरत का प्रयाण

१३. करना है अब दिग् विजय, चक्र-रत्न के योग।
भरत स्नान-गृह में गये, करने स्नान निरोग ।।

१४. बैठे हैं अब स्नान-हित, स्नानासन पर भूप।
मुंह प्राची दिशि की तरफ, विधि यह नय-अनुरूप ।।

१५ मालिश की है देह पर, भृत्यों ने अवदात।
मांस, हाड़ औ चाम के, हित सुख प्रद साक्षात् ।।

१६. दिव्य कांति के पात्र हैं, मानव-पति महनीय।
श्रेष्ठ चूर्ण का है हुआ, उबटन अति कमनीय ।।

१७. स्वर्ण रजत, मणि, रत्न के, जल के घड़े अनेक।
कर में लेकर नारियां, खडीं हर्ष अतिरेक ।।

१८. जैसे सुर जिनराज को करवाते हैं स्नान।
नारी-गण ने भरत को, न्हलवाया अम्लान ।।

१९. दिव्य विलेपन कर किये, धारण वस्त्र सुरम्य।
और मोतियों के विशद, पहने भूषण रम्य ।।

२०. किया दिव्य ललाट पर, चन्दन-तिलक महान।
हुए सुशोभित मुकुट से, भरत-भूप असमान ।।

२१. बार-बार डुलते हुए, चामर दोनों ओर।
देख रहे जन भरत को, होकर हर्ष-विभोर ।।

२२. श्वेत छत्र है शीर्ष पर, कनक-कलश से युक्त।
है हजार सोलह परम, भक्त यक्ष उद्युक्त[1] ।।

२३. हुए रत्नकुंजर सुखद, हाथी पर आरूढ़।
तत्क्षण उसने गर्जना, की है घनवत् गूढ ।।

२४. बंदी-गण ने उस समय, ऊंचे कर निज-हाथ।
"जय-जय" रव का है किया, घोष सभी ने साथ ।।

---

१. उद्यमी

२५. ऊंचे स्वर से दुंदुभि, करती है दिग्नाद।
और दूसरे वाद्य भी, करने लगे निनाद ॥

२६. हय गज, रथ प्यादे बली, उनसे शोभित भूप।
पूर्व दिशा की ओर अब, है प्रयाण शुभ रूप ॥

२७. सेवित यक्ष हजार से, सूरज बिंब समान।
सेना के आगे चला, चक्ररत्न बलवान ॥

२८. है सेनापति-रत्न जो, अभिधा सुषेण स्वस्थ।
अश्व-रत्न पर जो हुआ, समारूढ़ विश्वस्त ॥

२९. दंडरत्न धारण किया, शूरवीर सुविनीत।
सेना के आगे चला, युद्ध-प्रवीण अभीत ॥

३०. प्रवर पुरोहित रत्न है, शान्ति मन्त्र साक्षात्।
चला नृपति के साथ वह, करने विघ्न-विघात ॥

३१. जंगमशाला अन्न की, गृहपति-रत्न महान्।
भोजन के निर्माण में, है यह समर्थवान ॥

३२. शीघ्र विश्वकर्मा सदृश, रचता स्कंधावार[1]।
वर्द्धकि-रत्न महान है, सेना में आधार ॥

३३. चर्म-छत्र भी रत्न हैं, भरत भूप के साथ।
होते स्कंधावार सम, विस्तृत हाथों-हाथ ॥

३४. सेना के सह कांकिणी, रत्न एक है सार।
सूर्य-चन्द्रमा की तरह, करता तम परिहार ॥

३५. सब शास्त्रों के सार से, किया गया निर्माण।
खड्ग रत्न ने भी किया, भरत साथ प्रस्थान ॥

३६. पीछे-पीछे चक्र के, चक्री चले सहर्ष।
सूचित करता दिग्-विजय, शकुनों का उत्कर्ष ॥

३७. दंड रत्न से कर रहा, मार्ग सुषेण समान।
जैसे हल से खेत को, करता शीघ्र किसान ॥

---

१. सेना के लिये मार्ग में रहने की व्यवस्था।

३८. है गतिमान निरन्तर चक्री, सेना जिसका आर न पार।
प्रतीति ऐसी होती, मानो, गंगा-सरिता सी साकार ॥
हय हेषा से गज गर्जन से, रथ चीत्कारों के द्वारा।
विजयोत्सव के लिये हो रहा, उत्सुक सैन्य व्यूह सारा ॥

३९. सेना से रज उड़ती तो भी, भाले उसमें चमक रहे।
मानो आवृत रवि-किरणों की, वे मजाक में उतर रहे ॥
सामानिक देवों से परिवृत, सुरपति शोभा पाता है।
भक्तिमान नृप-गण से वेष्टित, चक्री भरत सुहाता है ॥

४०. चक्र प्रथम दिन योजन चलकर, ठहर गया वर अपने-आप।
उस की गति की अनुमिति से ही, चली एक योजन की माप ॥
एक-एक योजन नित चलते, चलते कई दिनों के वाद।
गंगा के दक्षिण तट पर श्री भरत भूप पहुंचे साल्हाद ॥

गंगा के दक्षिण तट पर पड़ाव

४१. गंगा-तट की विस्तृत भू पर, सेना ने अव किया पड़ाव।
पृथक्-पृथक् छावनियों से सब, सैनिक ठहरे सहज स्वभाव।
गज-गण के मद झरने से भू, वहां हुई पंकिल सारी।
गंगा के निर्मल जल को, गज पीते हैं स्वेच्छाचारी ॥

४२. चपल चाल से कूद रहे हय, बार-बार पग धरते हैं।
गंगा-तट में तुंग तरंगों का, भ्रम पैदा करते हैं ॥
गंगा-जल में घुसे हुए हय, महिष उष्ट्र और हाथी।
उस सरिता को बना रहे हैं, नव्य मत्स्य वाली ख्याति ॥

४३. स्वल्प समय में भरत छावनी, हुई अयोध्या की भांति।
चौक, तिराहे विविध दुकानों की, श्रेणी से नव कांति ॥
भव्य तम्बूओं में रहते हैं, सैनिक, मेल परस्पर है।
निज महलों को याद न करते, मानो यही स्वीय घर है ॥

४४. मानव कई लकड़ियां लाते, कई नदी से जल लाते।
कई दूब के बोझे लाते, कई रसीले फल लाते ॥
कई शालि को कूट रहे थे, पावक कई जलाते थे।
कई स्नान करते थे मानव, चावल कई पकाते थे ॥

४५. कई प्रथम भोजन करवाकर, पदातियों को फिर करते ।
कई लोग हाथों से तन पर, दिव्य विलेपन भी करते ।।
वहां छावनी में सब चीजें, आसानी से मिल जाती ।
अतः फौज में आने की अनुभूति, कदापि न हो पाती ।।

४६. भरत एक दिन वहां ठहर कर, अब फिर आगे जाते हैं ।
प्रतिदिन योजन चलते चलते, मागध-तीर्थ मनाते हैं ।।
पूर्व अब्धि के तट पर नृप ने, भव्य छावनी डाली है ।
बारह योजन लम्बी, चौड़ी वह नौ योजन वाली है ।।

४७. रत्न-वर्द्ध की ने सेना-हित, वहां बनाये हैं आवास ।
और एक पौषधशाला भी, करने धर्म-ध्यान अभ्यास ।।
गिरि से जैसे सिंह उतरता वैसे गज से उतरे भूप ।
पौषधशाला में बिछवाया, दर्भासन दे सुन्दर रूप ।।

मगध तीर्थ की ओर प्रयाण

४८. मगध तीर्थ के सुरकुमार को, धारण कर नृप ने उसवार ।
आदि द्वार जो सिद्धि महल का अष्टम भक्त किया तपसार ।।
श्वेत वस्त्र-धारण कर, माला और विलेपन का कर त्याग ।
अन्य वस्त्र भी शस्त्र छोड़कर, पौषध किया, त्याग तन-राग ।।

४९. पौषध पूरा कर फिर निकले, पौषध-शाला से भू-पाल ।
शारद ऋतु के ज्यों घन में से, सूर्य निकलता तेज विशाल ।।
सर्व[1] अर्थ को पाकर नृप ने, बलि-विधि की है करके स्नान ।
विधि को भूल नहीं सकते हैं, यथार्थ विधि के विज्ञ महान ।।

५०. पवन वेग वाले रथ पर, फिर बैठे चक्रीश्वर निर्भीक ।
वह रथ भव्य भवन के जैसा, लगता था सुन्दर रमणीक ।।
उस पर उच्च पताकाओं से, शोभित था ध्वज स्तंभ प्रधान ।
तरह तरह के शस्त्रों से वह, सज्जित शस्त्रागार समान ।।

---

१. सिद्धि प्राप्त कर

५१. उस पर चारों बाजू घंटे, थे करते जो उच्च निनाद।
मानों चारों आशाओं को, विजय रमा को करते याद ।।
कुशल सारथी ने घोड़ों को, हांका पाकर नृप-आदेश।
भरत नव्य सागर है मानो, आया तटपर विन संक्लेश ।।

५२. इस सागर में हाथी गिरि थे, बड़े शकट[1] थे मगर महान।
अश्वों की चंचल चालें थी, तुंग तरंगों के उपमान ।।
वेला थी भू से उड़ती रज, विविध शस्त्र थे अहि अविवाद।
और गर्जना थी चक्री के, रम्य रथों का वहां निनाद ।।

५३. सागर-जल में शीघ्र चलाया, रथ को नाभि तुल्य जल बीच।
नृप ने एक हाथ चिल्ले पर, रखकर एक धनुष के बीच ।।
जरा खींचकर प्रत्यंचा को, फिर धनुष की की टंकार।
मानो है वह धनुर्वेद के, वर ओंकार तुल्य साकार ।।

५४. भाथे में से निज नामांकित, वाण निकाला है झट एक।
मुट्ठी में फिर उसे पकड़ कर, कानों तक खींचा सह वेग ।।
मगध-तीर्थ, के अधिपति पर तव, जो कि चलायाशर सत्वर।
बारह योजन उदधि लांघकर, पड़ा सभा में वह जाकर ।।

५५. अ समय में वह वाण देखकर, कुपित हुआ है मगध नरेश।
शस्त्र उठाकर अपने कर में, वह बोला कटु वचन विशेष ।।
"निज को वीर समझने वाला, कौन पुरुष यह मूढ़ महान।
जिसने मेरी सभ्य सभा में, अरे ! आज फेंका यह वाण ।।

५६. कौन पुरुष है जो ऐरावत, हाथी के दांतों को तोड़।
चाह रहा है शीघ्र बनाना, उससे कर्णपूर[2] बेजोड़ ।।
कौन पुरुष है महामूढ़ जो, शेष-नाग की मणि-माला।
चाह रहा है करगत करना, जिजीविषा[3] रखने वाला ।।

५७. कौन पुरुष है ऐसा जिसका, गर्व करूं मैं चकना चूर।
ऐसा कह कर खड़ा हुआ झट, कर में लेकर असि नर-शूर ।।
पावक का भ्रम पैदा करने, वाली घुमा रहा तलवार।
तत्क्षण उठकर खड़ा हुआ है, उसका क्रुद्ध सभी परिवार ।।

---

१. बैलगाड़ी
२. कान का आभूषण
३. जीवित रहने की इच्छा

५८. कई गगन को तलवारों से, बना रहे हैं विद्युत-रूप।
हथियारों से कई गगन को, नाना निशा-नाथ अनुरूप।।
कई तेज भालों को लेकर, चारों ओर उछाल रहे।
कई परशुओं को कर-गत कर, जोर जोर से घुमा रहे।।

५९. कई मुद्गरों कई त्रिशूलों, दंडों को भी उठा रहे।
सिंहनाद कर रहे कई औ, कई भुजाएँ ठोक रहे।।
मारो! मारो! जोर जोर से, मानव कई पुकार रहे।
"पकड़ो!" "पकड़ो!" "ठहरो!" "ठहरो!" कई जोर से बोल रहे।।

६०. करने लगा अनोखी ऐसी, चेष्टाएँ सारा परिवार।
फिर वजीर ने बाण उठाकर, देखा चक्री का साकार।।
उस पर मंत्राक्षरों तुल्य थे, लिखे हुए जो अक्षर स्पष्ट।
बुद्धिमान वजीर वीर को, दिए दिखाई वे विन कष्ट।।

६१. तीन लोक के स्वामी, अन्तर्यामी ऋषभनाथ भगवान।
उनके पुत्र भरत चक्रीश्वर, करते आज्ञा तुम्हें प्रदान।।
तुम यदि जीवन और राज्य की, कुशल कामना करते हो।
सविनय करो हमारी सेवा, अगर मौत से डरते हो।।

६२. मंत्री ने पढ़कर वे अक्षर, और अवधि से करके ज्ञान।
निज स्वामी को और सभी को, शीघ्र बताया है वह बाण।।
और कहा है उच्च स्वर से, हे नृप-गण! तुमको धिक्कार।
अर्थ बुद्धि[1] तुम निज स्वामी का, कितना करते हो अपकार।।

६३. भरत क्षेत्र में ऋषभदेव-सुत भरत हुए चक्री बलवान।
दंड मांगते हैं वे हम से, पाकर शासन इन्द्र समान।।
अपनी आज्ञा में हम सबको, रखना चाह रहे भूपाल।
क्योंकि चक्रवर्ती का होता, षट्खण्डों में राज्य विशाल।।

६४. कभी कदाचित् सागर का भी, शोषण करना सम्भव है।
कंचन गिरि का भार उठाना, वह भी नहीं असम्भव है।।
चूर्ण किया जा सके वज्र का, भूमि उलटना भी न अशक्य।
किन्तु जीतना चक्रीश्वर को, जगतल में है कार्य न शक्य।।

---

१. स्वार्थी

५१. उस पर चारों बाजू घंटे, थे करते जो उच्च निनाद ।
मानों चारों आशाओं को, विजय रमा को करते याद ।।
कुशल सारथी ने घोड़ों को, हांका पाकर नृप-आदेश ।
भरत नव्य सागर है मानो, आया तटपर विन संक्लेश ।।

५२. इस सागर में हाथी गिरि थे, बड़े शकट[1] थे मगर महान ।
अश्वों की चंचल चालें थी, तुंग तरंगों के उपमान ।।
वेला थी भू से उड़ती रज, विविध शस्त्र थे अहि अविवाद ।
और गर्जना थी चक्री के, रम्य रथों का वहां निनाद ।।

५३. सागर-जल में शीघ्र चलाया, रथ को नाभि तुल्य जल बीच ।
नृप ने एक हाथ चिल्ले पर, रखकर एक धनुष के बीच ।।
जरा खींचकर प्रत्यंचा को, फिर धनुष की की टंकार ।
मानो है वह धनुर्वेद के, वर ओंकार तुल्य साकार ।।

५४. भाथे में से निज नामांकित, बाण निकाला है झट एक ।
मुट्ठी में फिर उसे पकड़ कर, कानों तक खींचा सह वेग ।।
मगध-तीर्थ, के अधिपति पर तब, जो कि चलायाशर सत्वर ।
बारह योजन उदधि लांघकर, पड़ा सभा में वह जाकर ।।

५५. अ समय में वह बाण देखकर, कुपित हुआ है मगध नरेश ।
शस्त्र उठाकर अपने कर में, वह बोला कटु वचन विशेष ।।
"निज को वीर समझने वाला, कौन पुरुष यह मूढ़ महान ।
जिसने मेरी सम्य सभा में, अरे ! आज फेंका यह बाण ।।

५६. कौन पुरुष है जो ऐरावत, हाथी के दांतों को तोड़ ।
चाह रहा है शीघ्र बनाना, उससे कर्णपूर[2] बेजोड़ ।।
कौन पुरुष है महामूढ़ जो, शेष-नाग की मणि-माला ।
चाह रहा है करगत करना, जिजीविषा[3] रखने वाला ।।

५७. कौन पुरुष है ऐसा जिसका, गर्व करूं मैं चकना चूर ।
ऐसा कह कर खड़ा हुआ झट, कर में लेकर असि नर-शूर ।।
पावक का भ्रम पैदा करने, वाली घुमा रहा तलवार ।
तत्क्षण उठकर खड़ा हुआ है, उसका क्रुद्ध सभी परिवार ।।

---

१. बैलगाड़ी
२. कान का आभूषण
३. जीवित रहने की इच्छा

५८. कई गगन को तलवारों से, बना रहे हैं विद्युत-रूप।
हथियारों से कई गगन को, नाना निशा-नाथ अनुरूप ।।
कई तेज भालों को लेकर, चारों ओर उछाल रहे।
कई परशुओं को कर-गत कर, जोर जोर से घुमा रहे ।।

५९. कई मुद्गरों कई त्रिशूलों, दंडों को भी उठा रहे।
सिंहनाद कर रहे कई औ, कई भुजाएँ ठोक रहे ।।
मारो ! मारो ! जोर जोर से, मानव कई पुकार रहे।
"पकड़ो!" "पकड़ो!" "ठहरो!" "ठहरो!" कई जोर से बोल रहे ।।

६०. करने लगा अनोखी ऐसी, चेष्टाएँ सारा परिवार।
फिर वजीर ने बाण उठाकर, देखा चक्री का साकार ।।
उस पर मंत्राक्षरों तुल्य थे, लिखे हुए जो अक्षर स्पष्ट।
बुद्धिमान वजीर वीर को, दिए दिखाई वे बिन कष्ट ।।

६१. तीन लोक के स्वामी, अन्तर्यामी ऋषभनाथ भगवान।
उनके पुत्र भरत चक्रीश्वर, करते आज्ञा तुम्हें प्रदान ।।
तुम यदि जीवन और राज्य की, कुशल कामना करते हो।
सविनय करो हमारी सेवा, अगर मौत से डरते हो ।।

६२. मंत्री ने पढ़कर वे अक्षर, और अवधि से करके ज्ञान।
निज स्वामी को और सभी को, शीघ्र बताया है वह बाण ।।
और कहा है उच्च स्वर से, हे नृप-गण ! तुमको धिक्कार।
अर्थ बुद्धि[1] तुम निज स्वामी का, कितना करते हो अपकार ।।

६३. भरत क्षेत्र में ऋषभदेव-सुत भरत हुए चक्री बलवान।
दंड मांगते हैं वे हम से, पाकर शासन इन्द्र समान ।।
अपनी आज्ञा में हम सबको, रखना चाह रहे भूपाल।
क्योंकि चक्रवर्ती का होता, षट्खण्डों में राज्य विशाल ।।

६४. कभी कदाचित् सागर का भी, शोषण करना सम्भव है।
कंचन गिरि का भार उठाना, वह भी नहीं असम्भव है ।।
चूर्ण किया जा सके वज्र का, भूमि उलटना भी न अशक्य।
किन्तु जीतना चक्रीश्वर को, जगतल में है कार्य न शक्य ।।

---

१. स्वार्थी

६५. अतः अल्पधी वाले राजन् ! लेकर उचित भेंट सब साथ।
नमस्कार करने चक्री को चलो जो कि है अपने नाथ ॥
गंध-हस्ति के मद से जैसे, अन्य सभी गज होते शान्त।
वैसे मंत्री-कथन श्रवण कर, हुआ मगधपति भी उपशान्त ॥

६६. वाण, भेंट लेकर वह आया, तत्क्षण भरत नृपति के पास।
कर प्रणाम श्री चक्रीश्वर को, बोल रहा है वह सोल्लास ॥
हे नृप ! विधु की तरह, भाग्य से हुए आपके दर्शन आज।
हम हैं चरण कमल के सेवक, आप हमारे मस्तक ताज ! ॥

६७. जैसे आदि तीर्थंकर होकर, विजय पा रहे ऋषभ जिनेश।
वैसे आदि चक्रधर होकर, विजयी होवें आप नरेश ॥
ऐरावत के तुल्य न कोई, हाथी जग-तल में होता।
नही वायु के तुल्य दूसरा, जग में बलशाली होता ॥

६८. जैसे नभ के समान कोई, प्रमाणनीय नहीं होता।
वैसे प्रभो ! आपके जैसा, अन्य नहीं कोई होता ॥
प्रभो ! आपके कर से छूटा हुआ वाण सहनीय नहीं।
मुझ प्रमत्त पर प्रभो ! आपने, की है करुणा आज सही ॥

६९. मुझे स्वीय कर्त्तव्य बताने, प्रभो ! आपने भेजा वाण।
अतः आज से करूं आपकी, आज्ञा मैं सह-हर्ष प्रमाण ॥
और आपके द्वारा मैं अब, नियुक्त विजय के स्तम्भ समान।
सदा रहूँगा मगध तीर्थ में, निश्छल भक्त विनीत महान ॥

७०. यह सुराज्य यह परिकर सारा, तथा दूसरा जो कुछ है।
वह सब प्रभो ! आपका ही है, और आप ही सब कुछ हैं ॥
यों कह कर जल मगध तीर्थ का, मुकुट और कुंडल दो वाण।
भेंट किये हैं, उन्हें भरत ने, लेकर किया मगध-सम्मान ॥

७१. तदनन्तर फिर उसी मार्ग से, भरत छावनी में आये।
अट्ठम तप का किया पारणा, और सभी जल से न्हाये ॥
चक्री ने फिर मगधाधिप का, उत्सव[1] किया चक्रसम कान्त।
दक्षिण दिग् में चक्र चला, वरदाम तीर्थ की ओर नितान्त ॥

७२. ज्यों कि धातु के पीछे चलते, सभी प्र-पर-आदिक उपसर्ग।
तथा चक्र के पीछे चक्री, चले किसी भी विन उपसर्ग।।
योजन-मात्र हमेशा चलते, हुए चक्रवर्ती साक्षात्।
दक्षिण सागर पर पहुंचे हैं, क्षेम-कुशल से निर्व्याघात।।

दक्षिण सागर पर चक्री का आगमन

७३. उसके तट पर चक्रीश्वर ने, स्वीय छावनी डाली है।
वर्द्धकि द्वारा वास-व्यवस्था, सचमुच वहां निराली है।।
पौषधशाला में नृप ने, वरदाम तीर्थ का जो है देव।
उसको धारण कर हृत्-तल में, पौषध ग्रहण किया स्वयमेव।।

७४. अट्ठम तप पूरा कर निकला, पौषधशाला से तत्काल।
काल वृक्ष[1] कर में लेकर फिर, रथ में बैठा है भूपाल।।
उत्तम रथ वह चला नाभि तक, जल-निधि जल में पोत समान।
रथ को रश्मि[2] खींच ठहराया, पुनः सारथी ने तत् स्थान।।

वरदाम तीर्थ

७५. धनुष झुकाकर चक्रीश्वर ने, किया जोर से फिर टंकार।
और कान तक खींच चलाया, मानो वाण पवन अनुहार।।
वारह योजन शीघ्र लांघकर, मानो विजली है साक्षात्।
वाण गिरा वरदाम-नाथ के, सभा भवन में भयप्रद वात।।

७६. वाण देख वरदाम-नाथ के, गुस्से की सीमा न रही।
वह वोला उत्कट वाणी में, कौन अरे! यह दुष्ट सही।।
सोते हुए सिंह को जिसने ठोकर मार जगाया है।
कोढ़ी वत् निज जीवन से हो, विरत कौन यह आया है।।

७७. जिसने साहस करके मेरी, राज-सभा में फेंका वाण।
इसी वाण से मैं अव लूंगा, एक पलक में उसके प्राण।।
किन्तु वाण जव देखा उसने, और लिखित उस पर जो नाम।
शान्त हुआ है उसे देखकर, जैसे जल से अग्नि प्रकाम।।

---

१. महाभारत के प्रसिद्धवीर कर्ण के धनुप का नाम भी 'कालवृक्ष था।
२. लगाम

७८. अहो ! यथा मेंढ़क भी अहि की, चाह रहा हत्या करना।
जैसे अज[1] सींगो से गज पर, चाह रहा प्रहरण करना ॥
चाह रहा निज दांतों से गज, गिरि को चूर चूर करना।
वैसे ही मैं लगा चाहने, चक्री संग समर करना ॥

७६. विविध तरह की भेंटें लेकर, आया वह चक्री के पास।
नत-मस्तक होकर चक्री को, नमस्कार करके सोल्लास ॥
करता है उपहार भक्ति से, और हृदय के भाव प्रकाश।
समुपस्थित हूँ चरण कमल में, प्रभो ! आपका मैं हूँ दास ॥

८०. आप स्वयं आये हैं फिर भी, मैं न सामने आ पाया।
यह मेरा अपराध हुआ है, क्षमा मांगने अब आया ॥
हे स्वामी ! ज्यों श्रांत पुरुष को, मिल जाता विश्राम-स्थान।
वैसे मुझ स्वामी विहीन को, आप मिले स्वामी बलवान ॥

८१. हे चक्रीश्वर ! ज्यों जल-निधि पर रहता है गिरि वेलाधर[2]।
त्यों सेवक की भांति रहूँगा, आज्ञाकारी नित होकर ॥
यों कहकर वरदाम-नाथ ने, वाण रखा चक्री के पास।
और एक कटि सूत्र मोतियों, का उपहार किया सोल्लास ॥

८२. भेंट ग्रहण कर भरत-भूप ने, उस पर किया अनुग्रह है।
मानो अपना कीर्तिमान ही, स्थापित किया वहीं पर है ॥
विदा किया वरदामनाथ को, भरत-भूप ने सह सम्मान।
और छावनी में फिर आया, विजयी राजा भरत महान ॥

पश्चिम सागर पर चक्री

८३. अट्ठम तप का किया पारणा, भरत भूमिपति ने विन क्लेश।
और किया वरदामनाथ का, उत्सव अष्टाह्निका विशेष ॥
फिर चक्रीश्वर चले चक्र के, पीछे पीछे हर्ष अपार।
पश्चिम जल-निधि पर आ पहुँचे, वहां छावनी डाली सार ॥

---

१. बकरा २. सीमा को धारण करने वाला

८४. अट्ठम तप फिर किया वहां पर, प्रभास-पति का लेकर ध्येय।
पहले ही की तरह किया है, पौषधव्रत व्रत है जो श्रेय।।
पौषध पूरण कर जल-निधि में, रथ पर बैठ प्रवेश किया।
पहिये की है धुरी वहां तक, जल में जा रथ खड़ा किया।।

प्रभास तीर्थ

८५. धनुष झुकाकर चक्रीश्वर ने, किया जोर से फिर टंकार।
और कान तक खींच चलाया, मानो बाण पवन अनुहार।।
बारह योजन शीघ्र लांघ कर, बाण गिरा है वह तत्काल।
पति प्रभास के सभा भवन में, भय से हुए सभी बेहाल।।
८६. उसने तत्क्षण बाण उठाकर, देखा लिखा हुआ अभिधान।
शान्त चित्त तब भरत निकट वह, आया लेकर भेट रु बाण।।
नमस्कार कर भरत-भूप को, करता है वह वचन प्रकाश।
देव ! आपके द्वारा भासित, हुआ वस्तुतः आज प्रभास।।
८७. रवि की किरणों से ही होता, कमल वस्तुतः कमल[1] नितान्त।
पश्चिम दिग् में प्रभो ! रहूँगा, मैं आज्ञाकारी एकान्त।।
फिर प्रभासपति ने यों कहकर, बाण, मुकुट कंदोरा, हार।
और कई चीजें चक्री को, की है श्रद्धा से उपहार।।
८८. चक्री ने इन सब चीजों की, की है भेंट सभी स्वीकार।
होता स्वामी-अनुकम्पा का, चिन्ह ग्रहण करना उपहार।।
कर प्रभासपति को प्रस्थापित, भरत छावनी में आये।
अट्ठम-तप का किया पारणा, मन-इच्छित भोजन खाये।।

दक्षिण सागर पर चक्री

८९. उत्सव अष्टाहिका किया फिर, पति प्रभास का हर्ष अपार।
समुचित है आरम्भ काल में, सेवक का करना सत्कार।।
दक्षिण सागर-तट पर आये, भरत चक्र के अनुगामी।
सिन्धु नदी के पूर्व दिशा में, जहां सिंधु देवी नामी।।

---

१. कं—जलं अलन्ति-भूपयन्ति इति कमलानि
जल को जो सुशोभित करता है, उसे कमल कहते हैं।

९०. वहां छावनी डाली नृप ने, अट्ठम-तप प्रारम्भ किया।
मन में चिंतन सिंधु सुरी का, चक्रीश्वर ने शीघ्र किया ।।
आसन कंपित हुआ सुरी का, आई है लेकर उपहार।
जय-जय शब्दों के द्वारा फिर, करती है पूजा सत्कार ।।

९१. हे चक्री। मैं यहां आपकी, सदा सेविका रहती हूं।
और रहूंगी आज्ञा में, यह स्पष्ट आपको कहती हूं ।।
ग्रहण करो ये भेंट हमारी, कड़े, बाहु-रक्षक रमणीय।
औ हजार आठ रत्नों के, कलश आदि चीजें कमनीय ।।

९२. चक्री ने ये भेंट ग्रहण कर, देवी को फिर विदा किया।
अट्ठम-तप का स्वर्ण-थाल में, पुण्य पारणा सुखद किया ।।
उत्सव अष्टाह्निका किया फिर, देवी का मन हर्ष अपार।
फिर आगे प्रस्थान किया है चक्र-प्रदर्शित-पथ-अनुसार ।।

वैताढ्य गिरि के दक्षिण की ओर

९३. क्रमशः चलते हुए भरत-नृप, पहुंचे गिरि वैताढ्य समीप।
फिर पड़ाव गिरि के दक्षिण में, डाला मानो नूतन द्वीप ।।
अट्ठम तप फिर किया भरत ने, आसन कंपित अतः हुआ।
अवधि ज्ञान से सुर[1] ने जाना, पहला चक्री भरत हुआ ।।

९४. उसने नभ-स्थित कहा-"आपकी-जय हो प्रभो! सदा जय हो।
सेवक हूँ मैं मुझे दीजिये, आज्ञा, नाथ! सदा-जय हो ।।"
रत्नों के आभरण कीमती, रत्न आदि चीजें-उपहार।
स्वीकृत कर चक्री ने उसको, विदा किया है कर सत्कार ।।

तमिस्रा गुफा की ओर प्रयाण

९५. अट्ठम-तप का किया पारणा, और देव का उत्सव रम्य।
चक्र-रत्न अब हुआ अग्रसर, गुफा तमिस्रा तरफ अदम्य ।।
चक्री चले चक्र के पीछे, पहुंचे गुफा तमिस्रा पास।
वहाँ छावनी डाली मानो, उतरे विद्याधर-आवास ।।

---

१. वैताढ्यादि कुमार सुर

९६. स्मृति में कर कृतमाल देव को, अट्ठम तप प्रारम्भ किया।
अवधि-ज्ञान से उसने, "चक्री आया है" यों जान लिया ।।
आसन कंपित हुआ देव का, आया वह चक्री के पास।
गुरु की तरह अतिथि चक्री की, पूजा करने हित सोल्लास ।।

९७. "हे ! स्वामी इस गुफा द्वार पर, रहा आपका मैं दरबान।"
यों कहकर उसने चक्री की, सेवा की स्वीकृत हित जान ।।
तिलक, चतुर्दश भूषण, उत्तम, माला, दिव्य वसन उपहार।
चक्री ने स्वीकृत कर उसको, दी है विदा सहित सत्कार ।।

दक्षिण सिंधु निष्कुट की ओर सुषेण का प्रयाण

९८. चक्री ने फिर किया पारणा, राजकुमारों साथ सहर्ष।
और किया कृतमाल देव का, उत्सव अष्टाह्निका प्रकर्ष ।।
अथ सुषेण सेनानायक को, चक्री ने आदेश दिया।
"चर्म रत्न से सिन्धु नदी को, पार करो यह करो क्रिया ।।

९९. म्लेच्छ लोग वैताढ्य शैल के, परिसर[1] में करते हैं वास।
उनको वश में करो जीत कर, होगा तब ही सफल प्रयास ।।"
सुषेण सेनापति ने चक्री, की आज्ञा मानी तत्काल।
तत्पर हुआ कार्य को करने, मन में है उल्लास विशाल ।।

१००. जल-स्थल ऊंचे-नीचे दुर्गम, स्थानों से वह परिचित था।
मानों जन्मा हुआ वहीं का, तद्भाषा से अवगत था ।।
बलशाली था सिंह तुल्य वह, तेजस्वी था सूर्य समान।
सभी लक्षणों से संपूर्ण था, सुर-गुरु जैसा था मतिमान ।।

१०१. तत्क्षण सामंतों को उसने, आज्ञा दी चलने को साथ।
स्नान और बलि देकर ऊंचे, गज पर बैठा सेना-नाथ ।।
बड़े कीमती गहने पहने, धारण किया कवच मजबूत।
कौतुक[2] मंगल[3] और किया था, प्रायश्चित्त[4] विशद आकूत ।।

---

१. सिंधु समुद्र और वैताढ्य पर्वत के बीच में आये हुए दक्षिण सिंधु निष्कुट (सिंधु के दक्षिण किनारे वाले बगीचे के समान प्रदेश)

२. उत्सव ३. शुभ ४. शोधन

१०२. हार किया धारण रत्नों का, और कमर पर एक कटार।
सोने के सुन्दर दो भाथे, पीठ भाग पर थे सुखकार॥
श्वेत छत्र-चमार से शोभित, सेना से वह घिरा हुआ।
अंगूठे से गज को चालित कर, प्रस्थित सब सैन्य हुआ॥

१०३. चक्री की आधी सेना सह, सिंधु किनारे आया है।
सेना-पति ने चर्म-रत्न के, अपना हाथ लगाया है॥
चर्म-रत्न चक्री का बारह योजन तक बढ़ जाता है।
प्रातः बोया हुआ धान्य वह, साँय ही उग जाता है॥

१०४. नदी, झील, जल-निधि का जिससे, पाया जा सकता है पार।
उभय किनारे फैले उसके, सहज भाव से ही साकार॥
उसे रखा सरिता के जल में, सेना-नायक ने तत्काल।
उस पर चल कर पार किया है, सेनानी ने सिंधु विशाल।

१०५. सरस सिंधु के दक्षिण तट-स्थित, सकल प्रदेशों को तत्काल।
विजय प्राप्त करने हित फैला, वहाँ सिंधु की तरह विशाल॥
सिंहल लोगों को जीता है, जो थे सिंह समान अदीन।
बर्बर लोगों को गुलाम की, तरह किया है स्वीय अधीन॥

१०६. शीघ्र टंकणों को जीता है, यवन द्वीप को जीत लिया।
और कालमुख म्लेच्छों को भी, अपने वश में शीघ्र किया॥
जोनक नामक म्लेच्छ जनों को, हरा दिया है बल द्वारा।
गिरि वैताढ्य आस-पास के, सब म्लेच्छों को दुत्कारा॥

१०७. आगे चलकर सेनापति ने, जीत लिया है कच्छ प्रदेश।
अब सब म्लेच्छों ने अपना नृप, मान लिया है भरत-नरेश॥
आते हैं अब भेंट लेकर, म्लेच्छ देश के पृथ्वी-पाल।
लाते हैं अब कई म्लेच्छ नृप, वर रत्नों के ढेर विशाल॥

१०८. कई विंध्य पृथ्वीधर जैसे, हाथी लेकर आते हैं।
कई सूर्य के घोड़ों से भी, बढ़कर घोड़े लाते हैं॥
सार-भूत जो भी चीजें थीं, उनकी भेंट चढ़ाते हैं।
गिरि से सरिताकृष्ट रत्न सब, रत्नाकर में आते हैं॥

१०९. यों भेंटें कर सेना-पति को, अपने भाव बताते हैं।
"हम नौकर की तरह रहेंगे", स्पष्ट सभी यों गाते हैं।।
सेनानी ने फिर सत्कृत कर, सब म्लेच्छों को विदा किया।
फिर जैसे आया था वैसे, पुनः सिन्धु के पार गया।।

११०. चक्री को सब भेंटें दी हैं, जो म्लेच्छों से प्राप्त हुई।
सेना नायक की चक्री के, द्वारा इज्जत व्याप्त हुई।।
एक दिवस फिर सेनापति को, चक्री ने आदेश दिया।
"गुफा तमिस्रा के दरवाजे खोलो",, यों संकेत किया।।

१११. शिरोधार्य कर चक्री-आज्ञा, सेनापति अब आया है।
गुफा तमिस्रा के बाहर वर, अट्ठम तप अपनाया है।।
अधिकारी स्वर्णिम देव का, स्मरण किया उसने अविकार।
न्हाकर स्वर्णिम धूपपात्र ले, आया शीघ्र गुफा के द्वार।।

११२. अष्टाह्निका किया है उत्सव, आठ बनाये मंगल[1] स्पष्ट।
दण्ड रत्न कर में फिर लेकर, पीछे हटा कदम वह अष्ट।।
वज्र रत्न से सेनानी ने, किया कपाटों पर आघात।
और वाद्य की तरह गुफा को, गुंजा दिया तदा साक्षात्।।

११३. तत्क्षण वे खुल गये गुफा के, बंद पड़े जो वज्र कपाट।
सेनापति ने जाकर चक्री को, दी है यह खबर विराट।।
उत्तर भरत-खण्ड पर अपना, शीघ्र जमाना है अधिकार।
अतः भरत ने किया गुफा में, प्रवेश अश्व रत्न के द्वार।।

उत्तर भरत खण्ड की ओर चक्री का प्रयाण

११४. ग्रहण किया चक्रीश ने, वरमणि रत्न महान।
सेवित यक्ष सहस्र से, अंगुल चार प्रमाण।।

११५. शिर पर चोटी वत् उसे, जो रखता दिन-रात।
सुर-वर तिर्यग् का नहीं, हो सकता उत्पात।।

११६. होता रत्न-प्रभाव से, सब दुःखों का नाश।
और पुरुष के रोग का, होता शीघ्र विनाश।।

---

१. चांवलों के आठ मांगलिक बनाये

११७. उसको गज के दाहिने,-कुम्भ-स्थल की ओर।
रखा भरत चक्रीश ने, होकर हर्ष-विभोर॥

११८. अंगुल चार प्रमाण है, रत्न-कांकिणी पूत।
ग्रहण किया है भरत ने, रवि-सी-कान्ति प्रभूत॥

११९. अधिकरणी के तुल्य था, जिसका वर आकार।
सोनैयाष्टक मान था, रक्षक यक्ष हजार॥

१२०. उसमें पत्तेषट्क थे, द्वादश कोने रम्य।
था नीचे का भाग सम, आठ कर्णिका गम्य॥

१२१. मान्मोमान प्रमाण से, था वह पूर्ण नितान्त।
बारह योजन तक तिमिर, कर सकता उपशान्त॥

तमिस्रा गुफा में मंडल

१२२. गुफा तमिस्रा में वहां, भीतर दोनों ओर।
मंडल निर्मित कर रहे, चक्री चतुर चकोर॥

१२३. एक दाहिनी ओर, इक बांई ओर प्रकाश।
रत्न-कांकिणी से किये, वर मण्डल उन्चास॥

१२४. प्रति मंडल विस्तार में, धनुष पांच सौ ख्यात।
करता योजन एक में, वह प्रकाश साक्षात्॥

१२५. जब तक रहते जगत् में, चक्रीश्वर सम्राट्।
गुफा तमिस्रा के रहें, तब तक खुले कपाट॥

१२६. मंडल के उद्योत में, सब सेना सोत्साह।
आगे बढ़ती जा रही, जैसे नदी-प्रवाह॥

१२७. चक्र-चमू[1] के योग से, गुंजित गुफा तमाम।
हुआ गुफा का मार्ग भी, नगर-मार्ग अभिराम॥

१२८. क्रमशः पहुंचे हैं गुफा-मध्य भाग में भूप।
उन्मगना औनिमग्ना, सरिता जहां सुरूप॥

१—सेना

१२९. उन्मगना में तैरते, पत्थर तूम्बी भाँति ।
निमग्ना में डूबती, तूम्बी पत्थर भाँति ।।

१३०. नदियां दोनों निकलतीं, जहां पूर्व[1] दीवार ।
मिल जाती वे सिन्धु में, होकर पश्चिम[2] द्वार ।।

१३१. किया वर्द्ध की रत्न ने, उन पर पुल निर्माण ।
मानों उसमें एक ही, जटित किया पाषाण ।।

१३२. उसकी समतल भूमि थी, वज्र-तुल्य मजबूत ।
मानो गुफा-कपाट से, है वह निर्मित पूत ।।

१३३. पुल के द्वारा हो गया, जल-पथ सुगम महान् ।
प्राप्त किया चक्रीश ने, नदी-पार आसान ।।

१३४. क्रमशः पहुंचे हैं गुफा, उत्तर दिशि के द्वार ।।
उसके दोनों खुल गये, द्वार स्वतः उस बार ।।

१३५. निकली उन्हीं कपाट से, सर-सर की आवाज ।
मानो जाने के लिये, कहती है निर्व्याज ।।

१३६. गुफा-द्वार में से प्रथम, निकला चक्री-चक्र ।
पीछे निकले भूमिपति, ऋषभ-पुत्र-नर-शक्र ।।

१३७. पीछे हाथी, अश्व, रथ, प्यादे सब बलवान ।
गुफा-द्वार में से सभी, निकले हर्ष महान् ।।

१३८. है पचास योजन गुफा-लम्बी जो प्रत्यक्ष ।
उसे लाँघ कर आ रहे, भरत समर में दक्ष ।।

भीलों के साथ भरत का युद्ध

१३९. उत्तर के भरतार्द्ध को, करने अपने हाथ ।
प्रविष्ट उत्तर खण्ड में, हुए भरत नर-नाथ ।।

१४०. बसते थे उस खण्ड में, भील जाति आपात ।
जो तेजस्वी थे घनी, और बली साक्षात् ।।

१—ये दोनों नदियां तमिस्रा गुफा की पूर्व दीवार से निकलती है ।
२—पश्चिम दीवार में होकर सिंधु नदी में मिल जाती है ।

१४१. आसन, वाहन, शयन औ, ऊँचे महल मकान ।
कनक-रजत-भंडार थे, सर्व कुवेर समान ।।

१४२. थे कुटुम्ब उनके बड़े, दासी-दास अनेक ।
जीत न सकता था उन्हे, कोई भी नर छेक ।।

१४३. आक्रमण जब भरत ने, उन पर किया हठात् :
तब अनिष्ट सूचक बहुत, दीख रहे उत्पात ।।

१७४. चक्री-सेना-भार से, मानो दुखो महान ।
गेह बगीचों की हुई, भू कम्पित असमान ।।

१४५. आग वहां जलने लगी, चारों ओर सजोर ।
नभ सारा आछन्न है, रज-कण से सब ओर ।।

१४६. दुष्ट पवन बढ़ने लगे, नभ में उल्का-पात ।
इधर उधर उड़ने लगे, चीलें कौए ख्यात ।।

१४७. उधर भरत बढ़ने लगे, लेकर सेना साथ ।
लगते थे वे चक्र से, बड़े भयंकर नाथ ।।

१४८. उनको आते देकर, भील हुए हैं क्रुद्ध ।
मानों चक्री साथ वे तत्पर करने युद्ध ।।

१४९. ओघारुण कहने लगे, कौन पुरुष यह मूढ़ ।
चाह रहा है मौत को, बात न समझे गूढ़ ।।

१५०. तभी हमारे देश में, आया विना विचार ।
जैसे जाता है हिरण, सिंह-गुफा के द्वार ।।

१५१. "छिन्न-भिन्न करता त्वरित, ज्यों घन को पवमान ।
त्यों इस उद्धत का करें, क्षण भर में अवसान ।।"

१५२. जोर जोर से इस तरह, कहते हुए किरात ।
हुए सुसज्जित युद्ध-हित, भरत भूप के साथ ।।

१५३. कई लगे हैं खींचने, तलवारें तत्काल ।
और उठाते हैं कई, भाले बहुत विशाल ।।

१५४. तरह तरह के शस्त्र ले, हुए सभी तैयार ।
एक मनुज भी था नहीं, विना हाथ हथियार ।।

१५५. प्रलय-काल के मेघ-सम, शस्त्रों की बरसात ।
भरत सैन्य पर कर रहे, मिलकर सभी किरात ॥

१५६. दण्डों के आघात से, चक्री सैनिक शूर ।
उछल उछल कर गिर रहे, गेंद भांति अतिदूर ॥

१५७. चक्री की सेना हुई, शस्त्राहत तत्काल ।
वह पीछे हटने लगी, खोकर धैर्य विशाल ॥

१५८. हुई पराजित देखकर, सेना, सेना-नाथ ।
क्षण में नर के रूप में, हुआ आग साक्षात् ॥

१५९. देखा जा सकता नहीं, उसका आनन लाल ।
म्लेच्छों को करने ग्रसित, बना यक्ष विकराल ॥

१६०. धारण कर कंचन-कवच, सेना का सरदार ।
कमलापीड सुनाम के, हय पर हुआ सवार ।

१६१. ऊंचाई उस अश्व की, अंगुल अस्सी मान ।
है अंगुल निन्यानवे, यह विस्तार प्रमाण ॥

१६२. है लम्बाई एक सौ, अष्टांगुल विख्यात ।
सिर अंगुल बत्तीस की, ऊँचाई पर ख्यात ॥

खड्ग-रत्न

१६६. ऐसे हय पर बैठ कर, खड्गरत्न ले हाथ ।
हुआ शत्रुओं के लिये, मृत्यु-पत्र साक्षात् ॥

१६४. लम्बाई में खड्ग था, अंगुल पूर्ण पचास ।
अंगुल सोलह खड्ग था, चौड़ाई में खास ॥

१६५. मोटा अंगुल आध था, सोने का था म्यान ।
मढ़ा हुआ था रत्न से, तेज धार असमान ॥

१६६. मानो वह था दूसरा, वज्र बहुत मजबूत ।
शीघ्र निकाला म्यान से, बाहर तेज प्रभूत ॥

१६७. इसी खड्ग के ग्रहण से, सेनापति अभिजात ।
लगता था वह केसरी-,सिंह कवच-वर ख्यात ॥

१६८. घोड़े को दौड़ा दिया, रण-भूमी की ओर।
असि को शीघ्र घुमा रहा, विद्युत वत् सब ठौर॥

१६९. ज्यों जल को जलकान्त मणि, शीघ्र डालती चीर।
वैसे रिपु-दल चीर कर, पहुँचा रण में वीर॥

१७०. सेनानायक ने किया, जब आक्रमण सजीव।
वैरी सब व्याकुल हुए, मृग की भाँति अतीव॥

१७१ बैठ गये हैं भूमि पर कई आँख कर बन्द।
जो कि खड़े थे वे खड़े, थे मृगवत् निष्पन्द॥

१७२. कई वन्दरों की तरह, बैठे दुर्गम द्वार।
कइयों के तरु-पत्रवत्, पतित हुए हथियार॥

१७३. कइयों के यश की तरह, छत्र हुए भू-सात्।
भय से इधर उधर कई, भाग गये साक्षात्॥

१७४. कइयों के हय स्थिर हुए, मन्त्रित सूर्य समान।
भाग गये हैं म्लेच्छ सब, लेकर अपने प्राण॥

१७५. ज्यों पानी की बाढ़ से, बह जाते तरु-व्यूह।
त्यों सुषेण जल-बाढ़ से, तत्क्षण म्लेच्छ समूह॥

१७६. फिर वे कौओं की तरह, जमा हुए एकत्र।
आये थोड़ी देर में, सिन्धु नदी है यत्र॥

१७७. धूली-शय्या-स्थित सभी, ऊँचाकर मुंह द्वार।
मेघमुखादिक देव जो, हैं वे नाग-कुमार॥

१७८. अपने हैं कुल देव वे, उनका करके ध्यान।
अट्ठम तप प्रारम्भ कर, बैठे मन अम्लान॥

१७९. अट्ठम तप के अन्त में, प्रकम्पितासन देव।
मानों चक्री-चक्र से, हुए भीत स्वयमेव॥

१८०. अवधि-ज्ञान से देखकर, जीवन दुखी विशाल।
म्लेच्छ जनों के सामने, प्रकट हुए तत्काल॥

१८१. नभ में रह करके उन्हें, पूछ रहे दिल-चाह।
"पूर्ण करेंगे हम उसे, बतलाओ सोत्साह"॥

१८२. दीन-वदन तब म्लेच्छगण, कहते हैं कर-जोड़ ।
"महादुखी हैं आज हम, दो दुख-बन्धन तोड़ ।।

१८३. हमले से वंचित रहा, सदा हमारा देश ।
अब कोई आया यहां, हमलाखोर विशेष ।।

१८४. आप कृपा कर कीजिए, ऐसा कोई काम ।
रहे यहां पर वह नहीं, जाये अपने धाम ।।"

१८५. देवों ने तत्क्षण कहा, "सुनो किरातो ! बात ।
भरत नाम का भूप यह, है चक्री साक्षात् ।।

१८६. है अजेय यह इन्द्रवत्, गिरिवत् सदा अभेद्य ।
मंत्र, तंत्र, विष, शस्त्र से, है न कभी परिछेद्य ।।

१८७. फिर भी आग्रह आपका, टाल न सकते आज ।
उसे कष्ट देकर करें, पीड़ित बे-अन्दाज ।।

१८८. क्षण भर में नभ में वहां, काजल-कांति समान ।
मेघ वेग से छा गये, चारों ओर महान ।।

१८९. घन- गर्जन से कर रहे, सेना का अपमान ।
विद्युत् भय दिखला रही, सबको एक समान ।।

१९०. वज्र-शिला सम सैन्य पर, चढ़ आये जल-पूर्ण ।
लगे बरसने जोर से, करने सेना चूर्ण ।।

१९१. घन के जल से भर गई, चारों ओर जमीन ।
उसमें रथ नौ की तरह, गज मानो है मीन ।।

१९२. सूर्य कहीं जा छुप गया, भाग गये गिरिराज ।
घन के तम से दृश्य है, काल-रात्रि सा आज ।।

१९३. भू-मंडल पर छा गया, तामस चारों ओर ।
और हो गया है वहां, जल ही जल सब ठौर ।।

: चर्म रत्न :

१९४. चक्री ने अब देखकर, दुखद वृष्टि-उत्पात ।
चर्म रत्न को झट छुआ, निज कर से साक्षात् ।।

१९५. चक्री-कर के स्पर्श से, बारह योजन मान ।
चर्म रत्न विस्तृत हुआ, चक्री फौज प्रमाण ।।

१९६. जल के ऊपर जलधि के-ज्यों हो बीच जमीन ।
त्यों उस पर स्थित हो गये, चक्री भरत प्रवीण ।।

छत्र रत्न

१९७. छत्र रत्न का फिर किया, भरत भूप ने स्पर्श ।
जिसके डंडी स्वर्ण की, सुन्दर सरल प्रकर्ष ।।

१९८. है हजार निन्यानवे, रम्य तीलियों युक्त ।
धूप, हवा, जल धूलि से, रक्षाकर उपयुक्त ।।

१९९. फिर रक्खा उस छत्र के, ऊपर आभावान ।
रवि समान तम नाशकर, वर मणि रत्न महान ।।

२००. छत्र रत्न औ चर्म का, वह संपुट रमणीय ।
मानो जल में तैरता, अंडा है कमनीय ।।

२०१. लोगों में ब्रह्माण्ड की हुई तभी से ख्याति ।
लोग न होते तत्त्वविद्, भेड चाल की भाँति ।।

२०२. गृहपति-रत्न-प्रभाव से, चर्म-रत्न के बीच ।
होता पैदा सांझ को, प्रातः बोया बीज ।।

२०३. प्रातः जो बोये हुए, पालक, केले, आम ।
हो जाते संध्या समय, वे फलदाय तमाम ।।

२०४. तत्र निवासी लोग सब, रहते परम प्रसन्न ।
मन चाहे मिलते उन्हें, शाक-पात, फल, अन्न ।।

२०५. सेना के श्रम का उन्हें, कभी न होता ज्ञान ।
समझ रहे थे वे इसे, क्रीड़ा का मैदान ।।

२०६. चर्म-छत्र के बीच में, चक्री सह परिवार ।
सुख पूर्वक रहने लगे, मानो महल उदार ।।

२०७. प्रलयकाल की भांति जल-बरसाते दिन-रात ।
सुर-गण नाग-कुमार ने, दिवस बिताए सात ।।

२०८. फिर चक्री के चित्त में, प्रकटित हुआ विचार।
"वह पापी है कौन जो, देता दुःख अपार॥

२०९. नृप विचार यह जानकर, सोलह यक्ष हजार।
कष्ट मिटाने के लिये, आये भक्ति अपार॥

२१० भाथे बांधे पीठ पर, और धनुष ले हाथ।
मेघ मुखादिक पास वे, आये हैं सब साथ॥

२११. हे दुष्टों! क्या जानते-नहीं, मूर्ख की भांति।
इन पृथ्वीपति भरत को," जिनकी जग में ख्याति॥

२१२. जो अजेय हैं विश्व में, इनको देते कष्ट।
आज तुम्हारी हो गई, मेधा[1] सारी नष्ट॥

२१३. अब भी खटमल की तरह, जल्दी जाओ भाग।
वरना मरना हैं तुम्हें!, बुरी मौत हतभाग॥"

२१४. घबराये हैं मेघमुख, सुनकर ऐसी बात।
शीघ्र उन्होंने बन्द की, क्षण भर में बरसात॥

२१५. "जाओ चक्री शरण में, तुम सब तज अभिमान।"
यों म्लेच्छों को बोध दे, चले गये निज स्थान॥

२१६. देव-कथन से म्लेच्छ सब, घबराकर तत्काल।
आये चक्री शरण में, दिल में भक्ति विशाल॥

२१७. मेरु-अद्रि का सार हो, ऐसा कंचन-व्यूह।
भेंट किये हैं भरत को, अगणित अश्व-समूह॥

२१८. नत-मस्तक करबद्ध वे, बोले वचन पुनीत।
मानो वे बंदीजनों[2], के सोदर सुविनीत॥

२१९. "हे नरनाथ! अनाथ के,-नाथ! विश्व के तात!।
परम विजय हो आपकी, आप इन्द्र साक्षात्॥

२२०. आप बिना वैताढ्य का, निविड़[3] गुफा का द्वार।
खोल न सकता दूसरा, कोई नर-सरदार॥

---

१. बुद्धि २. चारण जनों ३. दृढ़

२२१. रख पाता निज फौज को, पानी के आधार।
आप बिना नर कौन है, ऐसा बली अपार॥

२२२. देवों से भी आप हो, अद्‌भुत बली अजेय।
समझ गये अब आप ही, हैं चक्री श्रद्धेय॥

२२३. हम अज्ञानी लोग हैं, कहाँ हमें है ज्ञान।
अज्ञों के अपराध सब, कर दो क्षमा-प्रदान॥

२२४. नवजीवन-दाता! रखो, आप पीठ पर हाथ।
हम हैं सेवक आपके, आप हमारे नाथ॥"

२२५. माना भरत नरेश ने, उनको निज आधीन।
और किया उनको विदा, चक्री भरत प्रवीण॥

उत्तर निष्कुट

२२६. सेनानाथ सुषेण ने, पा चक्री-आदेश।
उत्तर निष्कुट तक सभी, जीते सिंधु प्रदेश॥

२२७. भरत-वहां सुख भोगते,-हुए, रहे चिरकाल।
जन-जन को निज संग से, करते रहे निहाल॥

क्षुद्र हिमवंत की ओर प्रयाण

२२८. चक्र रत्न फिर एक दिन, निकला तेज विशाल।
अद्रि क्षुद्र हिमवंत की, ओर चला तत्काल॥

२२९. पीछे पीछे चक्र के, चक्री चले सनाद।
पूर्व दिशा के मार्ग से, कई दिनों के बाद॥

२३०. क्षुद्र हिमाचल का जहां, है दक्षिण का भाग।
आये उसके पास हैं, चक्रीश्वर बे-दाग॥

२३१. पांडुकवन में छावनी, डाल रहे भरतेश।
है वृक्षों से वह हरा, भरा सुरम्य प्रदेश॥

२३२. अ किया चक्रीश ने, अष्टम तप अविकार ।
क्षुद्र हिमाद्रि कुमार का, लेकर वर आधार ।।

२३३. प्रातः अट्ठम पूर्ण कर, रथ में बैठ नरेश ।
क्षुद्र हिमालय नग जहां, जाकर हर्ष विशेष ।।

२३४. रथ के अगले भाग के,-डण्डे से साक्षात् ।
तीन वार गिरि पर किया, चक्री ने आघात ।।

२३५. पुनः हिमाचल देव पर, निज नामांकित वाण ।
चला दिया चक्रीश ने, चक्री शक्ति महान ।।

२३६. दो सत्तर योजन गगन,-में पक्षी की भांति ।
जाकर देव समक्ष वह, बाण गिरा सद्कांति ।।

२३७. वाण शत्रु का देखकर, देव हिमाद्रि कुमार ।
तत्क्षण क्रोधारुण हुआ, दूं बैरी को मार ।।

२३८. किन्तु उठाकर वाण को, जब देखा कर गौर ।
उस पर लिखिताक्षर पढ़े, क्रोध गया तब दौड़ ।।

२३९. भेंटें लेकर साथ में, कर में ले वह वाण ।
आया भरत समीप वह, करता जय-जय-गान ।।

२४०. वाण-रचयिता की तरह, प्रथम दिया वह वाण ।
फिर सुम-माला द्रह सलिल, चंदन भेंट महान ।।

२४१. कड़े दिव्य वस्त्रादि भी, पुनः भेंट के व्याज ।
दिये दण्ड में भरत को, सुरवर ने निर्व्याज ।।

२४२. उत्तर दिग् के अन्त में, मैं अव जगती-नाथ ! ।
नित्य रहूंगा आपके, सेवक सम दिन-रात ।।

२४३. विदा किया चक्रीश ने, कर सुर का सत्कार ।
रथ को लौटाया पुनः, करके जय-जयकार ।।

ऋषभकूट की ओर प्रयाण

२४४. भरत वहां से हैं गये, ऋषभकूट साक्षात् ।
उस पर रथ से है किया, तीन वार आघात ।।

२४५. रथ को ठहराकर वहीं, चक्री[1] ने तत्काल ।
ग्रहण किया है कांकिणी, रत्न प्रकाश विशाल ॥

२४६. वहां कांकिणी रत्न से, चक्री ने सह हर्ष ।
पूर्व शिखर पर अद्रि के, अक्षर लिखे प्रकर्ष ॥

२४७. "भरत नाम का मैं हुआ, 'षट् खण्डाधिप भूप' ।
ह्रास काल[2] के तीसरे, आरे में सद्रूप" ॥

२४८. ये अक्षर लिख छावनी, में आये नर-नाथ ।
अट्ठम तप का पारणा, किया वहां निज हाथ ॥

२४९. ऋषभ कूट-पति के लिए, चक्री संपद् योग्य ।
अष्टाह्निक उत्सव किया, आर्षभ[3] ने आरोग्य ॥

वैताढ्य पर्वत की ओर प्रयाण

२५०. चलकर पीछे चक्र के चक्री सह परिवार ।
आये गिरि वैताढ्य पर, है न हर्ष का पार ॥

२५१. उसके उत्तर भाग में, शावर-स्त्रियां[4] अभीत ।
ऋषभनाथ प्रभु गुण-परक गाती थीं वे गीत ॥

२५२. वहां छावनी डालकर, रहे भरत मतिमान ।
विद्याधर नमि-विनमि को, भेज दिया है बाण[5] ॥

२५३. देख बाण को वे युगल, विद्याधर के नाथ ।
कोवारुण करने लगे, आपस में यों बात ॥

२५४. "भरत क्षेत्र में यह भरत, चक्री हुआ सुनाम ।
ऋषभकूट पर है लिखा, इसने अपना नाम ॥

---

१. चक्रवर्ती
२. अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्तिम भाग में
३. ऋषभ पुत्र
४. शावर भीलों की स्त्रियां
५. दण्ड को मांगने वाला बाण

२५५. किया अद्रि वैताढ्य पर, अपना आज पड़ाव ।
विजय प्राप्त कर सब जगह, स्थापित किया प्रभाव ।।

२५६. इसको निज भुज-दण्ड का, है अभिमान महान ।
हमें जीतने के लिए, आया निपट अजान ।।

२५७. आज हमारे पास भी, दण्ड रूप यह बाण ।
इसने फेंका है सही, होकर रुष्ट महान ।।

२५८. यों विचार कर युद्ध के, लिए हुए तैयार ।
सेना का गिरि-शिखर पर, जमा पड़ाव अपार ।।

१५९. और अपर जो थे वहाँ, विद्याधर नरपाल ।
उनकी सेना भी वहां, आने लगी विशाल ।।

२६०. उनके किल-किल शब्द से, मानो गिरि वैताढ्य ।
गर्ज रहा औ फट रहा, विहँस रहा है आढ्य ।।

२६१. उत्तर दक्षिण तरफ के, शहरों के जो नाथ ।
नभ में वे फिरने लगे, अविचल गति के साथ ।।

२६२. कई विमानों में चले, विद्याधर बलवान ।
गन्ध हस्तियों पर कई, चलने लगे महान ।।

२६३. कई रथों में बैठकर, चलने लगे सहर्ष ।
और कई आकाश में, चलते चाल प्रकर्ष ।।

२६४. घोड़ों पर चलते कई, कई लिए हथियार ।
और कई पैदल चले, लेकर शस्त्र अपार ।।

२६५. सेना से वेष्टित उभय, विद्याधर सोल्लास ।
युद्धार्थी गिरि से उतर, आये चक्री पास ।।

२६६. "रे दण्डार्थी ! क्या सही, हमसे लेगा दण्ड ।"
विद्या से उन्मत्त वे, कहते हैं उद्दण्ड ।।

२६७. "आओ जल्दी अब करो, युद्ध हमारे साथ ।
देखें कैसी शक्ति है, कहलाते जग-नाथ ।।"

२६८. फिर सेना करने लगी, उभय तरफ की युद्ध ।
नव नव शस्त्र चला रही. आपस में हो क्रुद्ध ॥

२६९. जय-लक्ष्मी मिलती नहीं, विना किये संग्राम ।
बारह वर्षों तक हुआ, अतः युद्ध अविराम ॥

२७०. हार गये हैं अन्त में, विद्याधर कमजोर ।
जीत हुई है भरत की, जय ध्वनि चारों ओर ॥

२७१. किया उन्होंने भरत को, हार्दिक भक्ति प्रणाम ।
करते हैं नमि-विनमि[1] अब, चक्री के गुण ग्राम ॥

२७२. प्रभुवर ! जैसे रवि से बढ़कर, कोई है न तेजवाला ।
है न वायु से बढ़कर जग में, कोई तीव्र वेगवाला ॥
और मोक्ष से अधिक जगत में, सुख न कहीं मिलने वाला
वैसे तुमसे अधिक दूसरा, वीर नहीं होने वाला ।

२७३. आज आपको देखकर, अनुभव हुआ अनूप ।
मानो दृग्गोचर हुए, ऋषभ-जिनेश सुरूप ॥

२७४. दिये आपको कष्ट जो, हमने बिना विवेक ।
क्षमा कीजिये अब उन्हे, धारक गुण-अतिरेक ॥

२७५. आज आपने कर दिया, तिमिर हमारा दूर ।
अब हम सेवक आपके, आप नाथ हैं शूर ॥

२७६. सदा रहेंगे आपकी, आज्ञा में हम नाथ ।
गिरि के दोनों भाग में, प्रहरी सम साक्षात् ॥

२७७. फिर विद्याधर विनमि ने, कर प्रणाम कर-जोड़ ।
सुता सुभद्रा भरत को, दी कन्या बेजोड़ ॥

२७८. जिसका वर्णन है विशद, देखें पाठक लोग ।
हेम सूरि-कृत काव्य में, यह मणि-कांचन योग ॥

२७९. रत्न भेंट नमि ने किये, जिनका मूल्य महान ।
सेवक का कर्त्तव्य है, करना भेंट प्रदान ॥

---

१. नमि विनमि दोनों

२८०. फिर चक्री ने है किया, उनको विदा सहर्ष ।
वे घर आये किन्तु है, मन में विरति विमर्श ।।

२८१. निज पौत्रों को राज्य दे, गए ऋषभ प्रभु-पास ।
ग्रहण उन्होंने है किया, संयम-पथ सोल्लास ।।

गंगा तट पर गंगादेवी की साधना

२८२. चले वहां से चक्र के, पीछे चक्रीराज ।
गंगा-तट पर छावनी, डाली है निर्व्याज ।।

२८३. सेनाधीश सुषेण ने, पा चक्री आदेश ।
गंगा सरिता पार कर, जीते सभी प्रदेश[1] ।।

२८४. फिर चक्री ने है किया, अट्ठम तप अविकार ।
गंगादेवी की वहां. की सुसाधना सार ।।

२८५. आठ अधिक हैं रत्नमय, वर घट एक हजार ।
गंगादेवी ने दिये[2], सिंहासन दो सार ।।

२८६. वहां बिताए भरत ने, क्षण सम वर्ष हजार ।
जाता है निष्फल समय, विना धर्म आधार ।।

२८७. फिर देवी को भरत ने, समझाकर सह युक्ति ।
निकले सेना सहित वे, हुई वहाँ से मुक्ति ।।

खण्ड प्रपाता गुफा के पास आगमन

२८८. खण्ड-प्रपाता है गुफा, पहुंचे उसके पास ।
वहां छावनी भरत ने, डाली है सोल्लास ।।

२८९. गुफा अधिष्ठित है यहां, नाट्य-माल जो देव ।
धारण कर उसको किया,-अट्ठम तप स्वयमेव ।।

---

१. उत्तर निष्कूट प्रदेश

२. भरत को दिये

२९०. आसन कम्पित देव का, अतः हुआ तत्काल ।
आया चक्री पास वह, लेकर भेंट विशाल ।।

२९१. भूमी-भूषण भरत को, कर भूषण उपहार ।
उनकी सेवा देव ने, की दिल से स्वीकार ।।

२९२. विदा किया है देव को, चक्री ने सह हर्ष ।
कर अट्ठम का पारणा, उत्सव[1] किया प्रकर्ष ।।

२९३. अब सुषेण को भरत ने, दी आज्ञा अविकार ।
"खण्ड-प्रपाता जो गुफा, उसके खोलो द्वार ।।"

२९४. नाट्यमाल सुरराज का, मानस में कर ध्यान ।
सेनापति ने है किया, अट्ठम तप मन ठान ।।

२९५. पौषधशाला में किया, पौषध का अभियान ।
पापकारिणी वृत्ति का, करके प्रत्याख्यान ।।

२९६. अट्ठम तप के अन्त में, बलि का किया विधान ।
कौतुक मंगल कर किए, धारण वस्त्र महान ।।

२९७. धूप-पात्र[2] ले हाथ में, गया गुफा के पास ।
पहले उसको है किया, नमस्कार सोल्लास ।।

२९८. अष्ट मांगलिक फिर किये, दरवाजे की ओर ।
उसे खोलने के लिये, उद्यत हुआ सजोर ।।

२९९. आठ कदम पीछे हटा, दण्ड स्वयं ले हाथ ।
दरवाजे पर है किया, उससे फिर आघात ।।

३००. खिल जाता जैसे कमल, रवि किरणों के योग ।
वैसे खुले कपाट पा, दण्डाघात-प्रयोग ।

३०१. सेनानी ने भरत को, सूचित किया सहर्ष ।
खण्ड-प्रपाता के खुले, द्वार, पुण्य उत्कर्ष ।।

३०२. किया गुफा में भरत ने, गज पर बैठ प्रवेश ।
उसके कंधे[3] पर रखी, मणि जो रत्न विशेष ।।

---

१. देव का अष्टाह्निक उत्सव
२. धूपदानी ३. दाहिने कंधे पर ऊंची जगह

३०३. गुफा तमिस्रा की तरह, करने तम का नाश ।
किया यहां भी भरत ने, वैसा ही अभ्यास ॥

३०४. दिव्य कांकिणी रत्न से, मण्डल का निर्माण ।
भरत भूमिपति कर रहे, उससे तम-अवसान ॥

३०५. उसके पीछे चल रही, सेना सभी अभीत ।
गुरु के पीछे शिष्य ज्यों, चलते हैं सुविनीत ॥

३०६. उन्मगना औ दूसरी, नाम निमग्ना ख्यात ।
ये दोनों नदियाँ मिलीं, गंगा से साक्षात् ॥

३०७. इन नदियों पर भी किया, पुल का नव निर्माण ।
पार प्राप्त उनका किया, चक्री पुण्य महान ॥

३०८. स्वतः गुफा[1] का खुल गया, दक्षिण दिग् का द्वार ।
भरत गुफा से आ गये, बाहर सह परिवार ॥

३०९. गंगा सरिता का जहाँ, पश्चिम तट रमणीय ।
वहां फौज की छावनी, डाली सुदर्शनीय ॥

३१०. निधियों के उद्देश्य से, चक्री ने तत्काल ।
अट्ठम भक्त पुनः किया, उत्तम भाव विशाल ॥

३११. नव निधियाँ होकर प्रकट, आईं चक्री पास ।
अट्ठम तप के अन्त में, तप-फल बिना प्रयास ॥

३१२. वहाँ अधिष्ठित यक्ष हर,-निधि के एक हजार ।
उन निधियों के नाम थे, स्वीय काम अनुसार ॥

३१३. स्थापित थीं वे आठ वर, चक्रों पर साक्षात् ।
ऊंची योजन आठ थीं, लम्बी दश विख्यात ॥

३१४. थी चौड़ी योजन नवक, यह प्रमाण अविकार ।
आवृत रत्न कपाट से, जिनके मुख का द्वार ॥

---

१. इस गुफा की पश्चिम दिशा की दीवार में से निकल कर पूर्व तरफ की दीवार के नीचे बहकर उन्मगना और निमग्ना नाम की दो नदियां गंगा में मिलती है ।

३१५. उन निधियों के सहज ही, थे आकार समान ।
भरे हुए थे स्वर्ण औ, रत्नों से तत्स्थान ॥

३१६. पल्योपम की आयु के, सुर वर नाग-कुमार ।
देव अधिष्ठायक वहां, सक्षम रक्षाकार ॥

निधियों के कार्य

३१७. मण्डप, पत्तन, द्रोण-मुख, ग्राम, छावनी, खान ।
करता है नैसर्ग[1] निधि, उन सबका निर्माण ॥

३१८. मानोन्मान प्रमाण का, होता गणित महान ।
और धान्य उत्पत्ति भी, पांडुक[2] का अभियान ॥

३१९. नर नारी, गज, अश्व के, भूषण विधि का ज्ञान ।
पिंगल[3] निधि से कर सके, मानव मेधावान ॥

३२०. रत्नैकेन्द्रिय सात हैं, औ पंचेन्द्रिय सात ।
होते हैं उत्पन्न ये, सर्वरत्नक[4] से ख्यात ॥

३२१. महापद्म[5] निधि से विशद, शुद्ध वस्त्र रंगीन ।
होते हैं उत्पन्न यों, समझें बुद्ध प्रवीण ॥

३२२. तीन काल, शिल्पादि औ, कृषि कर्मों का ज्ञान ।
काल[6] नाम निधि-कार्य यह, पहचानें विद्वान् ॥

३२३. स्वर्ण, रजत, मोती तथा, लोहादिक की खान ।
महाकाल[7] निधि से त्वरित, इन सबका निर्माण ॥

३२४. योद्धा शस्त्रादिक तथा, युद्ध-दण्ड की नीति ।
माणव[8] निधि की है यही, सिखलाने की रीति ॥

३२५. चार तरह के काव्य की, सिद्धि नाट्य-विधि ख्यात ।
सकल वाद्य उत्पत्ति ये, शंख[9] कार्य साक्षात् ॥

---

१. नैसर्ग, २. पांडुक, ३. पिंगल, ४. सर्वरत्नक, ५. महापद्म ६. काल ७. महाकाल ८. माणव और ९. शंख ? कोष में इन निधियों के नाम ये हैं—महापद्म, पद्मशंख, मकरकच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व । ये कुबेर के खजाने कहलाते हैं ।

३२६. ये निधियाँ आकर खड़ी, भरत भूप के पास ।
बोली मगध[1] सुतीर्थ में, हम करती हैं वास ।।

३२७. आप हमारा कीजिए यथा-इष्ट उपयोग ।
क्योंकि आपके भाग्य से, मिला सकल सुख योग ।।

३२८. स्यात् सागर का सलिल भी, हो जाये प्रक्षीण ।
किन्तु हमारी शक्ति तो, कभी न होती क्षीण ।।

३२९. अट्ठम तप का पारणा, नृप ने किया सहर्ष ।
निधि निमित्त उत्सव किया, अष्टाह्निका प्रकर्ष ।।

३३०. गंगा के दक्षिण तरफ, जो था प्रान्त महान ।
उसे जीत कर आ गया, सेनापति बलवान ।।

३३१. पूर्वापर के जलधि के, आक्रामक भूपाल ।
मानों नव वैताढ्य हों, रहे वहां चिरकाल ।।

अयोध्या की ओर चक्री का प्रयाण

३३२. विजय रमा को प्राप्त कर, बने भरत नर-शक्र ।
चला अयोध्या की तरफ, चक्री का अब चक्र ।।

३३३. स्नान-विलेपन आदि कर, गज पर हुए सवार ।
भरत भूमि-पति दीखते सुरपति के अनुहार ।।

३३४. पीछे पीछे चक्र के चले चक्रधर भूप ।।
पुण्योदय से प्राप्त है, उनको ऋद्धि अनूप ।।

३३५. रहते हैं उनके यहाँ, भरे सदा भण्डार ।
नव निधियों का योग है, कल्पवृक्ष-अनुहार ।।

३३६. मां के चौदह स्वप्न के, चौदह फल के रूप ।
चौदह रत्नों से सदा, वेष्टित रहते भूप ।।

३३७. जो कि विवाहित रानियाँ, थी बत्तीस हजार ।
उन सबने देखा नहीं, रवि का भी आकार ।।

---

१. गंगा के मुख में मगध तीर्थ

३३८. और अन्य थी दूसरी, जो बत्तीस हजार ।
अन्य देश की वे सभी, सुन्दर रूपाकार ।।

३३९. अपने आश्रित भूप हैं, वे बत्तीस हजार ।
गज चौरासी लाख से, शोभित चक्री द्वार ।।

३४०. हय चौरासी लाख हैं, रथ चौरासी लाख ।
सुभट करोड़ छियानवे, सबकी अच्छी साख ।।

३४१. वर्ष सभी दिग्विजय में, बीते साठ हजार ।
आते हैं अब नगर में, चक्री सह परिवार ।।

गीतिका छन्द

३४२. चक्र आगे चल रहा है, तदनु भरत प्रमोद में ।
तदनु गिरिसम उच्च हाथी, अश्व आदिक मोद में ।।
भरत सेना भार से, भू-तल न फट जाए कहीं ।
भीति यह सुर व्यंतरो के, मानसों में हो रही ।।

३४३. रास्ते में चलते हुए, चक्रीश्वर के पास ।
भेटें लेकर आ रहे, भक्त लोग सोल्लास ।।

३४४. मक्खन-रूपी अर्घ्य को, समझ अमूल्य महान ।
गोप-वधू से ले रहे, भरत भेंट सहमान ।।

३४५. मुक्ता-फल की ला रहे, भेंट लोग किरात ।
उन्हें ग्रहण करते भरत, हर्ष सहित साक्षात् ।।

३४६. स्वर्ण, रत्न की ला रहे, भेंटे गिरि-भूपाल ।
करते थे उनको ग्रहण, चक्री हर्ष विशाल ।।

३४७. वृद्ध पुरुष भी ला रहे, भेंटें श्रद्धा युक्त ।
चक्री करते थे ग्रहण, समझ उन्हें उपयुक्त ।।

३४८. गांवों में फैले हुए, जो हैं सैनिक लोग ।
आज्ञा-रूपी दण्ड से, रखते चक्री रोक ।।

३४९. गांवों के बच्चे सरल, खेल कूद में लीन ।
उन्हें देखते प्यार से, चक्री भरत प्रवीण ।।

३५०. करते नदियों को तुरत, पंकिलमयी नितान्त ।
सरोवरों के नीर का, परिशोषण एकान्त ॥

३५१. मलयाचल के पवनवत्, सुखदायक नरनाथ ।
पुरी अयोध्या के निकट, पहुंचे ले सब साथ ॥

३५२. डलवाया नृप ने वहां, स्कंधावार महान ।
वह मानों था नगर का, सोदर अतिथि समान ॥

३५३ निज नगरी[1] का चित्त में, धारण कर वर ध्यान ।
निरुपद्रव कारक किया, अट्ठम तप अम्लान ॥

३५४. अट्ठम तप के अन्त में, चक्री ने साक्षात् ।
किया पारणा दूसरे—नरपतियों के साथ ॥

स्वागत समारोह

३५५. उधर अयोध्या नगर में, नागर-जन सहहर्ष ।
स्वागत की तैयारियां, करने लगे प्रकर्ष ॥

३५६. ऊँचे ऊँचे सब जगह, तोरण अति रमणीय ।
बांध रहे उत्साह से, दर्शनीय स्तवनीय ॥

३५७. नागर-नर[2] हर मार्ग में, बन जलधर साक्षात् ।
करने लगे प्रमोद से, केसर की बरसात ॥

३५८. मंच आमने सामने, पथ के दोनों ओर ।
बाँध दिए हैं स्वर्ण के, स्तम्भों से सब ठौर ॥

३५९, तोरण हैं प्रति मंच पर, रत्नों के साक्षात् ।
बैठी जिन पर गायिका, गंधर्वों के साथ ॥

३६० ऊँचे खम्भे बाँध कर पुरवासी सब लोग ।
हाटें आदि सजा रहे, पा स्वागत संयोग ॥

३६१. "स्वस्तिक" मुक्ता-व्यूह से, लगे पूरने लोग ।
सौरभ के हित है किया, धूप-पात्र-उपयोग ॥

---

१. राजधानी
२. नागरिक ।

चतुष्पदी

३६२. हुई सुसज्जित नगरी सारी, गृहपति आने पर ज्यों नारी।
लोग प्रतिक्षा करते भारी, कब आवें चक्री सुखकारी ॥
अब नगरी में नरपति आते, पुर-जन-मन में मोद मनाते।
गज पर की है श्रेष्ठ सवारी, जो बरसाता है मदवारि ॥

३६३. छत्रों से वे शोभा पाते, डुलते चामर-युगल सुहाते।
तन पर नव्य वसन मन-हारी, भूषण-भूषित काया सारी ॥
मुकुट बन्ध नृप हैं अनुगामी, उनसे शोभित है भू-स्वामी।
चारण चक्री के गुण गाते, जय-जय ध्वनि से नभ गुंजाते ॥

३६४. चलने का जब अवसर आया, गज को आगे शीघ्र बढ़ाया।
बहुत दिनों से स्वामी आये, उनके दर्शन-हित ललचाये ॥
दर्शक गण दौड़े आते हैं, अगणित नागर मँडराते हैं।
मानो उतर स्वर्ग से आये, या कि निकल कर भू से आए ॥

३६५. मानो एक जगह ही सारा, विश्व हुआ एकत्रित प्यारा।
तिल भर खाली स्थान नहीं है, सारी जनता उमड़ रही है ॥
कई हर्ष से स्तुतियाँ गाते, कई भूप-गुण-जल में न्हाते।
अपना मस्तक कई नमाते, चक्री चरणों में लुढ़ जाते ॥

३६६. कई सुमन माला पहनाते, जय नारों से नभ गुंजाते।
आशीर्वाद कई देते थे, सुयश श्रवण में रस लेते थे ॥
कई विजय के गीत सुनाते, कई दर्श कर दृग्फल पाते।
कई धन्य निज को बतलाते, पा ऐसा स्वामी हर्षाते ॥

अयोध्या नगरी में प्रवेश

३६७. चक्रीश्वर श्री भरत ने, कर दिग्-विजय विशेष।
पूर्व द्वार से है किया, पुर में पुण्य प्रवेश ॥

३६८. बाजे बजते जोर से, ज्यों विवाह के काल।
त्यों गायन हर मंच पर, स्वर, गति, यति, लय, ताल ॥

३६९. भवनों पर से नारियाँ, ले, लाजा निज हाथ।
स्वागत नृप का कर रही घर कर अक्षत[1] माथ ॥

३७०. फूलों की वरसात कर, गज के चारों ओर।
उसे जनों ने ढ़क दिया, होकर हर्ष-विभोर ॥

३७१. धीरे-धीरे चल रहे, राज–मार्ग पर नाथ।
उत्कंठित हैं लोग सव, दर्शन-हित नत-माथ ॥

३७२. निर्भय गज से लोग सब, आते हैं नृप पास।
प्रस्तुत भेटें कर रहे श्रद्धा युत सोल्लास ॥

३७३. हाथी को रखते खड़ा, सव मंचों के पास।
जिन पर स्थित थी नगर की, वधुएँ हर्षोल्लास ॥

३७४. वे चक्री की आरती, उतारती सव साथ।
कहती हैं–[2]जय-विजय हो, धन्य-धन्य हे नाथ ॥

३७५. अक्षत की ज्यों थाल में, लेकर मुक्ता-थाल।
वणिग् दुकानों पर खड़े, स्वागत-हित तत्काल ॥

३७६. खड़ी हुई हैं द्वार पर, सुन्दरियां सुकुलीन।
वे करती हैं मांगलिक, चक्री-भक्ति-प्रवीण ॥

३७७. दर्शक-गण जो भीड़ में, टकराते अतिरेक।
उनकी रक्षा शीघ्र ही, करवाते नृप छेक ॥

राजमहल में प्रवेश

३७८. क्रमशः ऐसे नगर में, चलते हुए नरेश।
अभ्रंलिह प्रासाद में, मंगल किया प्रवेश ॥

३७९. दो गज हैं उस महल के, आगे दोनों ओर।
राज-रमा के वे सही, क्रीड़ा-गिरि के ठौर ॥

---

१. चावल।
२. नगर की स्त्रयां।

३८०. कनक-कलश से महल का, था शोभित गुरु-द्वार ;
दो चकवों से शोभती, जैसे सरिता-सार ॥

३८१. सुन्दर तोरण से महल, शोभनीय अतिरेक ।
स्वस्तिक-मंगल थे वहाँ, मुक्ता-रचित अनेक ॥

३८२. पुण्य पताका की वहां, श्रेणी सुदर्शनीय ।
उनसे शोभित महल था, मनहारी स्तवनीय ॥

३८३. गज मदजल से था कहीं, कहीं, कपूर सुयोग ।
उसके आंगन में किया, था छिड़काव निरोग ॥

३८४. उसके ऊंचे शिखर पर, एक कलश रमणीक ।
अपने दिव्य प्रकाश से, था आदित्य प्रतीक ॥

३८५. महिपति ने उस महल के, प्रांगण में सह हर्ष ।
पद चबूतरी पर रखा, यात्रा सफल प्रकर्ष ॥

३८६. छड़ीदार के हाथ का, लेकर वर आधार ।
नीचे उतरे हस्ति से, चक्री-चरित उदार ॥

३८७. है हजार सोलह अमर, अंग सुरक्षक देव ।
सविनय सबको पूजकर, विदा किये स्वयमेव ॥

३८८. नृप हजार बत्तीस औ, गृहपति सेनाधीश ।
और पुरोहित वर्द्धकी, हुए विदा नत-शीस ॥

३८९. जायें सभी रसोइये,[1] अपने-अपने गेह ।
आज्ञा दी है भूप ने, सब जन को सस्नेह ॥

३९०. फिर उत्सव के अन्त में, सार्थवाह प्रतिपाल ।
श्रेणी[2] प्रश्रेणी उन्हें, छुट्टी दी तत्काल ।

---

१. ३६३ रसोइए

२. नौ तरह के कारीगर और नौ तरह के हल्की जातियों के लोग, ऐसे अठारह श्रेणियां हुई । हल्की जातियों को नवनायक कहते है, नवनायक, ग्वाला, तेली, माली, कुनारा, हलवाई, बढ़ई, कुम्हार, कर्मकर और नाई

३९१. पुनः सुभद्रादिक[1] सभी, हैं बत्तीस हजार ।
नरपति कन्याएँ तथा, है इतनी[2] ही सार ।।

३९२. इतने ही नाटक सभी, नयनानन्दनकार ।
है पट्खंडाधीश के, संचित पुण्य अपार ।।

३९३. चक्री भरत नरेश ने, सह परिवार प्रवेश ।
राज महल में है किया, सोत्सव हर्ष विशेष ।।

३९४. सिंहासन पर स्थित हुए, मुख प्राची की ओर ।
सत्य कथाएँ सुन हुए, चक्री हर्ष-विभोर ।।

३९५. पीछे स्नानागार में, करके विधिवत् स्नान ।
सब परिजन सह है किया, भोजन सरस महान ।।

३९६. तदनन्तर भूपाल ने, स्वल्प विताया काल ।
सुन्दर नाटक देखकर, सुनकर गीत रसाल ।।

महाराज्याभिषेक

३९७. सुरगण नर-गण कर रहे, नम्र निवेदन एक ।
"हे पट् खण्डाधिप ! अतुल, आप बलो अतिरेक ।।

३९८. जीत लिये हैं आपने, पृथ्वी के पट् खण्ड ।
अतः आप का इन्द्र-सम, जग में तेज प्रचण्ड ।।

३९९. नाथ ! हमें अब दीजिए, जल्दी आज्ञा एक ।
करें आप का हम सभी, महाराज्य-अभिषेक ।।

४००. चक्री-आज्ञा प्राप्त कर, देवों ने तत्काल ।
पुर बाहर निर्मित किया, मण्डप बहुत विशाल ।।

४०१. द्रहों तटनियों, सागरों, तीर्थों से वे दक्ष ।
औषधि-मिट्टी और जल, लाये भरत समक्ष ।।

---

१. स्त्री रत्न सुभद्रा
२. बत्तीस हजार

४०२. पौषधशाला में किया, नृप ने अट्ठम-भक्त।
तीन दिवस तक धर्म-रत, रहना विषय-विरक्त॥

४०३. तप द्वारा जो प्राप्य हैं राज्य, ऋद्धि, भण्डार।
वे तप से ही रह सकें, सुख-पूर्वक अविकार॥

४०४. तप पूरा कर फिर गये, होकर गज आरूढ़।
मंडप में परिवार सह, चक्री भरत अमूढ़॥

४०५. स्नान-पीठ पर स्थित हुए, सिंहासन आकार।
मानो गिरि पर गज चढ़ा, दर्शनीय छवि सार॥

४०६. पूर्व दिशा की तरफ मुख, कर बैठे भरतेश।
मानो है वह इन्द्र की, प्रीति हेतु संदेश॥

४०७. उत्तर दिग् की सीढ़ियों,- से बत्तीस हजार।
स्नान-पीठ पर नृप चढ़े, अवनत शीस उदार॥

४०८. भद्रासन पर वे सभी, बैठे हैं कर जोड़।
इन्द्र सामने बैठते, ज्यों सुर अविनय छोड़॥

४०९. सेठ, पुरोहित, वर्द्धकी, गृहपति, सेनाध्यक्ष।
स्नान-पीठ पर वे चढ़े, दक्षिण दिग् से दक्ष॥

४१०. योग्यासन पर वे सभी, बैठें हैं नत शीस।
मानों वे चक्रीश से, चाह रहें बख्शीश॥

४११. जैसे जाते इन्द्र हैं, करने जिन-अभिषेक।
तद्वत् ही वे कर रहे, सुर[1] नृप का सविवेक॥

४१२. नृप बत्तीस हजार ने, शुभ मुहूर्त्त पुल देख।
शुचि जल-कलशों से किया, नृप का वर अभिषेक॥

४१३. मस्तक पर कर जोड़ कर, कमल कोष के रूप।
"जय हो जय हो" आपकी, बोल रहे सब भूप॥

४१४. देने लगे बधाइयाँ, चक्री को सह-हर्ष।
न्याय नीति नैपुण्य से, राज्य करो आदर्श॥

---

१. अभियोगिक देव

४१५. सेठ आदि ने फिर किया, जल-अभिषेक अमंद ।
भव्य भरत भू-पाल की, की है स्तुति सानन्द ॥

४१६. गंध कषायी वस्त्र से, पोंछा चक्री अंग ।
पुनः किया है देह पर, चन्दन-लेप सुरंग ॥

४१७. ऋषभनाथ प्रभु का मुकुट, इन्द्र-दत्त द्रष्टव्य ।
उसे रखा नृप शीस पर, यह सुर-गण कर्त्तव्य ॥

४१८. पहनाये कुण्डल उभय, कानों में कमनीय ।
और गले में हार भी, मुक्ता का रमणीय ॥

४१९. उर पर संस्थापित किया, अर्द्ध हार अविकार ।
देव-दूष्य दो वस्त्र भी, पहनाए सुखकार ॥

४२०. फूलों की माला रुचिर, पहनाई है एक ।
देवों ने चक्रीश की, की सेवा सविवेक ॥

४२१. ऐसे वस्त्राभरण को, धारण कर तत्काल ।
मण्डप को मंडित किया, चक्री रूप विशाल ॥

४२२. सेवक पुरुषों को दिया, फिर नृप ने आदेश ।
गजारूढ़ होकर करो, यह उद्‌घोष विशेष ॥

४२३. "भूकर-दण्ड जगात, कुदंड रु भय से मुक्त रहो दिन-रात ।
पूर्णानन्द मनाओ पुर में, बारह वर्षों तक साक्षात् ॥
किया अमल नृप की आज्ञा पर, अधिकारी ने त्वरता में ।
रत्न पांच[1]-दशवां चक्री को, आज्ञा कार्य सफलता में ॥

४२४. उठे रत्न सिंहासन से जब, चक्री भरत नृपति अविलम्ब ।
तब नृप उनके साथ उठे हैं, मानो उनके हैं प्रतिबिम्ब ॥
स्नान पीठ से उसी मार्ग से, नीचे उतरे हैं नृपनाथ ।
जिससे ऊपर आरोहित थे, हुए अन्य नरपति गण साथ ॥

४२५. चक्रीश्वर जब गये महल में, होकर हस्ती पर आरूढ़ ।
अट्ठम तप का किया पारणा समता से थी दृष्टि अमूढ़ ॥
इस विधि पूर्ण हुआ है उत्सव, बारह वर्षों से सानन्द ।
स्नान आदि कर आये बाहर, सभा स्थान में पुण्य अमन्द ॥

---

१. पन्द्रहवां

४२६. हैं हजार सोलह चक्री के, देव अंग रक्षाकारी।
विदा किया है उन सबको अब, कर सत्कार बड़ा भारी॥
फिर विमान में रहने वाले, सुरपति वत् चक्री सम्राट।
अपने श्रेष्ठ महल में रहकर, भोग रहे हैं भोग विराट्॥

चक्रवर्ती की ऋद्धि

४२७. चक्री की आयुधशाला में, थे एकेन्द्रिय[1] रत्न महान्।
लक्ष्मी-गृह में रत्न कांकिणी, चर्म-रत्न मणि-रत्न प्रधान॥
नव निधियाँ थीं और चार नर, रत्न[2] बहुत से उपकारी।
गिरि वैताढ्य—मूल में जन्मे हुए रत्न[3] थे दो भारी॥

४२८. नारी रत्न[4] एक था उनके, पास पूर्वकृत पुण्य प्रमाण।
नयनानन्दन—करी मूर्ति से, वे थे पूनम चन्द्र समान॥
उनका हृद्य-भाव[5] सागर-सम, नहीं कभी जाना जाता।
रवि सम दिव्य प्रतापी उनको, कोई देख नहीं पाता॥

४२९. चौदह रत्नों से शोभित ज्यों सरिताओं से जम्बू द्वीप।
त्यों पद-तल गत थी नौ निधियां, रहती उनके सदा समीप॥
सोलह सहस्र देवताओं से, घिरे हुए वे रहते थे।
उनकी सेवा में द्वात्रिंशत् हजार, नरपति वहते थे॥

४३०. द्वात्रिंशत् हजार कन्याओं, के वे साथ रमण करते।
वत्सर के दिन जितने होते, उतने पाक[6] कार रहते॥
जग-तल पर अष्टादश श्रेणी, औ प्रश्रेणी के द्वारा।
इस जग का व्यवहार चलाया, चक्री ने समुचित सारा॥

---

१. चक्र, खण्ड, छत्र और दण्ड ये चार एकेन्द्रियरत्न
२. सेनापति, गृहपति, पुरोहित और वर्द्धकि ये चार नर रत्न
३. गज-रत्न और अश्व-रत्न
४. सुभद्रा स्त्री-रत्न
५. हृदय का आशय
६. ३६३ रसोइए टीप्पणन ५ देखें

४३१. थे चौरासी लाख हस्ति औ हय, रथ भी उतने ही थे ।
औ षण्णवति कोटि ग्राम थे, प्यादे भी उतने ही थे ।।
वे बत्तीस हजार देश के, रखवाले हितकामी थे ।
औ नगरों[1] के द्रोण[2]-मुखों के, शहरों के भी स्वामी थे ।।

४३२. खर्वट[3] के मंडव[4] के आकर[5], के भी वे अनुशासक थे ।
और खेट[6] संवाह[7] तथा, छप्पन द्वीपों के शासक थे ।।
औ उनचास कुराज्यों के वे, सचमुच नायक नामी थे ।
ऐसे सारे भरत-क्षेत्र के, एक भरत ही स्वामी थे ।।

सुन्दरी के लिए अधिकारियों को उपालम्भ

४३३. एक दिन जब ज्ञाति-जन को, भरत करते याद हैं ।
सामने उनके उपस्थित, हुए सब अविवाद है ।।
उन सभी में सुन्दरी का, लिया पहले नाम है ।
बाहुबलि के साथ जिसका, जन्म सद्गुण धाम है ।।

४३४. हो रही थी कृश बहुत, वह ग्रीष्म ऋतु में ज्यों नदी ।
और मुर्झाई हुई वह, कमलिनी ज्यों दीखती ।।
रूप औ लावण्य उसका, हो गया सब नष्ट है ।
शुष्क कदली-पत्र जैसे, गाल फीके स्पष्ट है ।।

---

१. जो परिखा (खाई) गो पुरों (दरवाजों) अटारियों कोट (किला) प्रकार से चहार दीवारी सुशोभित हो । जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जिसमें तालाब बगीचे हों, जो उत्तम स्थान पर बसा हुआ हो, जिसके पानी का प्रवाह पूर्व उत्तर दिशा के बीच वाली ईशान दिशा की ओर हो और जो प्रधान पुरुषों के रहने की जगह हो, उसे पुर या नगर कहते हैं ।

२. जो किसी नदी के किनारे हो ।

३. जो पर्वत से घिरा हो और जिसमें २०० गांव हों ।

४. जो पांच सौ गांव से घिरा हो

५. जहां सोने चांदी आदि की खानें हों

६. जो नगर नदी और पर्वतों से घिरा हो ।

७. जहां मस्तक पर्यन्त ऊंचे-ऊंचे धान्य के ढेर लगे हों

४३५. इस तरह की देख हालत, सुन्दरी को भरत ने ।
क्रुद्ध होकर कहा अधिकारी जनों के सामने ॥
क्या हमारे गेह में है, धान्य भी अच्छा नहीं ? ।
क्या नहीं है लवण-सागर में, लवरण भी अब कहीं ? ॥

४३६. पुष्टि-कारक खाद्य क्या वे बनाने वाले नहीं । ?
हुए लापरवाह अपने, काम में वे क्या कहीं ॥ ?
दाख पिस्ते आदि मेवा क्या न अपने पास है ।?
स्वर्ण-गिरि में स्वर्ण का क्या हो गया अब ह्रास है ? ॥

४३७. क्या किया है पादपों ने, बन्द फल देना कहीं ।?
अरे नन्दन-कुञ्ज, में भी वृक्ष क्या फलते नहीं ॥?
क्या न देती दूध गौएँ, दीर्घ स्तन वाली सभी ॥?
काम-दुग्धा, धेनु-स्तन का, रुक गया क्या पय अभी ॥?

४३८. हो गई थी सुन्दरी क्या ?, रुग्ण कुछ खाती नहीं ।
क्या यहां पर रोग-हारी, वैद्य कोई था नहीं ॥
हो गई क्या सब दवाएँ पूर्ण अपने गेह में । ?
क्या दवाएँ नहीं मिल पाई, हिमालय देह में ॥?

४३९. सुनो सब अधिकारियों ! यह जान दुःख महान है ।
"सुन्दरी की ओर तुम सबका नहीं कुछ ध्यान है ॥"
शत्रुता का है किया यह कार्य मेरे साथ में ।
"है दिया धोखा मुझे यह स्पष्ट ही इस बात में ॥"

४४०. क्रोध-गर्भित भरत की, ये श्रवरण कर बातें तभी ।
नमन कर कहने लगे, वे विज्ञ अधिकारी सभी ॥
नाथ ! सब कुछ है सदन में कठिनता किस बात की ।
स्वर्ग-पति के तुल्य हैं सब सम्पदाएँ नाथ की ॥

४४१. किन्तु जब से प्रभु यहाँ से, कर गये प्रस्थान है ।
सुन्दरी का उस समय से, साधना में ध्यान है ॥
दिवस भर में सकृत्[1] खाती एक कोई धान हीं ।
सिर्फ प्राणों को टिकाने, स्वल्प मात्रा में वहीं ॥

---

१. एक बार

४४२. नाथ ! होने आपने इनको दिया दीक्षित नहीं।
अतः करती है तपस्या, समय सार्थ विता रही ॥
भरत ने तब सुन्दरी को, कहा, "क्या है कामना ?"
सुन्दरी ने कहा—"मेरी प्रबल दीक्षा-भावना ॥"

४४३. श्रवण कर वह भरत बोले, मुझे पश्चात्ताप है।
व्रत–ग्रहण में विघ्न कर, मैंने किया यह पाप है ॥
तात-सम यह सुन्दरी तो हुई पुत्री ख्यात है।
और विषयासक्त सुत हम हुए सच्ची बात है ॥

४४४. जल-तरंगों की तरह यह आयु होता क्षीण है।
समझते इस बात को कब भोग में जो लीन हैं ॥
देख लेता मार्ग बिजली की चमक में नर-चतुर, ।
त्यों विनश्वर आयु में शिव-साधना है लाभकर ॥

४४५. हे बहिन ! तू धन्य है, की व्रत-ग्रहण की भावना।
शीघ्र कर कल्याण मेरी भी यही है कामना ॥"
सुन्दरी प्रमुदित हुई, व्रत-ग्रहण-आज्ञा प्राप्तकर ।
"शीघ्र दीक्षा ग्रहण कर अब आत्म-हित साधूं प्रवर ॥"

अष्टापद शिखर पर ऋषभ प्रभु का आगमन और सुन्दरी की दीक्षा

४४६. उस समय में विश्व रूपी मोर-गण हित मेघ सम,
अद्रि अष्टापद शिखर पर, आगए जिनवर प्रथम !
देशना-स्थल[1] देव-गण ने उस जगह निर्मित किया ।
बैठकर प्रभु ने वहां उपदेश परिषद् को दिया ॥

४४७. सूचना दी भरत को गिरिपालकों ने दौड़कर ।
भरत नृप को हुई बेहद खुशी यह सब जानकर ॥
कब हुई इतनी खुशी षट्खंड को भी जीत कर ?
पुरस्कृत[2] उनको किया है, दी जिन्होंने यह खबर ।

१. समवसरण
२. साढ़े बारह करोड़ सोनैयों का इनाम

४४८. भरत–नृप ने सुन्दरी से, भी कही यह बात है ।
आगमन प्रभु का हुआ है, कल्प-तरु साक्षात् हैं ।।
सुन्दरी का फिर कराया निष्क्रमण-अभिषेक[1] है ।
वस्त्र भूषण से विभूषित, वह हुई अतिरेक है ।।

४४९. रूप-संपद् से सुशोभित सुन्दरी वह हो रही ।
पास उसके सेविकासी, थी सुभद्रा भी सही ।।
याचकों को दान उसने है दिया दिल खोलकर ।
कल्प-वल्ली की तरह वह, दान-दात्री थी प्रवर ।।

४५०. एक शिविका में विराजित अब हुई है सुन्दरी ।
भरत उसके साथ, पीछे–, सैन्य से नगरी भरी ।।
डुल रहे चामर समुज्ज्वल छत्र उसके शीष पर ।
कर रहे हैं भाट चारण, विरूद अवली जोड़, कर[2] ।।

४५१. भाभियाँ गा रही मंगल-गीत दीक्षा-ग्रहण के ।
नारियाँ हर-पद उतारे लवण भी उस बहिन के ।।
दर्शनीय जुलूस के सह सुन्दरी पहुँची वहाँ ।
अद्रि अष्टापद-शिखर पर है विराजित प्रभु जहाँ ।।

४५२. सुन्दरी औ भरत प्रमुदित हुए हैं गिरि देख कर ।
देशनास्थल पास पहुँचे शान्ति का जो स्थानवर ।।
भरत उत्तर द्वार से, अब गये भीतर विनय-नत ।
तीन वार प्रदक्षिणा दे प्रणति प्रभु को की सतत ।।

४५३. अन्य जन के असत् गुण, की लोग कर सकते स्तुति ।
आपके सद्गुणों की भी, मैं न कर सकता नुति ।।
तव करूँ कैसे प्रभो ! मैं, आप की गुण-वर्णना ।
नाथ ! तो भी मैं करूँगा, भक्तिवश गुण-वन्दना ।।

---

१. घर छोड़कर व्रती बनने के लिए जाने से पहले किया जाने वाला स्नानादि कृत्य

२. हाथ

४५४. चन्द्रमा की रश्मि से ज्यों, सुमन[1] गल जाते सभी ।
त्यों तुम्हारे दर्श से प्रभु ! पाप क्षय होते सभी ।
सन्निपात समान होता, मोह-ज्वर का रोग यह ।
आपकी वाणी-दवा से, रोग होता नष्ट वह ।।

४५५. धनिक, निर्धन उभय पर हैं आपकी समदर्शिता ।
कर्म-रूपी वर्फ के हित सूर्य-सम तेजस्विता ।।
व्याकरण में व्याप्त संज्ञा-सूत्र जैसी त्रिकपदी ।
नाश-स्थिति उत्पादमय यह विजयवंती वर्तती ।।

४५६. हे प्रभो ! जो भव्य प्राणी आपकी स्तुति कर रहे ।
उन जनों के लिये भव में भ्रमण क्या बाकी रहे ?।।
नाथ ! तव जो आप की सेवा न तजते हैं कभी ।
बात ही क्या अहो ! उनकी कही जा सकती कभी ।।

४५७. इस तरह स्तुति कर भरत निज स्थान पर बैठे प्रणत ।
सुन्दरी फिर बोलती है वन्दना कर विनयनत ।।
आज तक मैं देखती थी आपको मन द्वार से ।
किन्तु अब प्रत्यक्ष दर्शन, पुण्य के प्रकार से ।।

४५८. है भयंकर जगत-कानन तप्त जो दुख-ताप से ।
प्रभु मिले हैं आप उसको, पूर्व पुण्य-प्रताप से ।।
आप है निर्मोह फिर भी प्रीति रखते विश्व पर ।
अन्यथा क्यों तारते निर्हेतु उसको बन्धुवर ! ।।

४५९. मम बहिन औ बन्धु के, सुत तथा उनके पुत्र भी ।
आप का अनुसरण कर कृत-कृत्य है प्रभुवर सभी ।।
भरत-आग्रह से किया है नहीं मैंने व्रत-ग्रहण ।
मैं हुई वंचित चरण के. लाभ से हे जग-नयन ! ।।

४६०. विश्वतारक ! शीघ्र अब मुझ दीन पर करुणा करो ।
भव-उदधि में डूबती का कर पकड़ संकट हरो ।।
कीजिए निस्तार मेरा आप ही निस्तार-कर ।
दीजिए दीक्षा मुझे अब आप करुणा-भाव-धर ।।

---

१. शेफाली जाति के वृक्षों के फूल ।

४६१. सुन्दरी की भव-विरति की भावना को देखकर ।
उसे दी है सुखद दीक्षा, ऋषभ प्रभु ने दुःख हर ॥
अमृत-धारा तुल्य दी है. देशना शिक्षामयी ।
महाव्रत-तरु-बाग की खिल रही हैं कलियाँ नयी ॥

४६२. देशना-भवनाशना सुनकर हुई प्रमुदित सती ।
मिल गई है आज (हो) मानों उसे पंचम गति[1] ॥
वन्दना कर ऋषभ प्रभु को भरत चक्री, भक्ति से ।
अब अयोध्या में गये हैं स-परिजन मन हर्ष से ॥

अट्ठानवें भाइयों का व्रत ग्रहण

४६३. भरत ने इच्छा प्रकट की, स्वजन गण के दर्श की ।
दिया है परिचय सभी का, हुई बातें हर्ष की ॥
जो कि बाँधव गण महोत्सव,- के समय आये नहीं ।
दूत उन सबको बुलाने के लिए भेजे सही ।

४६४. दूत-गण ने कहा उनसे राज्य की यदि चाह है ॥
भरत चक्री की करो सेवा यही सुख-राह है ॥
'भरत सेवा ! क्यों ?' उन्होंने तब कहा, 'वह किसलिए' ॥
राज्य सब को पिता ने ही (ने) बांट करके ही दिए ॥

४६५. अब भरत सेवा करें तो क्या अधिक देगा हमें ।
मृत्यु से क्या भरत चक्रीश्वर बचा लेगा हमें ॥
व्याधि-रूपी राक्षसी को दे सकेगा दण्ड क्या ?
रोग-रूपी व्याध को वह कर सकेगा नष्ट क्या ?॥

४६६. वह हमें यदि इस तरह का फल प्रदान न कर सके ।
तो हमारे लिए फिर वह सेव्य कैसे हो सके ॥
यदि उसे संतोष इतने राज्य से भी है नहीं ।
चाहता है वह हमारा राज्य भी लेना सही ॥

---

१. मोक्ष

४६७. हाय ! हम भी पुत्र क्या उस तात के ही हैं नहीं ।
तात को पूछे विना हम युद्ध के इच्छुक नहीं ।।
दूत-गण से वात कर यों गये अष्टा-पद सभी ।
पुत्र अष्टानवति प्रभु के पास पहुंचे विगत[1] भी ।।

४६८. देशना के दिव्य मण्डप में विराजित नाथ को ।
वन्दना कर, कर रहे, स्तुति, जोड़ दोनों हाथ को ।।
हे प्रभो ! गुण आपके सुर भी न गा सकते कभी ।
दूसरा है कौन जो स्तुति-गान कर सकता अभी ।।

४६९. कर रहे हम चपल वालक की तरह फिर भी स्तुति ।
तपस्वी से है अधिक जो आपको करता नति ।।
और योगी से अधिक जो, आपकी सेवा करे ।
धन्य जो निज शीष पर प्रभु ! आपकी पद-रज धरे ।।

४७०. आप वल या साम[2] से लेते किसी से कुछ नहीं ।
चित्र ! फिर भी जगत्-त्रय के आप हैं चक्री सही ।।
चन्द्र का प्रतिविम्व ज्यों सव जलाशय-जल में रहे ।
एक ही त्यों आप सवके चित्त में प्रभु वस रहे ।।

४७१. आपका स्तुतिकार वनता स्तुत्य सव जग के लिये ।
आपका पूजक जगत में पूज्य है सवके लिये ।।
भक्त वनता आपका भगवान् भव का अन्त-कर ।
इसलिये है आपकी यह भक्ति अनुपम लाभ-कर ।।

४७२. दुःख-दव के हेतु प्रभुवर ! आप मेघ समान हैं ।
मोह-तम से मूढ़ नर हित दीप के उपमान हैं ।।
मार्ग में स्थित वृक्ष सवके हेतु जैसे शान्ति-कर ।
आप निर्धन धनिक सवके हेतु हैं भव-भ्रान्ति-हर ।।

४७३. भक्ति से भगवान के गुण-गान कर कर जोड़ कर ।
विनति की उत्कृष्ट प्रभु के, चरण में निज शीस धर ।।
आपने प्रभुवर ! दिये हैं राज्य सवको वाँटकर ।
प्राप्त राज्यों से सदा हम तुष्ट हैं हे तातवर ! ।।

---

१. निर्भय २. मह गुन कर अपनी ओर कर लेना ।

४७४. किन्तु गुरु भाई भरत तो तुष्ट अब भी हैं नहीं ।
दूसरों से छीनकर भी राज्य तृष्णा बढ़ रही ।।
छीन लेना चाहते हैं अब हमारे राज्य भी ।
दूत भी अन्यत्रवत्, भेजा हमारे पास भी ।।

४७५. कह रहा है दूत हमसे, भरत की सेवा करो ।
अन्यथा निज राज्य श्री का, त्याग तुम जल्दी करो ।।
हे प्रभो ! हम भरत नृप का, मात्र सुनकर यह वचन ।
कायरों की भांति कैसे त्याग दें अपने सदन ।।

४७६. अधिक धन-सम्पत्ति की भी है हमें इच्छा नहीं ।
क्यों करें फिर भरत सेवा, निःस्पृही हैं हम सही ।।
नष्ट कर सम्मान अपना, लुब्ध नर उदरंभरी[1] ।
हर्ष से स्वीकार करता, दूसरों की चाकरी ।।

४७७. राज्य अपना छोड़कर, करनी न सेवा है कभी ।
युद्ध का ही पथ हमारे हित रहा प्रभुवर ! अभी ।।
किन्तु फिर भी बिना पूछे आपको जग-दुःख हर ! ।
कार्य कोई भी न करना चाहते हम जन्म भर ।।

४७८. बात पुत्रों की श्रवण कर कहा प्रभुवर ने तदा ।
वीर-व्रतधारी पुरुष को युद्ध ही करना यदा ।।
तो करो फिर युद्ध "अन्तर्युद्ध" ही है लाभकर ।
राग-द्वेष कषाय अरि हैं प्राणियों के प्राण-हर ।।

४७९ राग तो है सुगति-बाधक द्वेष दुर्गति-खान है ।
भव-जलधि में डालने को, मोहपण[2] उपमान है ।।
अतः सद्गुण शस्त्र लेकर युद्ध करना श्रेय है ।
और ऐसे दुश्मनों को जीतना सद्ध्येय है ।।

४८०. गति-प्रतिष्ठा, त्राण-दाता धर्म की सेवा करें ।
और परमानन्द पद को, प्राप्त कर सब दुख हरें ।।
है विनश्वर राज्य, लक्ष्मी नरक-गति की दायिका ।
और पीड़ा करी, तृष्णा भूरि-क्षोभ विधायिका ।।

---

१. पेटूपन २. इकरार

४८१. अरे पुत्रों ! स्वर्ग-सुख भी तुम्हे तुष्ट न कर सके ।
राज्य के फिर इन सुखों से तृप्ति कैसे मिल सके ॥
जलधि-जल से भी न जिसकी दाह होती शान्त है ।
तनिक पूले[1] के सलिल से हो न वह उपशान्त है ॥

४८२. निर्जन जंगल में गया, पुरुष एक वलवान ।
लेकर पानी की मशक, गर्मी में मध्याह्न ॥

४८३. वना रहा है कोयले, दोपहरी की धूप ।
गर्मी पाकर, आग की, शुष्क हुआ गल कूप ॥

४८४. पानी सारा पी गया, जो था उसके पास ।
फिर भी प्यास वुझी नहीं, तव वह हुआ उदास ॥

४८५. अतः वहां वह सो गया दे सिर नीचे हाथ ।
मानो वह घर में घुसा, सपने में साक्षात् ॥

४८६. वहां कुम्भ, गागर, कलश. जो देखे जल-पात्र ।
उन सवका जल पी गया, फिर भी शान्त न गात्र ।

४८७. तब फिर उसने वावड़ी, सागर-सरिता, नीर ।
पीकर सभी सुखा दिया. फिर भी तप्त शरीर ॥

४८८. नारक जीवों की तरह, नहीं वुझी जव प्यास ।
तो फिर रेगिस्तान में, गया कूप के पास ॥

४८९. रस्सी द्वारा दूव का, बांधा पूला एक ।
जल निकालने के लिये, डाला उसमें देख ॥

४९०. पानी गहरा था वहां, कूएं में अत्यन्त ।
रस्सी पूरी डाल दी, पकड़ दूसरा अन्त ॥

४९१. वापिस वाहर जव उसे, खींच रहा तत्काल ।
झरते झरते मिट गयी, वह पानी की धार ॥

४९२. फिर भी उसे निचोड़कर, पीने लगा विमूढ़ ।
अज्ञानी कव जानता, जो है तत्त्व निगूढ़ ॥

---

१. अनाज के डंठलों का गट्ठर ।

४९३. जबकि प्यास उस जलधि के, जल से हुई न शान्त ।
वह पूले के सलिल से, कैसे हो उपशान्त ॥

गीतिका छन्द

४९४. अतः पुत्रों ! तुम सभी, अब भव-विरति से मत डरो ।
अचल संयम-राज्य श्री को, ग्रहण कर शिव-पद वरो ॥
ऋषभ प्रभु के परम हितकर, श्रवण कर अनुपम वचन ।
शीघ्र अट्ठानवें पुत्रों ने किया, संयम ग्रहण ॥

४९५. चित्र ! इनके धैर्य पर है, सत्व पर है विरति पर ।
इस तरह सुविचार करते, लौट आये दूत घर ॥
भरत नृप को फिर उन्होंने, हाल सब बतला दिया ।
भरत ने तब बन्धुओं के राज्य पर शासन किया ॥

४९६. भरत को संप्राप्त चौदह, रत्न चक्रोत्पत्तिवर ।
दिग्विजय कर अयोध्या में, आगमन उत्सव प्रवर ॥
पूजनीया सुन्दरी व्रत धारिणी, जन-वर्ग में ।
बन्धु अट्ठानवे का व्रत, ग्रहण चौथे सर्ग में ॥

पांचवा सर्ग

(पद्य ५५५)

भरत और बाहुबली का वृत्तान्त

१. भरत भूप थे एकदा, संसद में आसीन ।
नमस्कार कर कह रहा, सेनानाथ प्रवीण ।।

२. "विजय प्राप्त की आपने, किन्तु आपका चक्र ।
पुर में आता है नहीं, भाग्य-दशा है वक्र ।।"

३. कहा भरत ने "कौन है, ऐसा मानव आज ? ।
जो मेरी आज्ञा नहीं, मान रहा निर्व्याज ।।"

४. सेनानी ने तब कहा, "जीत लिए षट् खण्ड ।
जान रहा हूँ आपका, रवि-सम तेज प्रचण्ड ।।

५. जेय न रह सकता कभी, दिग्-यात्रा पश्चात् ।
चलती चक्की में नहीं, बचता कण साक्षात् ।।

६. किन्तु चक्र यह कह रहा, करके नहीं प्रवेश ।
मदोन्मत्त कोई रहा, जेय यहां अवशेष ।।

७. देवों में भी है नहीं, प्रभु के लिये अजेय ।
चित्र ! कौन नर फिर रहा, जग-तल में दुर्जेय ।।

८. अहो ! बाहुबलि एक ही, महाबली साकार ।
एक उसे जीते बिना, दिग्-यात्रा बेकार ।।

९. एक ओर सब भूप हैं, एक ओर अनुजात ।
एक ओर गज-यूथ हैं, एक ओर सिंह ख्यात ।।

१०. पुत्र रत्न नाभेय के, जैसे हैं प्रभु आप ।
वैसे ही हैं बाहुबलि, बलशाली बेमाप ।।

११. सकल विश्व में मान्य है, भरत-भूप आदेश ।
किन्तु न भ्राता मानता, यह आश्चर्य विशेष ।।

१२. जब तक मानेगा नहीं, बन्धु प्रभो ! आदेश ।
तब तक होगा चक्र का, पुर में नहीं प्रवेश ।।

१३. अतः उपेक्षा शत्रु की, करना महती भूल ।
स्वल्प रोग भी देह में, उपजाता दुख-शूल ।।"

१४. सेनानी की श्रवण कर, बात भरत भूपाल ।
सोच रहे है चित्त में, यह दुबिधा विकराल ।।

१५. बन्धु न आज्ञा मानता, लज्जाकारी बात ।
और बन्धु से युद्ध भी, अनुचित है साक्षात् ।।

१६. शासन कर सकता नहीं, जो घर पर अवदात ।
वह जग पर शासन करे, यह हास्यास्पद बात ।।

१७. सेनानी ने फिर कहा, है जग का व्यवहार ।
अग्रज आज्ञा का करे, अनुज सदा सत्कार ।।

१८. शीघ्र दूत को भेजकर, बाहुवली के पास ।
कहलाएँ धारण करो, सेवा-व्रत सोल्लास ।।

१९. अगर न मानें आपकी, आज्ञा जग-स्वीकार्य ।
तो फिर उनसे युद्ध ही, करना है अनिवार्य ।।

२०. सेनानी का भरत ने, कथन किया स्वीकार ।
वचन वही ग्रहणीय जो, लोक-शास्त्र अनुसार ।।

२१. तदनन्तर भरतेश ने, लघु भ्राता के पास ।
शिक्षा देकर दूत को, भेजा रख विश्वास ।।

सुवेग दूत का तक्षशिला की ओर प्रयाण

२२. अब सुवेग प्रणिपत्ति कर, होकर हर्ष विभोर ।
वाहन-साधन सह चला, तक्षशिला की ओर ।।

२३. वायुवेग से रथ चला, सकल सैन्य परिवार ।
पुरी विनीता से सपदि, निकला कर जयकार ।।

२४. देख रहा है अपशकुन, चलते समय अनेक ।
वाम नेत्र उसका स्वतः, फड़क, रहा अतिरेक ।।

२५. डोल रहा है रथ स्वतः, विना विषम भू-भाग ।
रोक रहा है मार्ग को, आकर काला नाग ।।

२६. रासभ अप्रिय रेंकता, उसके दांई ओर ।
पर सुवेग अति वेग से, चलता रहा सजोर ।।

२७. ग्राम, नगर, कर्वट, पुरी, आये स्थान अपार ।
किन्तु अनवरत जा रहा, वह सवको कर पार ।।

२८. सरित् सरोवर पर नहीं, किया कहीं विश्राम ।
क्रमशः अटवी आ गई, वन्य जाति का धाम ।।

२९. सिंह, व्याघ्र, सर्पादि हैं, प्राणी क्रूर अनेक ।
सघन-लता तरु-व्यूह से, अन्धकार अतिरेक ।।

३०. विपुल वेग से लाँघ कर, अटवी को तत्काल ।
आया वहली देश में, दूत अभीत त्रिकाल ।।

३१. देख रहा है दूत वह, पथ में तरु की छांह ।
भूषण-भूषित नारियाँ, स्थित निर्भय सोत्साह ।।

३२. चोरों का भय है नहीं, सब-जन सुखी प्रशान्त ।
चारों ओर सुराज्य के, लक्षण स्पष्ट नितान्त ।।

३३. याचक मिलते हैं नहीं, देवें किसको दान ।
भूखा कोई है नहीं, तृप्त सभी इन्सान ।।

३४. प्रमुदित हो सब गा रहे, ऋषभनाथ गुण गीत ।
क्षण सम परमानन्द में, होते दिवस व्यतीत ।।

३५. आपस में सद्भावना, सब से मैत्री-भाव ।
पाप-भीरु पर-सुख-सुखी, पा जिन-धर्म प्रभाव ।।

३६. नहीं जानते जन्मना, ऊंचा अथवा नीच ।
उच्च रहा आचार ही, सदा विश्व के बीच ।।

३७. वीतराग है देवता, करते हार्दिक भक्ति ।
अपर देव के प्रति नहीं, मानस में अनुरक्ति ।।

३८. गुरु ज्ञानी निर्ग्रन्थ हैं, त्यागी समतावान ।
उनकी नित्य उपासना, करते श्रद्धावान ।।

३९. जैन-धर्म को जानते, विश्व-धर्म विख्यात ।
जलधि-तुल्य जिन-धर्म है, अन्य सिन्धु[1] साक्षात् ।।

४०. रत्नत्रय की साधना, करते वे निष्पाप ।
णमुक्कार वर मन्त्र का, करते थे सब जाप ।।

४१. भूप बाहुबलि के सिवा, है न भूप तद्रूप ।
लोग पूछते दूत को, और कौन है भूप ।।

४२. बहली-पति के कर रहे, लोग सभी गुणगान ।
स्थान स्थान पर सुन रहा, दूत यही दे कान ।।

आश्चर्य-चकित दूत

४३. देख रहा है देश की, आर्थिक ऋद्धि विशाल ।
दूत हुआ विस्मित बहुत, सोच रहा तत्काल ।।

४४. "चक्री सा ऐश्वर्य है, रवि सा तेज प्रताप ।
है जनता के हृदय पर, बहलीपति की छाप ।।

४५. भूप बाहुबलि पर यहां, है पूरा विश्वास ।
प्रतिजन इनकी मानता, आज्ञा विना प्रयास ।।

४६. चकित-चित्त चलता हुआ, तक्षशिला के पास ।
देख रहा है स्वर्ग सम, अक्षय वैभव-व्यास ।।

४७. स्थान-स्थान पर हैं खड़े गिरि समान गजराज ।
हय-हेषारव[2] कर रहे, सेना बे-अन्दाज ।।

४८. विविध कल्पना कर रहा, देख बाहुबलि राज्य ।
चक्रीश्वर है भरत या, बहलीपति बल प्राज्य ।।

---

१. दूसरे नदी समान

२. घोड़ों का हिनहिनाहट

४९. तक्षशिला में है किया, विस्मित चित्त प्रवेश ।
स्थान-स्थान पर सैन्य है, कर में शस्त्र विशेष ॥

५०. अभ्रंलिह[1] प्रासाद है, श्रेणी-वद्ध नितान्त ।
नागर[2] गुण-आगर[3] वहां, है संतोषी शान्त ॥

५१. राजभवन का दूर से, अवलोकन कर दूत ।
विस्मित हो कहने लगा, क्या यह देव-प्रसूत ॥

राजभवन में प्रवेश

५२. सिंह-द्वार पर हैं खड़े, सैनिक-गण-रण शूर ।
जिन्हे देखकर शत्रुगण, भय खाते भरपूर ॥

५३. द्वारपाल ने दूत को, रोका है तत्काल ।
विन आज्ञा नृप-भवन में, वन्द प्रवेश त्रिकाल ॥

५४. द्वारपाल अन्दर गया, भूप वाहुवलि पास ।
राजन् ! वाहर है खड़ा, दूत भरत का खास ॥

सभा में प्रवेश

५५. वहलीपति आदेश से, अन्दर आया दूत ।
इन्द्र सभा सी देखकर, विस्मित हुआ प्रभूत ॥

५६. सिंहासन पर स्थित वहां, भूप वाहुवलि वीर ।
मुकुट-वँध नृप कर रहे, सेवा-भक्ति सुवीर ॥

५७. नत-मस्तक हो शीघ्र कर,- भूतल का संस्पर्श ।
भूप वाहुवलि को किया, नमस्कार सहर्ष ॥

५८. किया बैठने के लिए, नरपति ने संकेत ।
भरत-दूत बैठा वहां, करतल वद्ध-सचेत ॥

---

१. बहुत ऊंचा महल २. नागरिक ३. ज्ञान ४. देवता द्वारा बनाया हुआ

कुशल पृच्छा

५९. पूछ रहे हैं बाहुबलि, कर कोमल आह्वान ।
आर्य भरत नृप कुशल हैं ? कुशल अयोध्या-स्थान ।।?

दूत का युक्ति युक्त उत्तर

६०. बद्धांजलि अब दूत ने, कहा—"सुनो वहलीश ।
कुशल-विधाता विघ्न-हर, स्वयं भरत अवनीश ।।

६१. क्या पूछें उनका कुशल !, सकुशल जब सब लोग ।
जहाँ भरत रक्षक वहां, लेश न अकुशल योग ।।

६२. आज विश्व में कौन है, भरत तुल्य बलवान ।
जो कि विजय में कर सके, उनके विघ्न महान ।।

६३. सभी भूमिपति कर रहे, उनकी आज्ञा मान्य ।
समझ रहे हैं वे सदा, अपना नाथ वदान्य[1] ।।

६४. फिर भी भरताधीश के, है न चित्त में हर्ष ।
आज्ञाकारी बन्धु बिन, कब हो दिल उत्कर्ष ।।

६५. गुरु-भ्राता हैं आपके, षट् खण्डाधिप धीर ।
दिग्-यात्रा कर सह-कुशल, आये हैं रण-वीर ।।

६६. बारह वर्षों तक हुआ, महाराज्य अभिषेक ।
उत्सव में उत्साह से, आये नृपति अनेक ।।

६७. किन्तु अनुज आये नहीं, क्या जाने क्या बात ।
तात पास दीक्षित हुए, तज परिजन-संघात ।।

६८. हुए विरागी वे अतः, सब जग अब परिवार ।
रहा न कुछ भी भरत सह, जब छूटा ममकार ।।

---

१. उदार-दानशील

६९. बाहुबले ! अब सोचिये, करके चिन्तन गूढ़ ।
गुरु-भ्राता को मानते, आज्ञा लोग अमूढ़ ॥

७०. यदि हो मन में आपके, गुरु-भ्राता से स्नेह ।
शीघ्र पधारें, भरत हैं, चक्री निःसन्देह ॥

७१. आये हैं चिरकाल से, दिग् यात्रा कर भूप ।
किन्तु आप बैठे यहां, है यह बात विरूप ॥

७२. स्नेह-शून्य क्या आप हैं, या बल का अभिमान ? ।
क्या न आप यह कर रहे, चक्री का अपमान ?॥

७३. गुरुजन का भय उचित है, नीति शास्त्र अनुसार।
जो इस भय से रहित है, वह खाता है मार ॥

७४. महाप्रतापी भरत हैं, तेजस्वी भास्वान ।
बड़े-बड़े राजा उन्हे, देते हैं सम्मान ॥

७५. क्या जाने क्यों आपके, मन में है अभिमान ?।
भेंट न करते भरत से, जो जग-श्रुत बलवान ॥

७६. षट् खंडाधिप भरत हैं, जगती-तल के नाथ ।
ऐसा जग में कौन है, जो न जोड़ता हाथ ॥

७७. हय गज रथ प्रत्येक ये, हैं चौरासी लाख ।
और करोड़ छियानवे, है पदाति शुभ साख ॥

७८. ग्राम करोड़ छियानवे, के वे हैं नर-नाथ ।
भरत प्रतापी भूप सम, किनके अक्षय आथ ॥

७९. वय में भी हैं तेज में, ज्येष्ठ भरत भूपाल ।
बाहुबले ! सेवा करो, तज घमण्ड तत्काल ॥

८०. कर्णातिथि कर दूत के, तीखे वचन प्रहार ।
भूप बाहुबलि कर रहे, अपने प्रकट विचार ॥

बाहुबलि का प्रत्युत्तर

८१. "अरे दूत ! अवधूत तू, लगता अति वाचाल ?।
मेरे सम्मुख तू अतः, बिछा रहा है जाल ॥

८२. तात-तुल्य गुरु बन्धु हैं, करता हूँ स्वीकार ।
बन्धु मिलन की कामना, है यह उचित विचार ॥

८३. किन्तु राज्य के लोभ में, भरत भूप ने आज ।
भ्रातृ-भाव[1] सब खो दिया, रक्खा कुछ न लिहाज ॥

८४. युद्ध न करना उचित है, बड़े बन्धु के साथ ।
अनुज सभी दीक्षित हुए, ऋषभनाथ के हाथ ॥

८५. लघु भ्राताओं के किये, ग्रहण राज्य-भण्डार ।
फिर भी तृप्त न वे हुए, नहीं लोभ का पार ॥

८६. मेरे कैसे हो सके, स्वामी श्री भरतेश ।
हम दोनों के एक हैं, स्वामी ऋषभ जिनेश ॥

८७. तब फिर कैसे बन सकें, यह स्वामी-सम्बन्ध ।
मैं स्वतन्त्र हूँ पूर्णतः, रहता हूँ स्वच्छन्द ॥

८८. बन्धु-स्नेह के पक्ष से, कर सकता हूँ भक्ति ।
किन्तु न वह चक्रित्व की, होवेगी अभिव्यक्ति ॥

८९. भूल गये हैं भरत क्या, बालकपन की बात ।
फेंका नभ की ओर जब, पाद पकड़ साक्षात् ॥

९०. नीचे गिरते ही उन्हें, झेला सुमन-समान ।
मैंने सोचा उस समय, निकल न जाये प्राण ॥

९१. पूर्व-जन्म की बातवत्, भूल गये सब आज ।
चाटु-भाषणों से हुए, गर्वित बे-अन्दाज ॥

९२. कह देना अब भरत को, नहीं बात से काम ।
दिखलाये आकर मुझे, अपना बल अभिराम ॥

९३. दूत यहां से अब चलो, है न बात में सार ।
जाऊंगा मैं भरत के, पास न किसी प्रकार ॥

९४. मुझे न कुछ भी चाहिए, निज में हूँ संतुष्ट ।
पर के धन की चाह से, होता है मन दुष्ट ॥

---

१. भाइयों की आपस की प्रीति

९५. राज्य भरत को चाहिए, है यह उनकी चाह ।
शान्त करें आकर यहां, मन की तृष्णा-दाह ।।

९६. भूप बाहुबलि के वचन, सुनते ही सहरोष ।
अन्य नृपति सब जोर से, कहते हैं साक्रोश ।।

९७. अरे ! कौन यह दूत है, क्यों आया इस स्थान ।
वचन अनर्गल कह रहा, मुँह से यह बेभान ।।

९८. मारो ! पीटो ! दुष्ट को, यह हांला कि अवध्य ।
किन्तु दुष्ट की दुष्टता, करनी दूर अवश्य ।।

९९. लिया किसी ने हाथ में, धनुष बाण तत्काल ।
खड्ग-बाण इत्यादि सब, लिये शस्त्र संभाल ।।

दूत का सभा से बहिर्निगमन

१००. देख रहा है मृत्यु को, चारों ओर सुवेग ।
सिंह द्वार से भीत वह, निकला रथ गति वेग ।।

नागरिकों की परस्पर वार्ता

१०१. रास्ते में चलते हुए, सहता वचन प्रहार ।
नागर जन की सुन रहा, बातें विविध प्रकार ।।

१०२. राजद्वार से कौन यह, निकला पुरुष नवीन ।
ऋषभ-पुत्र श्री भरत का, क्या यह दूत प्रवीण ।।

१०३. भूप बाहुबलि के सिवा, क्या है राजा और ?।
पुरी अयोध्या में भरत, है भूपति शिर-मोर ।।

१०४. क्यों भेजा है दूत को, क्या है कोई काम ? ।।
शीघ्र बुलाने बाहुबलि, बान्धव को निज धाम ।।

१०५. कहां गये थे भरत जी, नरपति इतने काल ? ।
दिग्-यात्रा के हित गये, लेकर सैन्य विशाल ।।

१०६. क्यों लघु भ्राता को भरत, बुला रहे हैं आज ? ।
अन्य नृपति वत् बन्धु को, निज सेवा के काज ।।

१०७. क्यों कोले पर चढ़ रहा, सब नृप-गण को जीत ? ।
है घमण्ड चक्रीत्व का, अतः नहीं भयभीत ।।

१०८. लघु भ्राता से हारकर, रख पायेगा मान ? ।
जितकाशी[1] कब जानता, भावी हार महान ? ।।

१०९. सम्मति-दाता है न क्या, कोई चक्री-पास ? ।
उसके मंत्री बहुत हैं, जिन पर दृढ़ विश्वास ।।

११०. क्यों न उन्होंने भरत को, रोक दिया तत्काल ? ।
प्रत्युत दी है प्रेरणा, भावी सके न टाल ।।

१११. यों नागर जन के वचन, सुनता हुआ सुवेग ।
पुर बाहर निकला त्वरित, वर्द्धमान आवेग ।।

युद्ध वार्ता विस्तार

११२. स्थान स्थान पर युद्ध की, फैल रही है बात ।
"भरत लड़ेंगे बन्धु से", कहते जन-संघात ।।

११३. मात्र युद्ध की बात को, सुनते ही नर धीर ।
नृप आज्ञा पा, युद्ध हित, सज्जित हुए सुवीर ।।

११४. विविध अस्त्र शस्त्रादिको, करते वे तैयार ।
तम्बू आदि को खोलकर, करते पुनरुद्धार ।।

११५. उत्कंठित सब हो रहे, भूप बाहुबलि-भक्त ।
सदा समर्पित जो रहे, चरणों में अनुरक्त ।।

११६. गिरि-शिखर-स्थित भूप के, सुनकर नाद विशाल ।
दौड़ दौड़कर आ रहे, भील लोग तत्काल ।।

११७. कोई कर में बाण ले, कोई पत्थर बाँस ।
स्वामि-भक्त शुन की तरह, आये स्वामी पास ।।

1. युद्ध विजेता

११८. आपस में वे बोलते, कर-कर ऊंची बाँह ।
"जीतेंगे हम भरत को, निजबल से सोत्साह ।।"

११९. यों रण के प्रारम्भ के,-सुनकर वचन सरोष ।
दूत सुवेग विवेक से, सोच रहा निर्दोष ।।

१२०. "अहो ! बाहुबलि के बली, सारे सैनिक लोग ।
शीघ्र सुसज़्ज्त हो रहे, करने समरोद्योग[1] ।।

१२१. बहलीपति का देश में, हैं अत्यन्त प्रभाव ।
आज्ञा-पालक हैं सभी, है यह भक्त-स्वभाव ।।

१२२. समराङ्गण में समर-हित, उत्सुक सभी किरात ।
स्वतः प्रतीक्षा कर रहे, भय की तनिक न बात ।।

१२३. हैं बहली के लोग सब, प्रभु के भक्त महान ।
भूप बाहुबलि के प्रति, है हार्दिक श्रद्धान ।।

१२४. यद्यपि सेना भरत की, है विशाल प्रत्यक्ष ।
फिर भी वह अति तुच्छ है, बहली-सैन्य समक्ष ।।

१२५. अष्टापद के तुल्य हैं, बहली-पति बलवान ।
षट् खण्डाधिप भरत हैं, गज के कलभ समान ।।

१२६. बहलीपति की मुष्टि का, सबल अमोघ प्रहार ।
मेरी मति में चक्र भी, चक्री का बेकार ।।

१२७. कर विरोध बहलीश से, चक्रीश्वर ने आज ।
पकड़ा अपने हाथ से, विषधारी अहिराज ।।

१२८. एक हरिण को पकड़कर, हरि[2] रहता संतुष्ट ।
त्यों लेकर भूखखंड को, बहली-पति था तुष्ट ।।

१२९. इन्हें छेड़कर है किया, बिना विचारे काम ।
भरत भूप के बहुत थे, सेवक नृप अभिराम ।।

१३०. सेवा बहली-नाथ से, करवाने का ध्यान ।
मानों दाहन के लिए, हरि को है आह्वान ।।

---

१. युद्ध के लिए उद्योग २. सिंह

१३१. स्वामी-हित-इच्छुक सदा, हम हैं निःसन्देह ।
किन्तु कार्य अनुचित हुआ, है न यहां सन्देह ।।

१३२. लोग कहेंगे दूत ने, करवाया संग्राम ।
दूत-कार्य को है अतः, धिक् धिक् आठों याम ।।

दूत का अयोध्या प्रवेश

१३३. चिर चिन्तन करता हुआ, पथ में दूत सुवेग ।
आया चक्री के निकट, तजकर सब उद्वेग ।।

१३४. वद्धांजलि वैठा वहां, कर प्रणाम अब दूत ।
सादर चक्री, वन्धु के,- पूछ रहे आकूत[1] ।।

भरत द्वारा कुशल पृच्छा

१३५. हे सुवेग ! है मम अनुज, अविकल कुशल निरोग ।
कैसे आया शीघ्र तू, चिन्तनीय यह योग ।।

१३६. तुमको किया परास्त क्या, क्या न किया सम्मान ।
वन्धु वाहुवलि है वली, ऋषभनाथ सन्तान ।।

प्रत्युत्तर

१३७. "देव ! देव भी हैं नहीं, आज धरा में शक्त ।
वहलीपति का कर सके, जो अकुशल अभिव्यक्त ।।

१३८. वड़े वन्धु की कीजिये, सादर सेवा भक्ति ।
वन्धु वाहुवलि को कहा, करके विनय विभक्ति ।।

१३९. पीछेऔपधिवत् कटुक, भावी-हितकर वोल ।
युक्ति-युक्त मैंने कहे, उर कपाट को खोल ।।

१४०. पर, प्रभु सेवा के लिये, वे न हुए तैयार ।
सन्निपात के रोग में, है औपधि वेकार ।।

---

१. अभिप्राय

१४१. गर्वोन्नत हैं वाहुवलि, लघु भ्राता वलवान ।
लोकत्रय को समझता, तृण-सम तुच्छ महान ।।

१४२. है प्रतिमल्ल न दूसरा, अपना सिंह समान ।
जान रहा है स्वयं को, सबसे वली महान् ।।"

१४३. यों प्रभु सेना का किया, वर्णन सह विस्तार ।
वाहुवली ने तव कहा, निर्भय साहंकार ।।

१४४. "यह सेना मेरे लिए, कीट, पतंग समान ।
मेरी सेना के निकट, टिक न सकेंगे प्राण ।।"

१४५. दिग्-यात्रा का जव किया, वर्णन परम पुनीत ।
तव अपने दोर्दण्ड के, गाये गीत अभीत ।।

१४६. "तात-दत्त-भू-भाग को, पाकर मैं हूं तृप्त ।
अतः हुआ षट्खण्ड का, भागी भरत अतृप्त ।।

१४७. दूर रही उसके लिये, अग्रज सेवा-वात ।
वह तो रण-हित आपको, वुला रहा लघु भ्रात ।।

१४८. मानी और पराक्रमी, वली वाहुवलि भूप ।
सहन न कर सकता कभी, अन्य पराक्रम-धूप ।।

१४९. इन्द्र-सभा की भांति है, वली नृपति सामन्त ।
उसके राजकुमार भी, तेजस्वी अत्यन्त ।।

१५०. उनके कर में आ रही, खुजली प्रतिदिन-रात ।
वल सर्वाधिक विश्व में, मान रहे निज गात ।।

१५१. "वहलीपति ही एक हैं, भू मण्डल में भूप ।"
मान रहे सव लोग रख, श्रद्धा-भक्ति अनूप ।।

१५२. वहां प्रजा को है नहीं, औरों से अनुराग ।
सती कभी रखती नहीं, पर मानव से राग ।।

१५३. है प्राणार्पण के लिए, तत्पर सारे लोग ।
चाह रहे वहलीश का, क्षेम कुशल का योग ।।

१५४. क्या विशेष अब मैं कहूं, स्वयं जानते ईश ? ।
भूप बाहुबलि तुल्य है, जग में कौन अधीश ? ॥

१५५. भावी-हित को सोचकर, करें यथोचित कार्य ।
दूत मात्र संदेश का,-वाहक होता आर्य ! ॥

१५६. कर्णातिथि कर दूत से, बन्धु-मिलन-संवाद ।
हुआ भरत चक्रीश को, युगपत् हर्ष विषाद ॥

१५७. सुर-नर में बल-दृष्टि से, बाहुबली विख्यात ।
याद अभी भी स्पष्ट हैं, बाल्यकाल की बात ॥

१५८. पुत्र त्रिलोकी नाथ का, मेरा है लघु भ्रात ।
तृण-सम माने लोक-त्रय, है यथार्थ यह बात ॥

१५९. ऐसे छोटे बन्धु से, मैं भी हूँ स्तवनीय ।
दोनों कर सम हों तभी, मानव प्रशंसनीय ॥

१६०. मृगपति को हो सह्य यदि, दृढ़ बन्धन की बात ।
हो जाये वश में अगर, अष्टापद साक्षात् ॥

१६१. किन्तु न वश में हो सके, बन्धु बाहुबलि वीर ।
शक्तिमान मतिमान है, कंचन गिरिसम धीर ॥

१६२. सहन करूंगा मैं स्वयं, भाई का अपमान ।
लोग भले गायें सभी, कायरता के गान ॥

१६३. मिल सकती पुरुषार्थ से, धन से वस्तु विशेष ।
किन्तु न मिल सकता कभी, ऐसा बन्धु नरेश ॥

१६४. ऐसा करना उचित है, या अनुचित साक्षात् ।
उदासीन क्यों हो रहे, बोलो मंत्री-व्रात ॥

१६५. आर्षभ[1] चक्री भरत के, लिये क्षमा है श्रेय ।
किन्तु दया का पात्र हो, तब है वह आदेय ॥

१६६. क्रूरता जिसके ग्राम में, जो मानव अधिवास ।
उसके वह आधीन हो, रहता है सोल्लास ॥

---

१. ऋषभ प्रभु के पुत्र

१६७. और बाहुबलि तो यहां, भोग रहा है देश ।
है वाणी से भी नहीं, वश में वह विन क्लेश ।।

१६८. प्राण-विघातक शत्रु भी, माना जाता श्रेष्ठ ।
यदि वह नृप के तेज की, करता वृद्धि यथेष्ठ ।।

१६९. किन्तु करे जो बन्धु का,-तेज प्रताप विनष्ट ।
श्रेष्ठ बन्धु वह है नहीं, पंडित कहते स्पष्ट ।।

१७०. पुत्र, मित्र, धन, सम्पदा, सेना, सीमा-कार्य ।
इनसे पहले तेज की, रक्षा है अनिवार्य ।।

१७१. निज प्राणों से भी अधिक, है नृप तेज प्रताप ।
क्योंकि तेज से रहित नृप, पाता अति संताप ।।

१७२. क्या अपूर्ण था राज्य प्रभु ! जो साधा षट् खण्ड ? ।
जबकि यही उद्देश्य था, "शासन रहे अखण्ड ।।"

१७३. सार्थक हुई न दिग्-विजय, यदि हो अविजित बन्धु ।
गोष्पद[1] में है डूबना, पार उतर कर सिन्धु ।।

१७४. चक्री का अरि भी कहीं, राज्य करे बन ढ़ाल ।
कहीं, सुना देखा नहीं, जग तल पर गत-काल ।।

१७५. उच्छृंखल के साथ में, रखना बान्धव प्रीति ।
एक हाथ से तालिका, वादन वाली नीति ।।

१७६. बली बाहुबलि शत्रु हैं, है बान्धव का व्याज ।
उचित उपेक्षा है नहीं, इसका करें इलाज ।।

१७७. एक इसे जीते बिना, चक्र न करे प्रवेश ।
चक्री-चक्र प्रवेश से, कहलाता भूपेश ।।

१७८. सेना नाथ सुषेण के, सुनकर वचन अडोल ।
पूछ रहे हैं सचिव को, भरत नृपति दिल खोल ।।

१७९. किया निवेदन सचिव ने, चिन्तन कर मन शांत ।
सेनानी का कथन है, आदरणीय नितान्त ।।

---

१. गाय के खुर से बना गड्ढा

१८०. तेज बढ़ाना नाथ का, है सेवक का काम ।
पवन योग पा अग्नि का, तेज बढ़े अविराम ॥

१८१. चक्र-रत्न का एक भी, जब तक अरि अवशेष ।
तब तक सेनानी कभी, होगा तुष्ट न लेश ॥

१८२. देरी अतः न कीजिए, रण-हित करें प्रयाण ।
सेना सज्जित हो त्वरित, आज्ञा करें प्रदान ॥

१८३. तक्षशिला जाकर स्वयं, करें बन्धु से बात ।
दूत-कथन की सत्यता, हो जायेगी ज्ञात ॥

१८४. चक्रीश्वर ने सचिव का,-वचन किया स्वीकार ।
"चतुर, अपर के हित-वचन, करते अंगीकार" ॥

रण-हित चक्री का प्रयाण

१८५. यात्रिक मंगल कार्य कर, भरत भूमिपति छत्र ।
है प्रयाण रण-हित किया, शुभ बेला नक्षत्र ॥

१८६. गिरिवत् गजपति पर हुए, भरत नृपति आसीन ।
विजयाकांक्षी धृति-धनी, तेजप्रताप अहीन ॥

१८७ समर-वाद्य के नाद को, सुनकर तत्क्षण वीर ।
सैनिक एकत्रित हुए, रण के हेतु अधीर ॥

१८८. विविधायुध-धर शक्ति-धर, सैनिक रण में छेक ।
वर्द्धमान उत्साह से, सज्जित हुए अनेक ॥

१८९. नृप, मंत्री-सामन्त से, आवृत आर्षभ भूप[1] ।
देखे जाते वे घिरे,-मानों नाना रूप ॥

१९०. सेवित यक्ष-सहस्र से, चक्री-चक्र उदार ।
सेना आगे चल रहा, सेनानी-अनुहार ॥

१९१. रजः कणों का हो रहा, चारों ओर प्रसार ।
गगन-धरातल हो गये, मानों एकाकार ॥

---

१. ऋषभ प्रभु के पुत्र

१९२. लाखों हाथी चल रहे, उन्नत अद्रि समान ।
रिक्त हो गये हैं सभी, मानों गज-संस्थान ।।

१९३. घोड़े खच्चर उष्ट्र रथ, वाहन विविध प्रकार ।
शस्त्रों से सज्जित सभी, सैनिक हर्ष अपार ।।

१९४. सागर-दर्शी देखता, ज्यों जलमय संसार ।
सेना-दर्शी कह रहे, जनमय जग साकार ।।

१९५. ग्राम-ग्राम में सुन रहे, चक्री लोक-प्रवाद[1] ।
"जाते हैं चक्री कहाँ, दिग्-यात्रा के बाद ?" ।।

१९६. साव लिये हैं खंडषट्, भरत-क्षेत्र के सद्य ।
रत्न चतुर्दश प्राप्त हैं, औ नव निधि अनवद्य ।।

१९७. फिर भी चक्री कर रहे, किधर ससैन्य प्रयाण ।
क्या न चक्र जतलारहा, "शत्रु-दमन-अभियान" ।।

१९८. पर, दिशि के अनुमान से, होता है आभास ।
युद्ध करेंगे बन्धु सह, होगा जग-उपहास ।।

१९९. अहो ! महाजन भी नहीं, तजते तीव्र कषाय ।
कैसे समझायें इन्हें, कोई है न उपाय ।।

२००. महाबली है बाहुबलि, वीर विश्व विख्यात ।
हुआ सुरासुर के लिये, यह अजेय जग-ज्ञात ।।

२०१. इन्हें जीतना मेरु का,-है कर से उत्थान ।
और तैरना सिन्धु को, बिना किसी जल-यान ।।

२०२. हार जीत निश्चित नहीं, यह भावी की बात ।
होगा अपयश भरत का, यह निश्चित साक्षात् ।।

२०३. यों पुर-पुर में हो रहा, नरपति भरत-प्रवाद ।
रुक सकता है क्या कभी, जग में जन-अपवाद ।।

---

१. झूठी बदनामी

२०४. सेना के चरणों से उत्थित, धूलि व्याप्त है चारों ओर ।
मानों विन्ध्याचल बढ़ता है, तामस फैल रहा है घोर ।।
हय-हेषारव गजगण-गर्जन और रथों का है चीत्कार ।
सुभटों के पैरों से उठती, मिट्टी लगती सघन तुषार ।।

२०५. सरिताओं का शोषण सेना,-करती है रवि-ताप समान ।
वायु-वेग वत् तरु-श्रेणी का, मिटा रही है नाम निशान ।।
सैन्य-ध्वजाओं के वस्त्रों से, गगन बलाकामय[1] है कान्त ।
सैन्य-भार से पीड़ित भू को, गज-मद करता है उपशांत ।।

२०६. प्रतिदिन चलते चलते चक्री, आये बहलीपति के देश ।
सुखद पड़ाव किया सेना ने, पाकर सेनानी आदेश ।।
बहलीपति को इधर भरत के, आने का संवाद मिला ।
तत्क्षण रण-भंभा बजड़ाओं, वीर-वृत्ति का सुमन खिला ।।

२०७. बहलीपति आरूढ़ हुए हैं, वर गजेन्द्र पर रण के अर्थ ।
राजकुमार मार-जित् विजयोत्साहित, अरिगण-दमन समर्थ ।।
बुद्धिमान, धृतिमान, बली, हैं, सभी सुभट-गण हैं रण वीर ।
उनसे परिवृत बली बाहुबलि, ज्यों सुरगण में सुरपति धीर ।।

२०८. कोई अश्वारोही, कोई वर वारण पर है आसीन ।
कोई रथ पर स्थित है, कोई, पैदल भी थे सुभट प्रवीण ।।
नाना विध शस्त्रों से सज्जित, स्वामि-भक्त योद्धा निर्भीक ।
किया शीघ्र प्रस्थान हुए शुभ शकुन विजय के पूर्ण प्रतीक ।।

२०९. "मैं जीतूंगा, मैं जीतूंगा, सकल शत्रुओं को मैं आज ।
होगी विजय हमारी निश्चित",-यों योद्धा करते आवाज ।।
रण-भंभावादक भी देखो यहां, वीरमानी विख्यात ।
रोहणाद्रि में सारे कंकड़, होते हैं मणिमय साक्षात् ।।

२१०. फोड़ रहा है पृथ्वी-तल को, बहलीपति–सेना का भार ।
और गगन को फोड़ रहा है, विजय-वाद्य का शब्दोच्चार ।।
थी अति दूर देश की सीमा, फिर भी पहुंच गये तत्काल ।
विजयोत्साही सुभट गणों का, वायु वेग से वेग विशाल ।।

---

१. बगुलों की पंक्ति

२११. वहलीपति ने गंगा-तट पर, डाल दिया है शीघ्र पड़ाव ।
जिसका चक्री सेना से था, नाविक दूर निकट सद्भाव ।।
उत्साही हैं सैनिक सारे, समर-प्रतिक्षा करते हैं ।
कब होगा प्रारम्भ समर बस, ध्यान एक ही धरते हैं ।।

२१२. आपस में चारण भाटों ने, रण का दिया निमंत्रण है ।
वहलीपति ने और भरत ने, स्वीकृत किया उसी क्षण है ।।
सिंहरथ जो था वहली-पति का, पुत्र-रत्न सिंह वत् वलवान् ।
उसे बनाया सेना-नायक, लेकर सबका सम्मति-दान ।।

२१३. समर-पट्ट जो स्वर्ण-विनिर्मित, है वह आभावान महान् ।
उसे किया है, सेनापति के,-शिर पर स्थापित सह सम्मान ।।
रण की दीक्षा लेकर आया, प्रमुदित मन वह निज आवास ।
अन्य नृपति गण को भी रण की, आज्ञा दी है सह उल्लास ।।

२१४. इधर भरत ने रण की दीक्षा, दी सुषेण को हर्षोत्कर्ष ।
घोर समर का वर सेनापति, चयित किया कर सोच विमर्श ।।
सिद्ध-मंत्र-सम भरत-भूप का, शासन शिर पर चढ़ा लिया ।
रण की करता हुआ प्रतीक्षा, अपना आसन ग्रहण किया ।।

२१५. अन्य नृपति-गण को भी रण-हित, चक्री ने आदेश दिया ।
सेनानायक की आज्ञा में चलने का आह्वान किया ।।
हे रण-वीरों ! तुमने दुर्दमनीय नृपों का दमन किया ।
गिरि वैताढ्य लांघ कर, दुर्जय भिल्लों को आक्रान्त किया ।।

२१६. किन्तु मानता हूँ मैं उनको, था न जीतना कार्य महान् ।
क्योंकि नहीं था कोई उनमें, वहली-पति के पत्ति[1] समान ।।
भगदड़ मचा सके सेना में, सोम अकेला ही रण-शूर ।
महावली है सिंह-सम सिंहरथ, अरिदल हित दावानल क्रूर ।।

२१७. किं-वहुना ! है अनुजन्मा के,–पुत्र प्रपौत्र महावलवान ।
उनसे डरता रहता है यम, जैसे सिंह से मृग-नादान ।।
है सामान्तादिक भी स्वामी,–भक्त वली वहुतेरा समान ।
एक एक से महावली हैं, शूर-वीर योद्धा मतिमान ।

१. योद्धा

२१८. क्या कहना है बहलीपति का, है न और उसके समकक्ष ।
पृथ्वी-तल में वह अजेय है, शूर शिरोमणि नर प्रत्यक्ष ।।
सावधान रहना है सबको. रण के हित प्रस्थान करो ।
सेनापति के अनुगामी बन, वीर-वृत्ति से विजय वरो ।।

२१९. भरत भूप की स्पष्ट सुधा-सी, सुनकर वाणी हितकारी ।
रण के हित उत्साह बढ़ा यों, ज्यों वर्षा-ऋतु में वारि ।।
दोनों दल के सुभट खड़े हैं, शस्त्रों से सज्जित होकर ।
श्री गणेश हो रण का सत्वर, इसी प्रतिक्षा में तत्पर ।।

युद्ध घोषणा

२२०. हुई युद्ध की घोषणा, दोनों दल की ओर ।
उत्साहित सैनिक हुए, तत्पर हर्ष-विभोर ।।

२२१. एक दूसरे की तरफ, बढ़ते हैं अविराम ।
करते हैं आह्वान सब,–"करो करो संग्राम" ।।

२२२. अश्व अश्व के सामने, गज गजराज समक्ष ।
रथ-रथ के सम्मुख खड़े, समर हेतु प्रत्यक्ष ।।

२२३. मुद्गर-मुद्गर सामने, दण्ड सामने दण्ड ।
खड्ग खड्ग के सामने, भास्कर[1] तुल्य प्रचण्ड ।।

२२४. रोपारुण[2] होकर सभी, सैनिक आये पास ।
रुके न क्षण भर भी कहीं, करते रण सोल्लास ।।

देवों का आगमन

२२५. लख कर युद्ध–विभीषिका,[3] आये सुर तत्काल ।
"प्रलय न हो जाये कहीं, युद्ध महा विकराल" ।।

२२६. 'रोकें सत्वर समर को, टले मनुज—संहार ।
"युद्ध न होना", उचित है, अन्य अनेक प्रकार ।।

---

१. सूर्य २. अतिक्रोध ३. भयंकरकाण्ड

२२७. तत्क्षरण सुर–करने लगे, ऊँचे स्वर से घोष ।
"सुनो !! सुनो !! सैनिक सभी, तजकर रण का रोष ॥

२२८. आदिनाथ भगवान की, है तुम सबको आन ।
बन्द करो संग्राम का,–यह अनुचित अभियान ॥

२२९. समझाते हैं आपके,–नृप को जा तत्काल ।
क्यों आमंत्रित कर रहे, कोटि–जनों का काल" ॥

२३०. दोनों दल के सुभट-गण, सुनकर सुर-संदेश ।
वैसे ही सब स्थित रहे, मानों चित्र विशेष ॥

२३१. बहलीपति के पक्ष के, क्या हैं ये सुरराज !
या हितकर भरतेश की, करते हैं आवाज ॥

भरत से देवों का कथन

२३२. लोगों का कल्याण हो, और न जीव–विनाश ।
यों चिन्तन कर देव-गण, आये चक्री पास ॥

२३३. 'जय हो जय हो' भरत की, देकर आशीर्वाद ।
सुर-गण कहते हैं सभी, सुनो बात अविवाद ॥

२३४. जैसे जीते दैत्य-गण, सुरपति ने तत्काल ।
वैसे जीते आपने, भारत-भूमी-पाल[1] ॥

२३५. किन्तु अभी तक आपकी, मिटी न रण की चाह ।
अतः बन्धु के साथ भी, है रण का उत्साह ॥

२३६. आप पराक्रम तेज से, अष्टापद साक्षात् ।
अन्य नृपतिगण आपके, लिए हरिण-संघात ॥

२३७. जल-मंथन से हो सके, पूर्ण न घृत की चाह ।
नहीं हुई है आपकी, शान्त युद्ध की दाह ॥

२३८. किया युद्ध प्रारम्भ है, अतः बन्धु के साथ ।
मानों अपने हाथ से, काट रहे निज-हाथ ॥

---

१. भरत क्षेत्र के राजा

२३९. गज खुजलाता कनपटी, जब आती है खाज ।
समर-हेतु है आपकी, कर-गत कण्डू आज ।।

२४०. जैसे गज-तूफान से, होता वन का नाश ।
वैसे होगा आपके, रण से विश्व-विनाश ।।

२४१. आग वरसना चन्द्र से, उचित न किसी प्रकार ।
ऋषभ-पुत्र का वन्धु से, लड़ना लज्जा-कार ।।

२४२. भूमीश्वर ! ज्यों भोग से, मुख मोड़े मुनि-ज्येष्ठ ।
त्यों रथ से मुंह मोड़कर, वापस जाना श्रेष्ठ ।।

२४३. आये लड़ने के लिये, प्रथम यहां पर आप ।
अतः अनुज भी सामने, आया अपने-आप ।।

२४४. जग-विनाश के पाप से, वचना उत्तम काम ।
उभय पक्ष के सैन्य-गण, पायेंगे आराम ।।

२४५. युद्ध-जन्य भय से सभी, प्राणी-गण हैं भीत ।
रण-विराम से विश्व में, होगी शान्ति पुनीत ।।

भरत का उत्तर

२४६. देवों के हितकर वचन, सुन चक्री तत्काल ।
घन समान गंभीर स्वर, वोले वचन रसाल ।।

२४७. हे सुरगण ! विन आपके, कौन कहे हित-वात ।
कौतुक-दर्शी लोग तो, करवाते उत्पात ।

२४८. रण का कारण और है, नहीं आपको ध्यान ।
मूल वात जाने विना, हो न न्याय-निर्माण ।।

२४९. जीत लिये पट् खण्ड के, नरपति वली अनेक ।
किन्तु झुका अव तक नहीं, वन्धु वाहुवलि एक ।।

२५०. विना वाहुवलि के झुके, चक्र न करे प्रवेश ।
यही हेतु है युद्ध का, और न कोई क्लेश ।।

२५१. सुर बोले हैं समर का, हेतु यही बलवान ।
तुच्छ बात के हित नहीं, लड़ते पुरुष महान ।।

२५२. अब हम जाते हैं स्वयं, बाहुबली के द्वार ।
समझाकर झट टाल दें, भावी नर-संहार ।।

२५३. भले, बताएँ वे हमें, रण का कारण अन्य ।
फिर भी करना है नहीं, ऐसा युद्ध जघन्य ।।

२५४. दृष्टि-बाहु दंडादि से, लड़ें आप बलवान ।
बच जाये जिससे स्वतः, निरपराध असुमान[1] ।।

२५५. देवों का चक्रीश ने, कथन किया स्वीकार, ।
सुरगण सारे तब गये, बहलीपति के द्वार ।।

बाहुबलि से देवों का कथन

२५६. बहलीपति को देखकर, करने लगे विचार ।
"अहो ! गुणों की मूर्ति है, बहलीपति साकार ।।

२५७. सविनय सुरगण कह रहे, चिरंजीव बहलीश ! ।
ऋषभनाथ कुल-दीपवर जग-चकोर रजनीश[2] ।।

२५८. मर्यादित हैं अब्धिवत्, निन्दा से भयभीत ।
है न गर्व सम्पत्ति का, गुणि-जन गुण से प्रीत ।।

२५९. सब जग के प्रतिपाल हो, जन-जीवन-आधार ।
समता-निष्ठ वरिष्ठ हो, अभयदान-दातार ।।

२६०. आदिनाथ के आप हैं, योग्य पुत्र निर्दम्भ ।
उचित नहीं है आपको, करना रण-प्रारम्भ ।।

२६१. बड़े बन्धु के साथ प्रभो, ! अनुचित है संग्राम ।
कैसे होगा आपसे, नाथ ! बुरा यह काम ।।

२६२. अब भी कुछ बिगड़ा नहीं, बनिये आप उदार ! ।
टाल समर को टालिए, भावी नर-संहार ।।

१. प्राणी २. जगत-रूपी चकोर के लिए चन्द्रमा

२६३. सेना को लौटाइए, दे जल्दी आदेश ।
गुरु-भ्राता श्री भरत को, उचित न देना क्लेश ॥

२६४. उनकी करो. अधीनता, हर्ष सहित स्वीकार ।
पाएँगे जग में सुयश, बन विनीत साकार ।

२६५. जीते जो षट् खण्ड हैं, भरत भूप ने आज ।
औ सारी सम्पत्ति का, भोग करो निज काज ॥

२६६. एक पिता के पुत्र हो, कुल-भूषण कुलवान ।
अन्तर क्या है आप वे, दोनों एक समान ?॥

बाहुबलि का उत्तर

२६७. सुनकर सुरगण के वचन, बोले बहलीनाथ ।
"रण-रहस्य जाने बिना, क्यों करते हो बात ॥?

२६८. आप पिता के भक्त हैं, हम हैं सुत सुविनीत ।
यही हमारा आपका, है सम्बन्ध पुनीत ॥

२६९. अतः आप जो कह रहे, वह है उचित नितान्त ।
किन्तु कथन मेरा सुनें, आप सभी मन शान्त ॥

२७०. ग्रहण किया था तात ने, जब संयम का भार ।
तब हम सबको बांटकर, दिये राज्य-भण्डार ॥

२७१. मुझे दिया जो तात ने, रहा उसी से तुष्ट ।
केवल धन ही के लिये, करे शत्रुता दुष्ट ॥

२७२. ज्यों जल में लघु मीन को, खा जाती गुरु मीन ।
त्यों अग्रज[1] भरतेश ने, राज्य लिये सब छीन ॥

२७३. फिर भी हुआ न भरत को, चित्र ! चित्त में तोष ।
भोजन से होता नहीं, लोलुप को संतोष ॥

२७४. अनुज जनों से छीनकर, प्राज्य राज्य भण्डार ।
खो दी है गुरुता सभी, चक्री ने इस बार ॥

---

१. बड़े भाई भरत ने

२७५. वय से होता है नहीं, जग में पुरुष महान ।
अपने सद् व्यवहार से, बनता गुरु इन्सान ॥

२७६. बाँधव को च्युत राज्य से, कर, देना संताप ।
बस ऐसी ही ज्येष्ठ की, है गुरुता की छाप ॥

२७७. अब तक मैंने भरत को, माना तात समान ।
वह भ्रम ही था कांच को, समझा रत्न महान ॥

२७८. लेकर विन अपराध के, तात-दत्त भू-भाग ! ।
दिखलाया है क्या यही, वन्धु जनों से राग ! ॥

२७९. साधारण सा भूप भी, करे न जैसा कृत्य ।
वैसा चक्री ने किया, धिक्-धिक् कार्य अकृत्य ॥

२८०. अब मेरे भी राज्य को, लेने की है चाह ।
बुला रहा है वह मुझे, तज गुरुता की राह ॥

२८१. ज्यों अपार जल-राशि को, नौका करके पार ।
टकराती है अन्त में, पर्वत से बेकार ॥

२८२. त्यों चक्री ने जीतकर, सकल भरत के भूप ।
टकराया है आज वह, मुझसे बन विद्रूप ॥

२८३. नहीं वन्धुओं ने किया, लोभी का सत्कार ।
मैं अब किस गुण से करूं, भरत वन्धु से प्यार ॥

२८४. बतलाएं अब देव-गण ! आप मुझे निष्पक्ष ।
सही न्याय जो हो वही, तजकर मिथ्या पक्ष ॥

२८५. भले करे वश में मुझे, चक्री भरत वलात् ।
वल प्रयोग कर जीतना, क्षात्र-धर्म विख्यात ॥

२८६. किन्तु वन्धु-कर से नहीं, ग्रहण करूं भू-दान ।
दिया हुआ खाता नहीं, पंचानन वलवान ॥

२८७. मैं चाहूँ तो ले सकूं, भरत-राज्य तत्काल ।
पर-धन-वत् कैसे ग्रहूं, सोदर-राज्य विशाल ॥

२८८. दिग् विजयी बनकर हुआ, भरत बहुत उन्मत्त ।
चंपक-फल के योग से, हो जाता गजमत्त ॥

२८९. सुख से रह सकता नहीं, अब चक्री सम्राट् ।
लोह खण्ड पर आ गया, मानो अब तो 'काट' ।।

२९०. "छीन चुका" यह देखता, मैं चक्री का राज्य ।
किन्तु स्वतः मैं कर रहा, आज उपेक्षा प्राज्य ।।

२९१. जामिन बनने भरत के, सुयश 'राज्य' भण्डार ।
ले आये सह भरत को, तो यह विमल विचार ।।

२९२. सुर-वर ! हैं यदि भरत के, परम हितैषी आप ।
तो रण से रोकें उसे, मिट जाए संताप ।।

२९३. अगर करेगा वह नहीं, नर-घातक संग्राम ।
तो मैं भी लूंगा नहीं, रण-यात्रा का नाम ।।

२९४. बली बाहुबलि के वचन, घन-गर्जन समकक्ष ।
सुनकर अति विस्मित हुए, सभी अमर प्रत्यक्ष ।।

२९५. सोच रहे हैं सुर सभी, "कठिन समस्या आज" ।
एक ओर है सरसरी, एक ओर मृगराज ।।

२९६. पुर में होना है नहीं, चक्री-चक्र-प्रविष्ट ।
है चक्री को इस लिए, करना युद्ध अभीष्ट ।।

२९७. अतः "भरत चक्रीश को, कैसे रोका जाय ।"
उनको इसका सूझता, कोई नहीं उपाय ।।

२९८. इधर आपके कथन को, कहे कौन विपरीत ।
रण-इच्छुक के साथ ही, रण के गाते गीत ।।

२९९. ऋषभनाथ के पुत्र हैं, दोनों आप विनीत ।
बुद्धिमान, बलवान औं, चिंतक परम पुनीत ।।

३००. हाय ! हुआ दुर्भाग्य से, यह रण का उत्पात ।
फिर भी प्रार्थी के लिए, सुर-तरु हैं साक्षात् ।।

३०१. नम्र प्रार्थना श्रवण कर, अधम युद्ध दें त्याग ।
महापुरुष रखते सदा, उत्तम रण से राग ।।

३०२. क्योंकि आप दोनों बली, तेजस्वी भास्वान ।
अधम युद्ध से व्यर्थ ही, होंगे जन निष्प्राण ॥

३०३. अतः आप दोनों करें, दृष्टि आदि संग्राम ।
बच जायेगा सैन्य-क्षय, रह जायेगा नाम ॥

द्वन्द युद्ध की स्थापना

३०४. बहली-पति ने की त्वरित, सुर वाणी स्वीकार ।
बन्धु-बन्धु दोनों हुए, युद्ध हेतु तैयार ॥

३०५. बहली-पति-प्रादेश से, होकर गज आरूढ़ ।
छड़ीदार ने यों कहा, सुनों सैनिकों गूढ़ ॥

३०६. चिर प्रतीक्षा से मिला, जो स्वामी का काम ।
पुत्र-लाभ की भांति था, अभिप्रेत अभिराम ॥

३०७. पर, देवों ने प्रार्थना, स्वामी से की आज ।
दोनों बान्धव ही लड़े, देखें सकल समाज ॥

३०८. बहली-पति बलवान हैं, साक्षात् इन्द्र समान ।
हैं अजेय संग्राम में, तेजस्वी भास्वान ॥

३०९. युद्ध न करने का दिया, हम सबको आदेश ।
देखें दर्शक-रूप में,—सैनिक, युद्ध-विशेष ॥

३१०. वापस कर दो अश्व, रथ, और बली गजराज ।
रखो शस्त्र आगार में, नहीं जरूरत आज ॥

३११. जैसे बिजली मेघ में, हो जाती है लीन ।
वैसे रोको क्रोध को, सैनिक सभी प्रवीण ॥

३१२. युद्ध रोकने की सुनी, छड़ीदार की बात ।
वज्राहत से हो गये, सैनिक-गण साक्षात् ॥

३१३. उनके मानस हो गये, तत्क्षण शान्त प्रशान्त ।
आपस में करने लगे, यों बातें एकान्त ॥

३१४. होने वाले युद्ध से, वरिणग् जनों के तुल्य ।
डरते हैं ये देव भी, यह आश्चर्य अतुल्य ।।

३१५. भरत-सैनिकों से ग्रहण, की रिश्वत साक्षात् ।
"सुर भी लोभ न छोड़ते, मानव की क्या बात ।।"

३१६. अथवा ये गत-जन्म के, हैं वैरी निःशंक ।
रण-उत्सव को रोककर, किया रंग में भंग ।।

३१७. भूखे नर के सामने, पड़ा परोसा थाल ।
उसे उठाया क्या नहीं, देवों ने चल-चाल ।।

३१८. कौन मिलेगा दूसरा, वैरी भरत समान ।
जिसे जीतकर हो सकें, हम सब उऋण महान ।।

३१९. जंगल-तरु के फूल की, सौरभ के अनुहार ।
गया हमारा बाहु-बल, आज अरे! बेकार ।।

३२०. हुआ हमारा व्यर्थ है, शस्त्र-कला-अभ्यास ।
शुक-कृत शास्त्राभ्यास सम, निष्फल सभी प्रयास ।।

३२१. वृथा किया संग्राम के, शिक्षण का उद्योग ।
क्योंकि हुआ इसका नहीं, कोई भी उपयोग ।।

३२२. हुई हमारी गर्जना, शारद-मेघ समान ।
रण-इच्छा मन में रही, विफल हुआ अभियान ।।

३२३. यों बातें करते हुए, सैनिक सभी हताश ।
रण-स्थल से वापस चले, निकल रहे निःश्वास ।।

३२४. इधर भरत भूपेश से, निज सेना परिवार ।
सत्वर लौटाया गया, ज्यों जल-निधि से ज्वार ।।

३२५. पराक्रमी चक्रीश के, सैनिक सब पुर जोर ।
तरह-तरह की कर रहे, बातें चारों ओर ।।

३२६. अपने स्वामी भरत ने, यह क्या किया विचार ।
द्वन्द्व-युद्ध की स्थापना, कैसे की स्वीकार ।।

३२७. किस मंत्री ने है किया, वैरी जैसा काम ।
युद्ध-विजय में जो हुआ, वाधक नमक-हराम ॥

३२८. स्वामी ने भी कर लिया, जब ऐसा स्वीकार ।
तब हम सबकी क्या रही, स्वामी को दरकार ॥

३२९. किस नृप को जीता नहीं, हमने कर संग्राम ।
फिर क्यों हमको युद्ध से, रोक रहे वेकाम ॥

३३०. जब अपने सारे सुभट, रण में जाएँ हार ।
तभी स्वयं स्वामी लड़े, यह है रण-व्यवहार ॥

३३१. यदि वहली-पति के सिवा, होता कोई और ।
तो स्वामी की जीत में, थी न वहम को ठौर ॥

३३२. किन्तु बली है बाहु-बलि, शूरवीर विख्यात ।
इसके आगे इन्द्र भी, भय खाता साक्षात् ॥

३३३. बड़ी नदी का पूर है, तक्षशिला का नाथ ।
उचित न पहले उतरना, रण में इसके साथ ॥

३३४. पहले हम लड़लें स्वयं, देखें बल साक्षात् ।
स्वामी के हित उचित है, लड़ना तत्पश्चात् ॥

३३५. अश्वों का करते दमन, पहले शिक्षाकार ।
होते उन पर बाद में, चढ़कर सफल सवार ॥

३३६. विविध तरह की कर रहे, जब ये बातें वीर ।
समझ लिए चक्रीश ने, उनके भाव गंभीर ॥

३३७. उन्हें बुलाकर के कहा, चक्री ने तत्काल ।
शांत चित्त से सब सुनो, बात न देना टाल ॥

३३८. ज्यों तम-हर रवि रश्मियाँ, आगे करे प्रसार ।
त्यों तुम अरि को जीतने, अग्रेसर हर-बार ॥

३३९. गहरी खाई में गिरा, ज्यों कोई गज-जात ।
पहुँच न सकता दुर्ग तक, है यह निश्चित बात ॥

३४०. त्योंही हे वर सैनिकों !, सकल तुम्हारा योग ।
पाकर पहुँचा है नहीं, मुझ तक शत्रु निरोग ।।

३४१. पहले देखा है नहीं, तुमने मेरा युद्ध ।
अतः व्यर्थ की कर रहे, शंकाएँ हो क्रुद्ध ।।

भरत का बल प्रदर्शन

३४२. वीर सैनिकों तुम सभी, होकर सब एकत्र ।
देखो मेरा बाहुबल, ध्यान लगाकर अत्र ।।

३४३. निज सेवक-गण को दिया, चक्री ने आदेश ।
खोदो खड्डा एक जो, हो गहरा सुविशेष ।।

३४४. सुनते ही चक्रीश की, यह आज्ञा तत्काल ।
खोदा सैनिक संघ ने, खड्डा एक विशाल ।।

३४५. दक्षिण जलनिधि-तीर पर, यथा खड़ा गिरिराज ।
खड्डे के तट पर तथा, सुस्थित चक्री-राज ।।

३४६. अपने बायें हाथ में, लोहे की मजबूत ।
बंधवाई है सांकले, चक्री ने बल-पूत ।।

३४७. किरणों से रवि शोभता, लता व्यूह से वृक्ष ।
दस[1]-शत सांकल व्यूह से, शोभित नृप प्रत्यक्ष ।।

३४८. सुनो सैनिकों ! तुम सभी, करो एक अब काम ।
गाड़ी को ज्यों खींचते, बली-बैल अभिराम ।।

३४९. निर्भय वैसे ही मुझे, खींचो निज बल-योग ।
इस खड्डे में डाल दो, मिलकर तुम सब लोग ।।

३५०. करें परीक्षा नाथ की, होगा यह अपमान ।
ऐसा कभी न सोचना, है आज्ञा बलवान ।।

३५१. बार-बार चक्रीश के, कहने पर तत्काल ।
खींच रहा मिल कर उन्हे, सैनिक-संघ विशाल ।।

---

१. एक हजार ।

३५२. बँधी हुई जो सांकले, भरत-भुजा के साथ ।
लटक रहे उनको पकड़, मानो कपि-संघात ॥

३५३. रहे सैनिकों से भरत, उदासीन कुछ काल ।
गिरि भेदी गजराज से, जैसे अद्रि विशाल ॥

३५४. फिर निज कर को खींचकर, चक्री ने तत्काल ।
लगा लिया है हृदय से, चक्री-शक्ति विशाल ॥

३५५. खड्डे में सब गिर पड़े, त्यों सब सैनिक लोग ।
खींचें तल-घट ज्यों पड़े, सारे घट तद्योग ॥

३५६. निज स्वामी का देखकर, अद्‌भुत शक्ति-प्रयोग ।
परमानन्द मना रहे, सारे सैनिक लोग ॥

३५७. सैनिक-गण की हो गई, सब शंकाएँ दूर ।
जाना "स्वामी की विजय, होगी" हैं रण-शूर ॥

३५८. भरत-भुजा की सांकले, उनने झट दी खोल ।
विस्मयकारी विजय के, बोल रहे वे बोल ॥

३५९. हाथी पर आरूढ़ हो, भरत भूप बलवान ।
आये हैं रण-भूमि में, रण में कुशल महान ॥

३६०. सेनाओं के बीच में, शोभनीय भू-देश ।
गंगा-जमुना मध्य में, ज्यों है वेदि-प्रदेश ॥

३६१. समर-भूमि में कर रहे, सुर, जल से छिड़काव ।
हुआ पुष्प की वृष्टि का, सहसा प्रादुर्भाव ॥

३६२. गज-गर्जन करते हुए, दोनों राजकुमार ।
गज से नीचे उतरकर, आए रण के द्वार ॥

दृष्टि युद्ध

३६३. दृष्टि-युद्ध की स्थापना, की है पहली वार ।
खड़े आमने-सामने, दोनों, वन्धु उदार ॥

३६४. दोनों अपलक नयन से, देख रहे साक्षात् ।
सूर्य चन्द्र की भांति वे, शोभित जग विख्यात ।।

३६५. ध्यान-लीन मुनि की तरह, खड़े रहे चिरकाल ।
देख रहे स्थिर दृष्टि से, दोनों आँखे लाल ।।

३६६. हुए भरत आदित्य की, किरणों से आक्रान्त ।
फलतः उनकी हो गई, आँखे वन्द नितान्त ।।

३६७. वली वाहुवलि की हुई, प्रथम जीत साक्षात् ।
सुरगण ने की है समुद, फूलों की वरसात ।।

३६८. सोमप्रभादिक ने किया, उत्सव हर्ष महान ।
वाद्य वजाए विजय के, और सुयश-संगान ।।

३६९. कीर्ति-नर्तकी ने किया, नर्तन विविध प्रकार ।
उच्च स्वर से कर रहे, सैनिक जय-जयकार ।।

३७०. भरत-भूप के हो गये, सैनिक शिथिल नितान्त ।
मानो सव मूर्च्छित हुए, या कि रुग्ण एकान्त ।।

३७१. चक्री-सेना में सपदि, छाया घोर विषाद ।
और वाहुवलि सैन्य में, पग-पग हर्ष-निनाद ।।

३७२. वहलीपति ने फिर कहा, यह मत गाना गीत ।
हुई घुणाक्षर[1] न्याय से, यह आकस्मिक जीत ।।

३७३. ऐसा ही हो तो अगर, फिर मैं हूँ तैयार ।
करलो वाणी-युद्ध भी, दिखलाओ वलसार ।।

३७४. वाणी सुनकर भ्रात की, भरत हुए हैं क्रुद्ध ।
पुनरपि सज्जित हो गये, करने भीषण युद्ध ।।

वाग् युद्ध

३७५. घन-गर्जनवत् है किया, सिंह-निनाद महान् ।
मानो रण-दर्शक अमर, के हैं गिरे विमान ।।

---

१. किसी वात का विना प्रयत्न के, संयोगवशात् हो जाना

३७६. नभ से ग्रह, नक्षत्र-गण, तारे हुए विनष्ट ।
और उच्च शिखरी-शिखर, चलित हुए हैं स्पष्ट ।।

३७७. सुन उस सिंह-निनाद को, घोडे तोड़ लगाम ।
भाग रहे भय-भीत हो, चारों दिक् कुहराम ।।

३७८. मान रहे गजवर नहीं, अंकुश का अनुबन्ध ।
जैसे चोर न मानते, सदुपदेश, सौगन्ध ।।

३७९. ऊंट न डोरी मानते, दोड़ रहे चिहुं ओर ।
लज्जा रख पाता नहीं, ज्यों व्यभिचारी, चोर ।।

३८०. सिंहनाद सुन भरत का, घबराए सब लोग ।
रह पाये सुस्थिर नहीं; देख सबल बल-योग ।।

३८१. तदनन्तर बहलीश ने, नाद किया विकराल ।
कंपित पृथ्वी, थे गगन औ, भांत वृद्ध आबाल ।।

३८२. गरुड़राज के पंख का, समझ शोर सब सांप ।
प्रलय काल की भ्रांति से, रहे भीति से कांप ।।

३८३. मानो वे पाताल से, नीचे जो है स्थान ।
उसमें घुसना चाहते, शीघ्र बचाने प्राण ।।

३८४. इन्द्र-व्रज के शब्द की, वापस आयी याद ।
कुल पर्वत कंपित हुए, सुनकर सिंह-निनाद ।।

३८५ सिंहनाद सुन अनुज का, चक्री ने तत्काल ।
पुनः किया तद्वत् अहो !, सिंहनाद सुविशाल ।।

३८६. दोनों भ्राता कर रहे, सिंहनाद घन-गाज ।
क्रमशः कम होती गई, चक्री की आवाज ।।

३८७. सज्जन की मैत्री सदृश, बाहुबली का नाद ।
वचन युद्ध में भी अतः, जीत हुई अविवाद ।।

बाहु युद्ध

३८८. उभय बन्धु पुनरपि हुए, बद्धकक्ष प्रत्यक्ष ।
बाहु-युद्ध अब कर रहे, देख रहे नरदक्ष ।।

३८९. तालें ठोकीं जोर से, मल्लों ने तत्काल ।
मानों पर्वत पर गिरा, विद्युत् शब्द विशाल ।।

३९०. उभय आमने-सामने, भिड़े युगल गजराज ।
मानो भूमि प्रकम्प ही, हुआ अचानक आज ।।

३९१. खण्ड घातकी के उभय, लघु कंचन गिरिराज ।
मानो आये हैं यहीं, "जन-जन की आवाज ।।"

३९२. हुए आमने सामने, मन में रोष महान् ।
टकराते हैं हाथ वे, हाथी-दांत समान ।।

३९३. क्षण में होते हैं अलग, क्षण में होते साथ ।
जैसे झंझावात से, तरुओं का संघात ।।

३९४. क्षण में ऊंचे उछलते, जलनिधि-ज्वार समान ।
नीचे गिरते हैं त्वरित, भाटे के उपमान ।।

३९५. आलिगन वे कर रहे, स्नेही-सम हो क्रुद्ध ।
जाते हैं ऊँचे कभी, नीचे फिर, कर युद्ध ।।

३९६. वार वार वे बदलते, रहते हैं सहवेग ।
ऊंचे नीचे कोन हैं, हो सकता न विवेक ।

३९७. एक दूसरे के लिए, होते बन्धन-रूप ।
चंचल बन्दर की तरह, पुनरपि पृथग् स्वरूप ।।

३९८. वार वार वे लोटने लगे, भूमि पर वीर ।
धूलि-धूसरित हो गया, अतः समस्त शरीर ।।

३९९. उनका भार असह्य है, जंगम अद्रि समान ।
पदाघात के व्याज से, भू का रुदन महान ।।

४००. क्रुद्ध अनुज ने अन्त में, पाकर अवसर-सार ।
उठा लिया है भरत को, तृणवत् भार अपार ।।

४०१. फेंक दिया आकाश में, अद्भुत बल के योग ।
बाहुबलि बल देखकर, विस्मित सारे लोग ।।

४०२. जैसे छुटा धनुष से, बाण पहुँचता दूर ।
वैसे ही चक्री गये, अम्बर में अति दूर ।।

४०३. नीचे गिरती देखकर, चक्री देह निढ़ाल ।
भाग गये खेचर सभी, रण-दर्शक भूपाल ।।

४०४. दोनों सेना में हुआ, भीषण हाहाकार ।
"क्या होगा" यह कल्पना, करना कठिन अपार ।।

४०५. महाजनों को जब कभी, लगता दुख-आघात ।
सहृदय जन होते दुखी, यह स्वाभाविक बात ।।

४०६. बाहुबली भी देखकर, चक्री-कष्ट अपार ।
सोच रहे यह क्या किया, अरे ! मुझे धिक्कार ।।

४०७. किन्तु न होगा अब नहीं, निज निंदा से काम ।
करूं बन्धु की मैं प्रथम, रक्षा हो न कुनाम ।।

४०८. नभ से गिर कर हो नहीं, उनके टुकड़े आज ।
भाई को मैं पकड़ कर, रख लूं अपनी लाज ।।

४०९. बाहलिपति ने है किया, यह चिन्तन सुखकार ।
फैलाकर निज बाहु युग, शय्या की तैयार ।।

४१०. चक्री को गिरते हुए, पकड़ लिया तत्काल ।
दोनों सेना में हुआ, हर्ष-निनाद विशाल ।।

४११. ऋषभ पुत्र ने बन्धु की, कर रक्षा अभिराम ।
जगती-तल में है किया, अपना ऊंचा नाम ।।

४१२. बहलीपति के गा रहे, लोग सभी गुण-गान ।
स्तुत्य पराक्रम है यही, बतलाते विद्वान ।।

४१३. मुदित-मना सुर कर रहे, फूलों की बरसात ।
पर उससे क्यों मुदित हों, वीर-व्रती साक्षात् ।।

४१४. इस घटना से हो गये, भरत खिन्न अरु क्रुद्ध ।
सोच रहे कैसे करूं, बहली-पति से युद्ध ।।

४१५. लज्जा-नत बहलीश भी, आये चक्री पास ।
गद-गद स्वर से कर रहे, अपने भाव प्रकाश ।।

४१६. चक्रीश्वर जगती-पते!, चिन्ता है न पुनीत ।
हुई घुणाक्षर न्याय से, यह तो मेरी जीत ।।

४१७. इसे नहीं मैं मानता, हुई तुम्हारी हार ।
और न अपनी मानता, जीत हुई इस बार ।।

४१८. हे भुवनेश्वर ! आप ही, अब तक जग में वीर ।
देव-मथित भी अब्धि है, अब्धि, न वापी नीर ।।

४१९. खड़े खड़े क्या देखते, हो जायें तैयार ।
एक वार फिर देखलें, किसकी होती हार ।।

मुट्ठी युद्ध

४२०. सुनकर वाणी अनुज की, दौड़े भरत नृपाल ।
झटपट मुट्ठी बाँधकर, आंखे करके लाल ।।

४२१. अनुज हृदय पर कर दिया, मानो वज्र-प्रहार ।
वह ऊषर भू में हुआ, वर्षा के अनुहार ।।

४२२. दिया दान बिन पात्र में, ज्यों होता बेकार ।
बहलीपति पर त्यों हुआ, चक्री मुष्टि-प्रहार ।।

४२३. अपनी मुट्ठी बाँधकर, तदनन्तर बहलीश ।
आये चक्री की तरफ, प्रकुपित विश्वावीस ।।

४२४. गज पर अंकुश की तरह, आंखे करके लाल ।
मारा मुक्का जोर से, छाती पर तत्काल ।।

४२५. गिरि पर वज्र-प्रहार की, भांति विशेष प्रहार ।
उससे मूर्च्छित हो गिरे,-चक्री कष्ट अपार ।।

४२६. ज्यों प्रचंड हिमपात से, कंपित होते गात ।
डोल उठी है त्यों धरा, विचलित गिरि साक्षात् ।।

४२७. मूर्च्छागत निज बन्धु को, बहलीनाथ निभाल ।
मन में चिन्तन कर रहे,-"युद्ध बड़ा विकराल ।।"

४२८. जिस रण में निज वन्धु की, ले ली जाती जान ।
वीर-व्रती की क्या यही, कहलाती है शान ।।

४२९. अगर नहीं जीवित रहे, भ्राता चक्री-राज ।
तो फिर मेरा व्यर्थ है, जीना जग में आज ।।

४३०. यों चिन्तन करते हुए, बाहुवली बलवान ।
स्वीय वस्त्र से बन्धु पर, करते हैं पवमान[1] ।।

४३१. देख न सकता वन्धु का, बन्धु कभी भी क्लेश ।
कठिन समय में बन्धु ही, देता साथ विशेष ।।

४३२. सोकर थोड़ी देर में, भरत नृपति तत्काल ।
मानो वे जागृत हुए, लिया होश संभाल ।।

४३३. खड़ा सामने बन्धु है, ज्यों कोई हो दास ।
तत्क्षण दोनों झुक गये, महापुरुष सोल्लास ।।

४३४. सदा सज्जनों के लिये, जीत-हार की वात ।
होती लज्जा-कारिणी, जग भर में विख्यात ।।

४३५. फिर चक्री पीछे हटे, तत्क्षण तव वहलीश ।
समझ गये इस चिन्ह से, रण-इच्छुक चक्रीश ।।

४३६. स्वाभिमान कव छोड़ते, आजीवन नर-शूर ।
चाहे कितना ही पड़े, सहना दुख भरपूर ।।

४३७. भाई की हत्या करूं, रण-थल में साक्षात् ।
तो मेरी होगी वहुत, वदनामी की वात ।।

४३८. ऐसा चिन्तन कर रहे, वाहुवली वलवान ।
इधर भरत ने है लिया, कर में दण्ड महान ।।

---

१. हवा

दण्ड युद्ध

४३९. शीघ्र घुमाया जोर से, चक्री ने वह दण्ड ।
वाहुवली के शीर्ष पर, हुआ प्रहार प्रचण्ड ।।

४४०. दण्ड-घात से मुकुट का, हुआ चूर्ण प्रतिकूल ।
रत्न, मुकुट के गिर पड़े, जैसे तरु से फूल ।।

४४१. वाहूवली की मिच गई, क्षण भर आंखे लाल ।
वैसे ही जन-व्यूह की, आँखो का था हाल ।।

४४२. शीघ्र वाहुवलि ने लिया, कर में आयस[1]-दण्ड ।
क्या उखाड़ देगा मुझे, भ्रमित हुआ भू-खण्ड ।।

४४३. उसे घुमाया जोर से, मानो विद्युत्पात ।
चक्री-छाती पर हुआ, सचमुच वज्राघात ।।

४४४. चक्री का दृढ़ कवच भी, पाकर दण्डाघात ।
मिट्टी के घट की तरह, चूर-चूर साक्षात् ।।

४४५. वुरी तरह घवरा गये, क्षण भर को भरतेश ।
सोच सके वे यह नहीं,-क्या करना है शेष ।।

४४६. जरा, देर के वाद ही, निज भुज-वल के जोर ।
दण्ड उठा कर वे चले, वाहुवली की ओर ।।

४४७. भृकुटि चढ़ा प्रकटित किया, अपना भीषण रूप ।
खूब घुमाया दण्ड को, अग्नि-चक्र अनुरूप ।।

४४८. प्रलय काल में मेघ ज्यों,-गिरि पर विद्युत्पात ।
वाहुवली-शिर पर किया, भीषण दंडाघात ।।

४४९. घुटनों तक भू में घुसे, वाहुवली भूपाल ।
आयस-ऐरन में यथा-वज्ररत्न सुविशाल ।।

४५०. मानो निज अपराध से, भीत भरत का दण्ड ।
कर प्रहार वहलीश पर, हुआ शीर्ण शत खण्ड ।।

---

१. लोह का दण्ड

४५१. तक्षशिलापति भूमि से,-निकले क्षण भर बाद ।
शुष्क नदी के कीच से, जैसे गज साल्हाद ।।

४५२. देख रहे भुज-दण्ड को, आंखे करके लाल ।
और हस्त-गत कर लिया, तत्क्षण दण्ड विशाल ।।

४५३. तक्षक[1] अहि के तुल्य है, जो दुष्प्रेक्ष्य महान ।
घुमा रहे बाहलीश अब, ऐसा दण्ड वितान ।।

४५४. उसे देखकर देव अरु, सन सेना के सब लोग ।
भ्रमित हुए मानो हुआ, आँखों में भ्रम रोग ।।

४५५. बहलीपति के हाथ से, गिरा हुआ यह दण्ड ।
रवि को कांसे की तरह, कर देगा शत खण्ड ।।

४५६. विधु को अण्डे की तरह, कर देगा यह नष्ट ।
दीमक थूभों की तरह, होंगे अद्रि विनष्ट ।।

४५७. पूरित शंका दृष्टि से, अवलोकित जो दण्ड ।
भरत भूप-शिर पर पड़ा, लेकर वेग प्रचण्ड ।।

४५८. "चक्री" कीले की तरह, पृथ्वी में तत्काल ।
आह ! गले तक घुस गये, हाहाकार विशाल ।।

४५९. पृथ्वी पर तत्क्षण गिरे, सैनिक दुखी विशेष ।
मानों स्वामी की तरह, बिल में करें प्रवेश ।।

४६०. गगन धरातल में हुआ, कोलाहल अत्यन्त ।
सुरगण नरगण कह रहे,-कब होगा रण-अन्त ।।?"

४६१. थोड़ी देर जमीन में, स्थिर रहकर चक्रीश ।
फिर निकले बाहर त्वरित, सूरज सम अवनीश ।।

४६२. चिंतित चक्री कर रहे, मन में पुनः विचार ।
सब युद्धों में ही हुई, आज हमारी हार ।।

४६३. जैसे धेनु न कर सके, निज पय का उपयोग ।
मेरे द्वारा विजित भू, करे बाहुबलि भोग ।।

---

१. आठ नागों में से एक जिसने परिक्षित को काटा था ।

४६४. एक म्यान में रह सके, कभी न दो तलवार ।
एक साथ होता नहीं, दो चक्री अवतार ॥

४६५. चक्रीश्वर को जीतना, क्या न असंभव बात ।?
होता सदा अजेय वह, जग-तल पर विख्यात ॥

चक्री-चक्र संचालन

४६६. निष्कंटक "चक्रीश" मैं, क्या न बनूंगा, हाय ।
क्या होगा चक्रीश यह, बाहुबली दृढ़काय ? ॥

४६७. चक्री चिन्तन कर रहे, तब सुर-रत्न[1] समान ।
यक्ष नृपति गण ने दिया, कर में चक्र महान ॥

४६८. उससे चक्री को हुआ, मन में दृढ़ विश्वास ।
"मैं हीं हूँ षट् खंड-पति, जग है मेरा दास ॥

४६९. लगे घुमाने चक्र को, नभ में चक्रीराट् ।
"ज्वालाओं के जाल से, है विकराल विराट् ॥

४७०. मानों वह हो दूसरा, वडवानल समकक्ष ।
या मानो गिरता हुआ, सूर्य बिम्ब प्रत्यक्ष ॥

४७१. चक्र देखकर कर रहे, बहली नाथ विचार ।
आर्षभ[2] होकर भरत ने, किया घृणित व्यवहार ॥

४७२. मैंने दण्डायुध लिया, उसने कर में चक्र ।
यह तो नीति विरुद्ध है, किया काम यह वक्र ॥

४७३. की थी उत्तम युद्ध की, जो कि प्रतिज्ञा-सार ।
उसको तोड़ा है त्वरित, कर ऐसा व्यवहार ॥

४७४. चक्र बताकर है किया, जैसे जग को भीत ।
चाह रहा करना मुझे, वैसे ही भयभीत ॥

४७५. किन्तु हुआ भुज दण्ड के-, बल का जैसे ज्ञान ।
हो जाएगा चक्र का, वैसे ही विज्ञान ॥

---

१. चिन्तामणि रत्न २. ऋषभ पुत्र

४७६. बाहुबली जब कर रहे, ऐसा चिन्तन सार ।
चक्र चलाया भरत ने, उन पर क्रोध अपार ।।

४७७. आते देखा चक्र को, जब अपनी ही ओर ।
तक्षशिला-पति ने किया, अपने मन में गौर ।।

४७८. "जीर्ण पात्र की भांति मैं, इसका चूर्ण नितान्त ।
कर डालूं क्षण एक में, हो जाये सब शान्त ।।

४७९. अथवा पहले मैं करूं, इसके बल का ज्ञान ।
पीछे करना क्या मुझे, सोचूंगा दे ध्यान ।।

४८०. इतने में तब चक्र ने, बहलीपति के पास ।
आकर, तीन प्रदक्षिणा, दी यह विनय-प्रकाश ।।

४८१. कारण, चक्र न कर सके, निज गोत्री पर घात ।
चरम-शरीरी अनुज पर, वृथा असर की बात ।।

४८२. जैसे हय घुड़साल में, आता है साक्षात् ।
वैसे वापिस आ गया, चक्र भरत के हाथ ।।

४८३. एक चक्र ही अस्त्र था, जो अमोघ[1] असमान ।
है न भरत के पास अब, और अस्त्र बलवान ।।

४८४. चक्र चलाकर है किया, चक्री ने अन्याय ।
इन्हें दण्ड दूं मैं अभी, अब होगा यह न्याय ।।

४८५. भरत भूप औ चक्र पर, करके मुष्टि-प्रहार ।
शीघ्र कुचल डालूं इन्हें, यही सही प्रतिकार ।।

४८६. मुट्ठी ऊंची शीघ्र कर, क्रुद्ध सुनंदा[2]-पूत ।
दौड़े चक्री की तरफ, मानों हैं यमदूत ।।

४८७. पहुंचे हैं वे दौड़ते, जब चक्री के पास ।
लगे सोचने दूर से, होकर तनिक उदास ।।

---

१. अचूक २. बाहुबलि

वाहुबली का ऊर्ध्व चिन्तन

४८८. "अहो ! आज मैं भी हुआ, लोभी वन्धु-समान ।
राज्य-अर्थ[1] मैं ले रहा, भाई के भी प्राण ॥

४८९. अरे ! शिकारी से अधिक, मैं पापी प्रत्यक्ष ।
निर्दयता का काम यह, बतलाते नर दक्ष ॥

४९०. जिसमें अपने स्वजन का, करना पड़े विघात ।
ऐसे दुःखद राज्य की, कौन करे फिर वात ॥

४९१. ज्यों मद्यप[2] नर मद्य से, होता कभी न तुष्ट ।
त्यों नृप अपने राज्य से, हो न कभी संतुष्ट ॥

४९२. नश्वर है यह राज्य श्री, तमोमयी साक्षात् ।
तभी इसे तजकर हुए, दीक्षित मेरे तात ॥

४९३. उन्हीं पिता का पुत्र मैं, वहुत समय के वाद ।
समझा नरग-निगोद का,-कारक 'राज्योन्माद' ॥

४९४. कौन दूसरा विश्व में, जान सके यह वात ।
अन्तर-दृष्टि विना नहीं, मिले ज्ञान अवदात ॥

४९५. धन-वैभव सव संपदा, है परित्याज्य नितान्त ।
यों विचार करके हुए, वाहुवली उपशान्त ॥

४९६. तत्क्षण वोले भरत से, हे भाई ! सहजात ।
क्षमा कीजिए आप हो, क्षमा-सिन्धु साक्षात् ॥

४९७. क्षणिक-राज्य का लोभ है, दुःख-प्रदायक स्पष्ट ।
मैंने वैरी की तरह, दिये आपको कष्ट ॥

४९८. भ्राता पुत्र कलत्र के, हैं सम्वन्ध अनित्य ।
इस आसार संसार में, एक धर्म है नित्य ॥

४९९. ऋषभनाथ जग-तात हैं, दिखलाते शिव-राह ।
उनके पथ का पथिक मैं, वनूं यही अव चाह ॥

---

१. राज्य के लिए २. शराब पीने वाला

बाहुबली दीक्षा

५००. यों कह कर बहलीश ने, मुट्ठी से तत्काल ।
किया केश लुञ्चन तदा, भोग-विराग विशाल ।।

५०१. फूलों की वर्षा हुई, नभ में जयजय-कार ।
"साधु । साधु!" कह कर,किया, सुरगण ने सत्कार ।।

५०२. पांच महाव्रत समिति-धर, मुनिवर बने महान ।
आत्म-ध्यान में स्थित हुए, दिया अभय का दान ।।

५०३. मैं तो जाऊंगा नहीं, अभी तात के पास ।
दीक्षा-गुरु लघु बन्धुओं-, को वन्दन परिहास ।।

५०४. माना जाऊंगा अभी, मैं सब से लघु संत ।
अतः जलाऊंगा यहीं, ज्ञान-दीप द्युतिमंत ।।

५०५. घाती-कर्म विनष्ट कर, पाऊंगा जब ज्ञान ।
तब देखूंगा तात का, पावन पार्षद-स्थान ।।

५०६. ऐसा निश्चय कर वहीं, लम्बे कर निज हाथ ।
ध्यान-लीन होकर खड़े, प्रतिमावत् साक्षात् ।।

भरत का पश्चात्ताप

५०७. देख युद्ध-रत बन्धु को, संयम-रत निष्पाप ।
निज कृत्यों पर कर रहे, चक्री पश्चात्ताप ।।

५०८. लज्जित होकर हो गये, वहीं खडे नतशीस ।
मानो घुसना भूमि में-, चाह रहे चक्रीश ।।

५०९. शीघ्र किया वर बन्धु को, श्रद्धा सहित प्रमाण ।
मानो स्थित है शान्त रस, मूर्तिमान अभिराम ।।

५१०. गुण-स्तवना, प्रमुदित-मना,—मुनि की की निर्व्याज ।
निज निन्दा फिर कर रहे, चक्रीश्वर नर-ताज ।।

५११. हे बान्धव ! मुनिवर ! तुम्हे, धन्यवाद शतवार ।
मुझ पर करुणा कर, किया-,सकल-राज्य-परिहार ।।

५१२. मैं पापी हूं और हूं, दुर्मद, ममताधीन ।
कष्ट दिये मैंने तुम्हें, होकर लोभ-अधीन ।।

५१३. जो न समझते राज्य को, भव-तरुवर का मूल ।
अधम पुरुष वे हैं सही, पाते दुख के शूल ।।

५१४. पर, उन से भी हूं अधिक, जग में अधम महान ।
कारण, राज्य न छोड़ता, दुख-प्रद उसको जान ।।

५१५. हे भाई ! तुम तात के,-सच्चे सुत सुविनीत ।
क्योंकि किया स्वीकार है, उनका मार्ग पुनीत ।।

५१६. यदि मैं भी आदीश का. मार्ग करूं स्वीकार ।
कहलाऊं फिर तात का, सच्चा पुत्र उदार ।।

५१७. पावन पश्चात्ताप के-,पानी से प्रत्यक्ष ।
धो विषाद-कीचड़ त्वरित, शुद्ध हुए नृप-दक्ष ।।

५१८. बाहुबली का पुत्र था, चन्द्रयशा अभिधान ।
उसे दिया है भरत ने, बहली-राज्य महान ।।

५१९. चन्द्र-यशा से ही हुआ, चन्द्र-वंश अभिजात ।
उसकी शाखाएं बहुत, विस्तृत हैं विख्यात ।।

५२०. बाहुबली मुनि-ताज को, वन्दन कर शतवार ।
पुरी अयोध्या में गये, चक्री सह-परिवार ।।

५२१. वहां अकेले ही रहे, बाहुबली भगवान ।
आत्म-लीन समता-धनी करते हैं ध्रुव-ध्यान ।।

५२२. आंखे स्थिर थी नक के, अग्र-भाग के स्थान ।
सुस्थिर हो कर थे खड़े, मानो स्तम्भ महान ।।

५२३. सहते थे वे आंधियां, कानन-वृक्ष समान ।
फेंक रही थीं धूल जो, वायुवाह[1] उपमान ।।

---

१. धुआं

५२४. तपता उनके शीश पर, दिनकर तेज प्रचण्ड ।
फिर भी रहता था सदा, उनका ध्यान अखण्ड ।।

५२५. जिस सर्दी से वृक्ष भी, जल जाते तत्काल ।
उस सर्दी में भी रहे, ध्यान-मग्न जगपाल ।।

५२६. एक वर्ष तक वे रहे, आत्म-ध्यान में लीन ।
निराहार निर्जल रहे, फिर भी वृत्ति अदीन ।।

बाहुबलि को प्रतिबोध

५२७. निष्कारण-तारण-तरण, आदिनाथ जग-तात ।
बोले ब्राह्मी सुन्दरी !, सुनो एक हित-बात ।।

५२८. बाहुबली मुनि इस समय, कर कर्मों को क्षीण ।
सित[1] चौदस की निशि सदृश, हैं वे तिमिर-विहीन ।।

५२९. अब भी कुछ अवशेष है, अंश-रूप अभिमान ।
इसीलिए ही हो रहा, बाधित केवल ज्ञान ।।

५३०. अब तुम दोनों के वचन, सुनकर निज अभिमान ।
शीघ्र छोड़ देगा अतः, करो वहां प्रस्थान ।।

५३१. उचित समय पर जो दिया, जाता है उपदेश ।
उसके अमिट प्रभाव से, मिट जाते सब क्लेश ।।

५३२. प्रभु-आज्ञा शिर पर चढ़ा, कर वन्दन गुण-गान ।
शीघ्र वहां से है किया, दोनों ने प्रस्थान ।।

५३३. बहलीपति के मान का, पहले ही था ज्ञान ।
फिर क्यों इतने दिन रहे, उदासीन भगवान ? ।।

५३४. होता अर्हत् देव का, लक्ष्य अमूढ़ महान ।
अतः समय पर ही प्रभु, देते शिक्षा-दान ।।

५३५. आर्या ब्राह्मी-सुन्दरी, गई वहां तत्काल ।
धूली-छादित रत्न-सम, उन्हें न सकी निभाल ।।

---

१. शुक्लपक्ष

५३६. विविध लताओं से घिरे, बाहुबली भगवान ।
नहीं दिखाई थे पड़े, ज्यों घन में भास्वान ।।

५३७. बहुत ढूंढने पर हुए, दृग् गोचर मुनिराज ।
तरुवत् दिखलाई दिये, ध्यान-लीन निर्व्याज ।।

५३८. मुश्किल से पहचान कर, वन्दन कर सह-भक्ति ।
आर्याएँ यों कर रहीं, भावों की अभिव्यक्ति ।।

५३९. मुनि-सत्तम[1] ! भगवान का. है यह शुभ संदेश ।
उसे ध्यान देकर सुनें, होगा लाभ विशेष ।।

गजारूढ़ बाहुबलि

५४०. "हाथी पर आरूढ़ को, मिले न केवल ज्ञान ।"
बस इतना कहकर गईं, वे वापिस निज स्थान ।।

५४१. इस वाणी को श्रवण कर, अचरज हुआ महान ।
मन में चिन्तन कर रहे, बाहुबली भगवान ।।

५४२. "मैंने सब सावद्य का, त्याग किया सुख-खान ।
मैं कानन में हूं खड़ा, करके अविचल ध्यान ।।

५४३. फिर कैसी मेरे लिए, गजारूढ़ की बात ।
मैं मुनि पैरों पर खड़ा, रहता हूं दिन-रात ।।

५४४. ये दोनों हैं साध्वियां, मम भगिनी अभिजात ।
ऋषभनाथ भगवान की, शिष्याएं अवदात ।।

५४५. मिथ्या-भाषण ये नहीं, कर सकती त्रिककाल ।
तब इसका क्या अर्थ है, सोचूं बुद्धि विशाल ।।

५४६. ओह ! कथन गम्भीर को, अब समझा मैं मूढ़ ।
अहंकार गज-पीठ पर, था सचमुच आरूढ़ ।।

५४७. "कैसे मैं वन्दन करूं, जो हैं छोटे भ्रात ।"
किन्तु न सोचा "हैं बड़े, दीक्षा में साक्षात् ।।"

---

१. सर्वश्रेष्ठ

५४८. यह मेरा अभिमान ही, कहलाया गजरूप ।
मैं उस पर आरूढ़ हूँ, भगिनी-वचन अनूप ।।

५४९. तीन लोक के नाथ की, सेवा की चिरकाल ।
मुझे हुआ फिर भी नहीं, ज्ञान, विवेक विशाल ।।

५५०. दीक्षा में जो वृद्ध हैं, निःस्पृह बन्धु उदास ।
"ये छोटे हैं"—सोचकर, गया न उनके पास ।।

बाहुबलि को केवल-ज्ञान

५५१. वन्दन करने की हुई, कभी न इच्छा पूत ।
अब जाकर वन्दन करूं, है प्रशस्त आकूत ।।

५५२. कदम उठाया है त्वरित, तजकर मन अभिमान ।
बाहुबली मुनि को हुआ, तत्क्षण केवल-ज्ञान ।।

५५३. वन्दन करने के लिए, ऋषभनाथ प्रभु पास ।
बाहुबली मुनिवर गये, मन में हर्षोल्लास ।।

५५४. तीर्थंकर भगवान को, वन्दन कर नत-शीश ।
हुए विराजित केवली, पर्षद् में जगदीश ।।

गीतिका छन्द

५५५. बाहुबलि औ भरत का यह, युद्ध चित्र विचित्र है ।
उर्ध्वचिंतन बाहुबलि का, औ चरित्र पवित्र है ।।

ध्यान-योगी ने किया अब संप्राप्त केवल-ज्ञान है ।
सर्ग पञ्चम में हुआ, चिरमान का अवसान है ।।

भगवान ऋषभनाथ का वृत्तान्त

त्रिदंडी (परिव्राजक) साधुओं की उत्पत्ति

१. ऋषभनाथ भगवान का, शिष्य एक सुविनीत ।
भरत भूप का पुत्र था, नाम मरीचि पुनीत ।।

२. वेत्ता ग्यारह अंग का, साधु गुणों से युक्त ।
करता था वह साधना, संयम की उपयुक्त ।।

३. जैसे रहता है कलभ[1], हस्तिनाथ के संग ।
वैसे प्रभु के साथ वह, रहता नित निःसंग ।।

४. ग्रीष्मकाल में कर रहा, प्रभु के साथ विहार ।
एक दिवस मध्यान्ह में, सूरज ताप अपार ।।

५. रवि-करणों से तप्त था, भूतल अग्नि समान ।
मानो भीषण अग्नि का,-था वह दुःसह स्थान ।।

६. स्वेद कणों से भर गया, उसका सारा गात ।
भीग गये हैं वस्त्र ज्यों, आने से बरसात ।।

७. उसके तन के मैल से, प्रकट हुई दुर्गन्ध ।
पैर रेत में जल रहे, शिर-पर ताप अमन्द ।।

८. घबराया तब प्यास के, मारे वह अत्यन्त ।
व्याकुल होकर सोचने, लगा चित्त में संत ।।

९. ऋषभनाथ भगवान का-मैं पोता कुलवान ।
और भरत चक्रीश का,-सुत, कुल-दीप-समान ।।

१०. सकल संघ के सामने, ऋषभनाथ प्रभु पास ।
मैंने की दीक्षा ग्रहण, तजकर भोग-विलास ।।

---

१. हाथी का बच्चा

११. शूर वीर नर के लिए, जैसे तज संग्राम ।
कायर होकर भागना, उचित नहीं है काम ।।

१२. वैसे ही मेरे लिए, है लज्जा की बात ।
तजकर संयम-साधना, घर जाना साक्षात् ।।

१३. पर, है पर्वत की तरह, दुर्वह संयम-भार ।
उसे उठाने के लिए, मैं हूँ हिम्मत-हार ।।

१४. व्रत पालन अति कठिन है, पर जाऊं यदि गेह ।
तो मेरा वर कुल मलिन, होगा निःसन्देह ।।

१५. 'एक तरफ तो है नदी, सिंह दूसरी ओर ।'
इसी न्याय में मैं पड़ा,–दोनों कार्य कठोर ।।

१६. गिरि पर चढ़ने के लिए, पगडंडी की भाँति ।
एक सुगम भी मार्ग है, जहाँ मिले विश्रान्ति ।।

१७. मन, वाणी औ काय ये, तीन दंड प्रख्यात ।
इन तीनों को जीतते, ये मुनिगण साक्षात् ।।

१८. मैं तो इनके योग से, दंडित हूँ अत्यन्त ।
बन जाऊंगा इसलिए, शीघ्र त्रिदंडी संत ।।

१९. विजितेन्द्रिय हैं श्रमण ये, करते सिर का लोच ।
मुण्डित होकर ये स्वयं, रहते निःसंकोच ।।

२०. किन्तु कराऊंगा स्वयं, मैं मुण्डन साक्षात् ।
और रखूँगा शीर्ष पर, एक शिखा विख्यात ।।

२१. करते संत न सर्वथा, पर-प्राणों का घात ।
मैं न करूंगा स्थूल वध, यह अणुव्रत अवदात ।।

२२. रहते हैं नित संत ये, निष्कंचन निर्मोह ।
छोड़ न सकता मैं कभी, स्वर्णादिक का मोह ।।

२३. इन संतों ने है किया, पाद–त्राण परिहार ।
और रखूँगा पैर में, मैं जूते सुखकार ।।

२४. निर्मोही हैं ये श्रमण, मैं हूँ मोहासक्त ।
अतः रखूंगा सीस पर, एक छत्र अभिव्यक्त ॥

२५. निष्कषाय ये संत हैं, रखते कपड़े श्वेत ।
मैं सकषायी गेरूआं, पहनूं; यह अभिप्रेत[1] ॥

२६. पाप-भीरु हैं संत ये, पीते उदक अचित्त ।
स्नान-पान के काम में, लूंगा उदक सचित्त ॥

२७. ऐसा अपनी बुद्धि से, कल्पित कर निज वेष ।
करने लगा विहार वह, प्रभु के सह प्रतिदेश ॥

२८. घोड़ा या गर्दभ नहीं, जैसे खच्चर जीव ।
वैसे मुनि न गृहस्थ है, अभी मरीचि अजीव[2] ॥

२९. चित्र वेषधर देखकर, संतों में, तब लोग ।
कौतुक से वे पूछते, उससे धर्म निरोग ॥

३०. उत्तर देता ऋजुमना, वह तज कपट विशेष ।
साधु-धर्म का ही सदा, देता था उपदेश ॥

३१. "क्यों चलते हो तुम नहीं, इस मत के अनुसार ?
हूँ अशक्त इसके लिये, देता उत्तर सार ॥"

३२. कोई दीक्षा के लिये, करता भाव प्रकाश ।
उसे भेज देता तुरत, ऋषभनाथ प्रभु पास ॥

३३. उससे पाकर बोध जो,—आता प्रभु के पास ।
प्रभु देते दीक्षा उसे, करने आत्म-विकास ॥

३४. यों विहार करते हुए, ऋषभनाथ प्रभु साथ ।
हो ही गया मरीचि का, घोर रोगमय गात ॥

३५. यूथ[3] भ्रष्ट कपि की तरह, संतों ने उसवार ।
व्रत से भ्रष्ट मरीचि का, किया नहीं उपचार ॥

३६. जैसे रक्षक के विना, रहता खेत न स्वस्थ ।
वैसे विन उपचार के, मरीचि संकट-ग्रस्त ॥

---

१. स्वीकार किया हुआ, २. अनोखा
३. सजातीय जीवों का समूह

३७. घोर रोग में ग्रस्त वह, करने लगा विचार ।
इस भव में मेरा हुआ, पापोदय साकार ॥

३८. पर-वत् अपने साधु भी, उदासीन इस वार ।
करते हैं सेवा नहीं,–मेरी ये अनगार ॥

३९. देख न सकता दिवस में, यदि उल्लू साक्षात् ।
इसमें दोष न सूर्य का, वह तो है अवदात ॥

४० वैसे मेरे विषय में, रखते प्रीति न सत ।
तो इनका क्या दोष है, ये उज्ज्वल अत्यन्त ॥

४१. जैसे उत्तम कुल के मानव, म्लेच्छों की सेवा न करें ।
वैसे मुझ अविरति की सेवा, कैसे त्यागी संत करें,
और कराना सेवा उनसे, मेरे हित में उचित नहीं ।
यदि उनसे सेवा लूं, होगी, पापकर्म की वृद्धि सही ॥

४४. अब तो अपनी सेवा के हित, अन्य पुरुष की करूं तलाश ।
जो अपने ही सदृश धर्म का पालन करता हो सोल्लास ॥
क्योंकि हरिण के साथ हरिण का, हो सकता है मेल नितान्त ।
यों मरीचि करता है चिन्तन, सहयोगी विषयक एकान्त ॥

४५. अब मरीचि ने है किया, विविध उचित उपचार ।
कालान्तर में वह हुआ, रोग-मुक्त साकार ॥

राजकुमार कपिल का परिव्राजक होना

४४. दे रहे थे देशना भव–नाशना प्रभु एकदा ।
दूर भव्य, अभव्य साथी वहां आया है तदा ॥
कपिल था अभिधान उसका जो कि राजकुमार था ।
धर्म उसने सुना प्रभु से, जो अमृत अनुहार था ॥

४५. किन्तु उसको तो लगा वह, ताप में पकवान ज्यों ।
घूक को दिन और अज[1] को मेघ का आगमन ज्यों ॥
धर्म अन्य प्रकार का ही, मैं सुनूंगा अब कहीं ।
कर रहा है कपिल अपने चित्त में चिंतन यही ॥

---

१. बकरा

४६. ऋषभ प्रभु के शिष्य-गण में एक अद्भुत वेषधर ।
वह मरीचि त्रिदंडधारी उसे आया है नजर ।।
कपिल प्रभु के पास से, उठकर गया उसके निकट ।
धर्म का पथ पूछता है वह त्रिदंडी से प्रकट ।।

४७. "धर्म न मेरे पास है, जाओ प्रभु के पास ।
वहां मिलेगा धर्म का, तुमको श्रेष्ठ प्रकाश ।।"

४८. सुनकर बात मरीचि की, फिर आया प्रभु पास ।
पहिले की ज्यों सुन रहा, धर्म नाथ-संकाश[1] ।।

४९. चिन्तन किया मरीचि ने, कपिल गमन के बाद ।
अहो ! कर्म के दोष से, दूषित यह अविवाद ।।

५०. स्वामी के भी धर्म से, हुआ न यह सन्तुष्ट ।
चातक होता है नहीं, सर के जल से तुष्ट ।।

५१. फिर बोला है कपिल यों, आ मरीचि आवास ।
ऐसा-वैसा धर्म भी, क्या न तुम्हारे पास ।।

५२. अगर नहीं है धर्म तो, कैसे हो व्रत-सार ।
सुन यह बात मरीचि फिर करने लगा विचार ।।

५३. बहुत दिनों के बाद अब, बिना किए उद्योग ।
मेरे जैसा ही मुझे, मिला दैव-संयोग ।।

५४. "मुझ असहायक का अतः, हो यह सहायकार ।"
यों चिन्तन कर कर रहा, अपने प्रकट विचार ।।

५५. यहां वहां दोनों जगह, विद्यमान है धर्म ।
इस दुर्भाषण से किये, उसने संचित कर्म[2] ।।

५६. फिर मरीचि ने कपिल को, देकर दीक्षा-दान ।
अपना सहयोगी किया, मन में हर्ष महान ।।

५७. परिव्राजकपन यह हुआ, तब से ही प्रारम्भ ।
चला साधु के वेष में, जगती-तल में दम्भ ।।

---

१. प्रभु के पास
२. कोट्यानुकोटि सागरोपम प्रमाण का संसार बढ़ाया

५८. ग्राम नगर पुर द्रोणमुख[1], मण्डप में भगवान ।
करते उग्र विहार थे, सहकर कष्ट महान ॥

'तीर्थंकरों के कुछ अतिशय'[2]

५९. तीर्थंकर प्रभु के अतिशय से, अपने चारों दिग् की ओर ।
सतत सवा सौ योजन तक, हो जाती दूर व्याधियां घोर ॥
टिड्डी, चूहे आदि प्राणियों के संकट पाते अवसान ।
शाश्वत वैरी वैर भूलकर, बन जाते थे मित्र समान ॥

६०. करते वे आनन्दित सबको, विचरण की चर्या द्वारा ।
अनावृष्टि अतिवृष्टि न होती, प्रभु का पुण्योदय सारा ॥
स्व-पर, चक्र की भीति वहां पर, कभी नहीं रहने पाती ।
और घोर दुर्भिक्ष न होता, सबकी रक्षा हो जाती ॥

६१. भा-मण्डल रवि-मण्डल को भी, अहो ! जीतने वाला था ।
गगनांगण में धर्म-चक्र का, अहो ! उजाला आला था ॥
धर्म-ध्वज लगता था उनके, आगे जय के स्तम्भ समान ।
दिव्य देव–दुन्दुभि बजता था, करता था जो शब्द महान् ॥

६२. नभ में स्फटिक[3]-रत्न सिंहासन, शुचितम पाद-पीठ समुपेत ।
चरण-न्यास करते थे, स्वर्णिम, कमलों पर ज्यों हंस सफेद ॥
नीचे मुख वाले हो जाते, तीखे कांटे भी तत्काल ।
उनकी षट् ऋतुएँ समुपासन, करती थीं वे सब सम काल ॥

---

१. चार सौ ग्रामों के बीच का प्रधान ग्राम

२. (१) तीर्थंकर जिस स्थान पर होते है—उसके चारों तरफ सौ योजन तक रोग नहीं होते (२) प्राणियों के आपसी वैर का नाश होता है (३) धान्यादि खाने की चीजें नाश करने वाले जन्तु नहीं होते, (४) मरी वगैरा रोग नहीं होते, (५) अतिवृष्टि नहीं होती, (६) अनावृष्टि नहीं होती, (७) दुष्काल नहीं पड़ता, (८) स्वचक्र या पर चक्र का भय नहीं रहता, (९) और प्रभु के पीछे भामण्डल रहता है । ये प्रभु को केवल ज्ञान होने के बाद, उत्पन्न होने वाले अतिशयों में के देवकृत अतिशय है ।

३. पादपीठ सहित एक रत्न सिंहासन

६३. नीचे झुकते हुए वृक्ष सब, मानों करते भक्ति प्रणाम ।
शीतल औ अनुकुल पवन नित, सेवा करता था अविराम ।।
पक्षी देकर प्रदक्षिणा नित, जाते उनकी दांई ओर ।
कम से कम वे कोटि संख्य सुर, परिकर से शोभित सब ठौर ।।

६४. गगनाङ्गण में स्थित छत्र-त्रय, से वे शोभा पाते थे ।
और श्वेत चामर भी उनपर, डुलते नयन लुभाते थे ।।
सौम्य साधुओं से थे शोभित, जैसे उडुगण से उडुनाथ ।
देते थे प्रतिबोध सभी को, जैसे कमलों को दिननाथ ।।

भगवान का अष्टापद गिरि पर आगमन

६५. इस प्रकार तारण-तरण, ऋषभनाथ भगवान ।
अष्टापद पर्वत निकट, आये कृपा-निधान ।।

६६. ऐसा लगता अद्रि वह, पाकर सितता योग ।
मानों शारद मेघ का, है एकत्र सुयोग ।।

६७. उस गिरि पर करते कहीं, हंस मधुर-तम नाद ।
केका करते हैं शिखी[२], लिए हर्ष उन्माद ।।

६८. कल-रव करते शुक कहीं, कहीं क्रौंच कंकार ।
पचम स्वर आलापती, कोकिल कहीं उदार ।।

६९. ऊंचाई उस अद्रि की, योजन आठ प्रमाण ।
होता था अवगत अतः, ऊंचा गगन समान ।।

७०. उस अष्टापद अद्रि पर, तीन भुवन के तात ।
ऋषभनाथ जिनवर हुए, समारुढ साक्षात् ।।

७१. प्रमदित कोकिल आदि के, श्रुति-प्रिय-रव के व्याज ।
मानो वह गिरि गा रहा, प्रभु के गुण निर्व्याज ।।

---

२. मोर की आवाज

समवसरण की रचना

७२. गिरि पर पवन कुमार ने, योजन एक प्रमाण ।
तृण काष्ठादिक दूर कर, साफ किया है स्थान ।।

७३. सुर वर मेघकुमार ने, घन का कर निर्माण ।
सुरभित जल से है किया, मृदु छिड़काव महान ।।

७४. कांचन रत्नों की वहां, जड़कर शिला विशाल ।
बना दिया वह भूमि-तल, दर्पण-तल तत्काल ।।

७५. पांच वर्ण के पुष्प की, घुटनों तक बरसात ।
व्यंतर देवों ने वहां, गिरि पर की साक्षात् ।।

७६. तोरण बांधे हैं गये, चारों दिग् में रम्य ।
स्तम्भों पर भी बद्ध हैं,–वन्दनवार सुरम्य ।।

७७. मध्य-भाग में हैं वहां, चार छत्र रमणीय ।
ध्वजा पताकाएँ जहां, फहरातों कमनीय ।।

७८. रम्य तोरणों के अधः, मुक्ता स्वस्तिक कान्त ।
देख-देख दर्शक सभी, पाते शान्ति नितान्त ।।

७९. "स्वस्तिक करता चित्रलिपि-का अमयों निर्माण ।
सकल विश्व का है यहाँ निश्चित ही कल्याण ।।"

८०. वैमानिक सुर ने रचा, रत्नों का गढ़ एक ।
उस पर था माणिक्य के, शिखरों का अतिरेक ।।

८१. मध्यम गढ़ है स्वर्ण का, ज्योतिष सुर कृतिकार ।
कंगूरे हैं रत्न के, दर्शनीय सुखकार ।।

८२. चाँदी का गढ़ तीसरा, निर्माता भवनेश ।
कंगूरे हैं स्वर्ण के, मनहर रम्य विशेष ।।

८३. चार चार प्रत्येक गढ़-, के दरवाजे सार ।
वर्क्षों ने निर्मित किये, दर्शनीय आकार ।।

८४. हर दरवाजे पर वहां, धूप दान थे पूत ।
व्यंतर देवों ने रखी, जिनमें सुरभि प्रभूत ।।

८५. मध्यम गढ़ की जो दिशा, है उत्तम ईशान ।
प्रभुवर के विश्राम हित, देव-छंद निर्माण ।।

८६. समवसरण के बीच में, चैत्य वृक्ष निर्दोष ।
व्यंतर देवों ने रचा, ऊंचा जो त्रय कोस ।।

८७. उसके नीचे रत्न मय, एक पीठ निर्माण ।
उस पर फिर निर्मित किया, रत्न-छन्द द्युतिमान ।।

८८. उसके मध्य विभाग में, पूर्व दिशा की ओर ।
सिंहासन[1] निर्मित किया, सुर ने हर्ष-विभोर ।।

८९. उस सिंहासन पर वहां, तीन बनाए छत्र ।
समवसरण की यों हुई, क्षण में रचना तंत्र ।।

९०. पूर्व द्वार से है किया, प्रभु ने वहां प्रवेश ।
भव्य जनों को देशना, देंगे देव जिनेश ।।

९१. प्राची से आकर किया, प्रथम 'नमः सिद्धाय'[2] ।
सिंहासन पर स्थित हुए, आदिनाथ अकषाय ।।

९२. शेष तीन दिग् भाग में, प्रभुवर के त्रिक रूप ।
व्यंतर देवों ने किया, निर्मित उन्हें अनूप ।।

९३. फिर वैमानिक देवियां, साध्वी-साधु-निकाय ।
पूर्व द्वार से वे हुए, हैं प्रविष्ट नतकाय ।।

९४. पूर्व और दक्षिण दिशा-, का जो मध्य विभाग ।
पहले गढ़ में स्थित हुए, साधु-संघ वेदाग ।।

९५. उनकी पिछली तरफ में, खड़ी रही कर जोड़ ।
वर वैमानिक देवियां, फिर श्रमणी बेजोड़ ।।

---

१. पादपीठ सहित एक रत्न सिंहासन
२. मूल कृति में अशोक वृक्ष की प्रभु ने प्रदक्षिणा दी और नमस्तीर्थाय कहा है।

९६. भुवनाधिप औ ज्योतिषी, व्यन्तर-नारी-संघ ।
दक्षिण दिग् के द्वार से, हो प्रविष्ट नत-अंग ।।

९७. बैठी हैं नैर्ऋत्य में, करने प्रभु की सेव ।
बैठे हैं वायव्य में, तीन जाति के देव ।।

९८. समवसरण में इस तरह, सुस्थित हैं भगवान ।
परिषद् बारह तरह की, बैठी तज अभिमान ।।

९९. नभ-तल को ढकता हुआ, निज विमान के योग ।
उत्तर दिग् के द्वार से, आया इन्द्र-सुयोग ।।

१००. देकर तीन प्रदक्षिणा, स्वामी को विधि-युक्त ।
हार्दिक स्तुति करने लगा, वह श्रद्धा संयुक्त ।।

इन्द्र द्वारा प्रभु की स्तुति

१०१. हे प्रभुवर ! हैं आपके, गुण अनन्त अविकार ।
उत्तम योगी भी नहीं,- उनका पाता पार ।।

१०२. फिर भी सद्गुण आपके-, गाऊंगा सह-भक्ति ।
पथ पर चल सकता नहीं, क्या लँगडाता व्यक्ति ?।।

१०३. करते आप विहार हैं, करने पर कल्याण ।
जग में होता है उदय, पर के हित भास्वान ।।

१०४. होता है दोपहर में, तन-छाया का ह्रास ।
होता प्रभु के उदय से, जग-कर्मो का नाश ।।

१०५. करते दर्शन आपके, वे पशु भी हैं धन्य ।
बिना आपके दर्श के, होते देव जघन्य ।।

१०६. जिनके मन में हे प्रभो !, सदा विराजित आप ।
सबसे हैं उत्कृष्ट वे, भव्य जीव निष्पाप ।।

१०७. प्रभो ! आपसे एक ही, मेरी विनति महान ।
मेरे हृत्-तल का प्रभो !, त्यागें कभी न स्थान ।।

१०८. प्रभु-की स्तुति कर इस तरह, कर सह-भक्ति प्रणाम ।
वैठा है ईशान में, सुरपति श्रद्धा-धाम ।।

प्रभु दर्शनाभिलाषी चक्री का आगमन

१०९. शैल रक्षकों ने कहा, जाकर चक्री-पास ।
"शुभागमन प्रभु का हुआ, पर्वत पर सोल्लास ।।"

११०. प्रभु का आगम श्रवण कर, चक्री ने तत्काल ।
साढ़े बारह कोटि का, सोना दिया विशाल ।।

१११. सिंहासन से झट उठे, अष्टापद की ओर ।
सात-आठ पग चल किया, वंदन हर्ष-विभोर ।।

११२. प्रभु वंदन हित जब दिया, चक्री ने आदेश ।
सभी सैनिकों को मिला, मानों हर्ष विशेष ।।

११३. चक्री आज्ञा श्रवण कर, तत्क्षण भूमीपाल ।
पुरी अयोध्या में हुए, एकत्रित समकाल ।।

११४. हिन-हिनाते अश्व भी, है गतिमय तैयार ।
मानों कहते हैं- "चलो, होकर शीघ्र सवार ।।"

११५. रथी और पैदल सभी,-लोग चले सह-हर्ष ।
उत्कंठित हैं वे सभी, पाने प्रभु के दर्श ।।

११६. अष्टापद के मार्ग में, नहीं समाते लोग ।
अहमहमिकया[1] यह लगी, कब हो दर्शन-योग ।।

११७. स्नानादिक कर भरत नृप, गज पर हुए सवार ।
अष्टापद-गिरि पर गये, लिए सकल परिवार ।।

११८. हाथी से झट उतर कर, गिरि पर चढ़े नरेश ।
समवसरण में है किया, उत्तर द्वार प्रवेश ।।

---

१. होडाहोड़

११९. शान्ति-शुभांकुर के लिये,- जो हैं मेघ समान ।
हुए नयनगामी वहां, ऋषभनाथ भगवान ।।

१२०. देकर तीन प्रदक्षिणा, कर प्रणाम निष्काम ।
मस्तक पर रख अंजली, करते स्तवन प्रकाम ।।

भरत-कृत प्रभु की स्तुति

१२१. प्रभुवर ! हैं मेरे लिये, करना तव स्तुति-गान ।
मानो घट से उदधि-जल, पीने का अभियान ।।

१२२. फिर भी प्रभुवर ! आपका, स्तवन करूंगा अद्य ।
क्योंकि भक्ति-वश हो गया, अंकुश विरहित सद्य ।।

१२३. वत्ती भी दीपत्व को, पाती दीप-प्रयोग ।
ईश ! तुम्हारा भक्त भी, बनता ईश निरोग ।।

१२४. इन्द्रिय-गण गजराज हैं, मदोन्मत्त महान ।
उसे बनाता आपका, शासन निर्मदवान ।।

१२५. गरुड़ पंख में स्थित पुरुष, पाता जल-निधि पार ।
तव चरणों में लीन नर, तर जाते संसार ।।

१२६. मोह नींद में मग्न जो, है यह विश्व विशाल ।
उसे जगाने के लिए, प्रभु हैं प्रातः काल ।।

१२७. प्रभु चरणों के स्पर्श से, होते कर्म विनष्ट ।
दांत फूटते हस्ति के, चन्द्र-रश्मि से स्पष्ट ।।

१२८. चन्द्र-चन्द्रिका की तरह, और मेघ उपमान ।
प्रभो ! आपकी है कृपा, सब पर एक समान ।।

१२९. श्रद्धा से स्तुति-गान कर, चक्री भरत विनीत ।
बैठे जाकर इन्द्र के, पीछे भक्ति पुनीत ।।

१३०. देवों के पीछे सभी, बैठे मानव भक्त ।
उनके पीछे नारियां, खड़ी भक्ति-अनुरक्त ।।

१३१. समवसरण का है प्रथम, परकोटा रमणीक ।
उसमें बैठा चतुर्विध, संघ समुद निर्भीक ।।

१३२. उसके अगले कोष्ठ में, बैठे हैं तिर्यंच ।
आपस में सौहार्द से, तजकर वैर-प्रपंच ।।

१३३. भाग तीसरे में सभी, राजाओं के यान ।
हाथी घोड़ादिक खड़े, थे ऊंचे कर कान ।।

१३४. फिर प्रभु ने दी देशना, जो थी मेघ-समान ।
निज-निज भाषा में सभी, पाते जिसका ज्ञान ।।

१३५. दिव्य देशना श्रवण कर, अमर मनुज, तिर्यंच ।
मानों शुचितम पा गये, परम शान्ति का मंच ।।

१३६. अथवा दुख के भार से, आज हुए हैं मुक्त ।
अथवा उनने इष्ट पद, पाया है उपयुक्त ।।

१३७. वे सब निज निज ध्यान में, लीन हुए अत्यन्त ।
मानों उनको मिल गया, परम ब्रह्म का पंथ ।।

१३८. पूर्ण हुई जब देशना, वन्दन कर सोल्लास ।
आये चक्री संयमी, बन्धु जनों के पास ।।

१३९. उन्हें देखकर हो दुखी, मन में भरत नरेश ।
यों मन में करने लगे, पश्चात्ताप विशेष ।।

१४०. बन्धु जनों से छीनकर, प्राज्य राज्य भंडार ।
कार्य किया यह निंद्य है, अरे ! मुझे धिक्कार ।।

१४१. औरों को अब सम्पदा, देना व्यर्थ नितान्त ।
आज्य[1] भस्म[2] में होमना, मूढ़-भाव एकान्त ।।

१४२. काक, बुलाकर दूसरे-, कौओं को पश्चात् ।
खाते हैं अन्नादिको, यह जग में विख्यात ।।

१४३. अहो ! भाइयों के बिना, भोग रहा मैं भोग ।
कौओं से बदतर हुआ, क्या न घृणित यह योग ?।

---

१. घी २. राख

१४४. भोग्य-संपदा दूं अगर, वन्धु जनों को आज ।
क्या वे कर लेंगे ग्रहण, त्यागी मुनि-जग-ताज ?॥

१४५. ऋषभनाथ भगवान के,- कर चरणों का स्पर्श ।
वन्धुजनों को है दिया, आमन्त्रण सह-हर्ष ॥

१४६. यों सुनकर प्रभु ने कहा-, सरलमते ! चक्रीश ।
ये सब तेरे वन्धु हैं, महाव्रती मुनि-ईश ॥

१४७. व्यक्त भोग कब भोगते, जो हैं पुरुष कुलीन ।
वान्त अन्न करते ग्रहण, कौए कुत्ते दीन ॥

१४८. सुन यह सोचा भरत ने, फिर कर पश्चात्ताप ।
भोग न भोगेंगे कभी, त्यागी-वन्धु, अपाप ॥

१४९. फिर भी लेंगे अन्न तो, धारण करने प्राण ।
यों चिन्तन कर भरत ने, मंगवाया पकवान ॥

१५० वैल गाड़ियां पांच सौ, भरित विविध आहार ।
मंगवा अनुजों को दिया, आमंत्रण अविकार ॥

आधाकर्मी आहार का अग्रहण

१५१. आदीश्वर प्रभु ने कहा, हे षट्-खंडा धीश ! ।
आधा-कर्मी का ग्रहण, कर सकते न मुनीश ॥

१५२. पुनरपि चक्री ने कहा, लो यह भोजन शुद्ध ।
"राजपिंड अग्राह्य है," वोले जिनवर वुद्ध ॥

१५३. यों प्रभु वाणी श्रवण कर, चक्री हुए उदास ।
करते पश्चात्ताप पुनि, हुई न पूरी आश ॥

१५४. खिन्न भरत को देखकर, सुरपति वोला-नाथ ।
"भेद अवग्रह के हमें, वतलाएं जग-तात ॥"

पांच अवग्रह

१५५. प्रभु ने पांच अवग्रह,[1] बतलाये तत्काल ।
कहा इन्द्र ने देव से, करके विनय विशाल ।।

१५६. मेरा जो कि अवग्रह, उसमें जो मुनिराज ।
वे विहार करते रहें, मेरी आज्ञा आज ।।

१५७. यह सुनकर चक्रीश ने, मन में किया विचार ।
लिया न मेरे हाथ से, मुनियों ने आहार ।।

१५८. क्यों न अवग्रह की करूं, आज्ञा मैं भी आज ।
बन जाऊं कृत-कृत्य मैं, है यह उत्तम काज ।।

१५९. चक्री ने भी इन्द्रवत्, जाकर प्रभु के पास ।
स्वीय अवग्रह जो कि था, आज्ञा दी सोल्लास ।।

१६०. फिर चक्री ने इन्द्र से, पूछा यह निर्व्याज ।
"अन्नादिक का अब मुझे, क्या करना है आज" ।।

१६१. कहा इन्द्र ने जो पुरुष, हों विशिष्ट गुणवान ।
उनको देना चाहिए, यह सारा पकवान ।।

१६२. होते मुनियों के सिवा, देशव्रती गुणवान ।
जो ज्ञाता हैं तत्त्व के, सम्यग् दर्शनवान ।।

१६३. उनको देना चाहिए, है यह उचित प्रकार ।
यह सुझाव स्वीकृत किया, चक्री ने हितकार ।।

इन्द्र द्वारा अंगुली दर्शन

१६४. रूप मनोहर देखकर, सुरपति का साकार ।
चक्री ने आश्चर्य से, पूछा प्रश्न उदार ।।

१. रहने व फिरने के लिए आज्ञा लेनी पड़े ऐसे स्थान वे पांच हैं—इन्द्र सम्बन्धी, चक्री सम्बन्धी, राजा सम्बन्धी, गृहस्थ सम्बन्धी, और साधु सम्बन्धी, ये अवग्रह उत्तरोत्तर पूर्व के बाधक होते हैं। उनमें पूर्वोक्त और परोक्त विधिओं में पूर्वोक्त विधि बलवान है।

१६५. "हे सुरपति ! क्या स्वर्ग में, रहते रख यह रूप ?
या फिर कोई दूसरा, है वह रूप अनूप ॥"

१६६. "नहीं हमारा स्वर्ग में, होता ऐसा रूप ।
देख न सकते नर उसे, जो है दिव्य सुरूप ॥"

१६७. "इच्छा मेरी है प्रवल, देखूं मैं वह रूप ।
अतः दिखाकर अव मुझे, करो कृपा सुर-भूप ॥"

१६८. "उत्तम नर हो तुम अतः, पूर्ण करूंगा चाह ।
दिखलाऊंगा मैं तुम्हें, एक अंग सोत्साह ॥"

१६९. जग-मंदिर में दीप सम, भूपण-भूषित अंग ।
एक अंगुली भरत को, दिखलाई नव रंग ॥

१७०. दिव्य ऊंगली देखकर, हुए उल्लसित भूप ।"
पूर्व चन्द्र को देखकर, जैसे सागर-रूप ॥

१७१. भरत भूप का मान रख, कर वन्दन सम्मान ।
सन्ध्या घनवत् हो गये, सुरपति अन्तर्धान[1] ॥

१७२. चक्री भी प्रभु-चरण में, कर वंदन, गुण-गान ।
शीघ्र अयोध्या नगर में, आये हर्ष महान ।

१७३. अष्टापद गिरि से हुआ, प्रभु का उग्र विहार ।
मानो भव्य-सरोज हित, है भास्कर साकार ॥

ब्राह्मणों की उत्पत्ति

१७४. इधर अयोध्या नगर में, जो थे श्रावक लोग ।
उनको बोले भरत नृप, करके शिष्ट प्रयोग ॥

१७५. आप अभी कृपया करें, भोजन मेरे गेह ।
रहें सदा स्वाध्याय में, तत्पर तज घर-स्नेह ॥

---

१. अदृश्य

१७६. काम जगत के छोड़कर, ग्रहण करें सद्ज्ञान।
आकर मेरे पास नित, यों बोले मतिमान ।।

१७७. हार हुई है आपकी, भय बढ़ता दिन-रात ।
अतः जीव मत मारिये, यही दया अवदात ।।

१७८. बात मानकर भरत की, करते श्रावक भोज ।
उपर्युक्त शब्दावली, कहते हैं हर-रोज ।।

१७९. इन शब्दों को श्रवणकर, चक्री रति में लीन- ।
चिन्तन करता है चतुर, भव-भय-भीरु प्रवीण ।।

१८०. "मैं किससे हारा अरे ! सब जग-जेता भूप ।
भय किसका नित बढ़ रहा, मैं जित-शत्रु स्वरूप ।।

१८१. अरे ! कषायों से हुआ, सही पराजित आज ।
भय उनका ही बढ़ रहा, प्रतिपल बे-अंदाज ।।

१८२. अतः विवेकी ये मुझे, सदा दिलाते याद ।
हनन न आत्मा का करो, हितकर यह अविवाद ।।

१८३. तो भी नित्य प्रमाद-रत, मैं विषयों में लीन ।
रहा उपेक्षित धर्म से, औ आलस्य-अधीन ।।

१८४. कितना इस संसार पर, मेरा है यह मोह ।
औ मेरे आचार में, कितना है व्यामोह ।।"

१८५. गंगानदी-प्रवाह की,-तरह भरत-परिणाम ।
होते हैं निष्काम, पर, पल में पुनः सकाम ।।

१८६. कर्म-भोगफल भोगना,-पड़ता है अनिवार्य ।
हो सकता है अन्यथा, नहीं निकाचित कार्य ।।

१८७. भोजन-शाला-अग्रणी, जो था पुरुष प्रधान ।
उसने आकर भरत से, की है विनति महान ।।

१८८. बहुत बढ़े हैं आजकल, भोजन-कर्त्ता लोग ।
श्रावक को पहचानना, है यह कठिन प्रयोग ।।

---

१. काम-विषय-रत

१८९. "करो परीक्षा तुम स्वयं, हो श्रावक-भव-भीत ।
पीछे भोजन दो उन्हें, क्रम न चले विपरीत ॥

१९०. तदनन्तर वह पूछता, सबको सह सम्मान ।
बन्धु जनों! तुम कौन हो, क्या है प्रत्याख्यान ?॥"

१९१. जो मानव कहते कि "हम, हैं श्रावक सुविनीत ।
बारह व्रतधारी विमल, श्रद्धा-धनी पुनीत ॥"

यज्ञोपवीत की उत्पत्ति

१९२. उनके चक्रीश्वर तदा, रेखा-त्रिक-निर्माण ।
दर्शन-ज्ञान चरित्र के, मानो तीन निशान ॥

१९३. दिव्य कांकिणी रत्न से, करवाते थे स्पष्ट ।
श्रावक की पहचान यों, हो जाती बिन कष्ट ॥

१९४. इसी तरह होती वहां, अर्द्ध वर्ष के बाद ।
श्रावक लोगों से सदा, पूछ-ताछ अविवाद ॥

१९५. और कांकिणी रत्न से, रेखा तीन विशाल ।
उनकी छाती पर वहाँ, की जाती उस काल ॥

१९६. पाते थे उस चिन्ह से, भोजन वे बिन कष्ट ।
'कहते जितो भवान्' वे, ऊंचे स्वर से स्पष्ट ॥

१९७. वे 'माहन' इस नाम से, हुए विश्व विख्यात ।
मुनियों को देने लगे, निज बालक-संघात ॥

१९८. उनमें से होकर विरत, कई बने हैं संत ।
और कई श्रावक बने, दृढ़-धर्मी अत्यन्त ॥

१९९. जो कि कांकिणी रत्न से, चिन्हित थे इन्सान ।
भोजन करवाते उन्हें, चक्री-सह सम्मान ॥

२००. अतः अन्य जन भी उन्हें, देते भोज निरोग ।
"पूज्य पूजते हैं जिसे, उसे पूजते लोग ॥"

वेदों की उत्पत्ति

२०१. उन सबके स्वाध्याय-हित, चक्री ने तत्काल ।
वेद चतुष्टय का किया, है निर्माण विशाल ॥

६०२. जिनमें अर्हत् देव के, हैं गुण-स्तवन उदार ।
और श्रावकों का तथा,- मुनिगण का आचार ॥

२०३. क्रमशः वे माहन हुए, ब्राह्मण जग विख्यात ।
रेखाओं का भी हुआ, नाम 'जनेऊ' ख्यात ॥

२०४. 'सूर्ययशा' राजा हुआ, चक्री के पश्चात् ।
रहा न तब उसके निकट, रत्न-कांकिणी[1] ख्यात ॥

२०५. स्वर्ण-जनेऊ का किया, उसने अतः प्रयोग ।
तीन तार वाला प्रकट, धारण करते लोग ॥

२०६. महायशादिक नृप हुए, सूर्ययशा पश्चात् ।
रजत-जनेऊ का किया, संचालन साक्षात् ॥

२०७. वनवाये फिर रेशमी, सूती उसके वाद ।
हुआ जनेऊ का तभी, प्रचलन यह अविवाद ॥

२०८. आठ पट्ट[2] तक तो रहा, क्रमशः यह आचार ।
तीन खण्ड के राज्य का, किया भोग साकार ॥

२०९. इन्द्र-रचित जो मुकुट था, चक्री का साक्षात् ।
किया इन्होंने ही उसे, सिर पर धारण ख्यात ॥

२१०. तदनन्तर जो दूसरे, नरपति हुए अनेक ।
मुकुट न धारण कर सके, क्योंकि भार अतिरेक ॥

२११. हस्ति-भार को हस्ति ही, उठा सके विन कष्ट ।
किन्तु न उसको दूसरे, उठा न पाते स्पष्ट ॥

---

१. कांकिणी रत्न केवल चक्रवर्ती के पास ही रहता है ।

२. भरत, सूर्य यशा, महाशय, अतिवल, वलभद्र, वलवीर्य, कीर्तिवीर्य, जलवीर्य और दंडवीर्य ।

२१२. नवमें औ दशवें हुए, जो जिनवर विख्यात ।
उन दोनों के बीच में, रहे न मुनि अवदात ॥

२१३. तदनु सात[1] तीर्थेश का,- जो था अन्तर काल ।
शासन का विच्छेद फिर, उसमें हुआ निभाल ॥

२१४. उसी समय भरतेश-कृत, जो थे वेद महान ।
उन्हें बदल कर के किया, नव्य वेद निर्माण ॥

२१५. याज्ञवल्क्य सुलभादि के, द्वारा उसके बाद ।
रचे गये हैं वेद नव, यह जन-श्रुति अविवाद ॥

भावी तीर्थङ्कर, चक्री आदि का वर्णन

२१६. अष्टापद गिरि शिखर पर, आये प्रथम जिनेश ।
भू-पावन करते हुए, ज्यों नभ को राकेश ॥

२१७. समवसरण निर्मित किया, देवों ने तत्काल ।
दिव्य ऋषभ प्रभु देशना, देने लगे दयाल ॥

२१८. अधिकारी गण ने त्वरित, भरत भूप के पास ।
भेजा प्रभु-आगमन का, समाचार सोल्लास ॥

२१९. पहले जितना ही दिया, नृप ने उन्हें इनाम ।
क्षीण न होता कल्प-तरु, दे यदि दान प्रकाम ॥

२२०. चक्री अन्तर-भक्ति से, आकर प्रभु के पास ।
नमस्कार कर, कर रहे,-प्रभु की स्तुति सोल्लास ॥

भरत-कृत प्रभु की स्तुति

२२१. "तव प्रभाव से अज्ञ मैं, करता हूँ स्तुति गान ।
चन्द्र-दर्श से मन्द भी, दृष्टि बने बलवान ॥

२२२. मोह-तिमिर के हेतु हैं, दिव्य दीप उपमान ।
नभ की तरह अनन्त हैं, प्रभो ! तुम्हारा ज्ञान ॥

---

१. उसके बाद

२२३. है प्रमाद की नींद में, जो नर मग्न महान ।
प्रभो ! आप उनके लिये, हैं प्रचण्ड भास्वान ॥

२२४. जमा हुआ घो पिघलता, ज्यों पा पावक-योग ।
त्यों प्रभुवर के दर्श से, क्षय होता अघ-रोग ॥

२२५. पहले से भी तीसरा, है आरा आदेय ।
जिसमें जन्में आप हैं, सुरतरु से भी श्रेय ॥

२२६. करते हैं हित आप जो, दुनिआं का निष्काम ।
मात-पिता गुरु आदि भी, कर न सकें वह काम ॥

२२७. सर की शोभा हंस से, निशि की विधु-सहयोग ।
मुख की शोभा तिलक से, जग की प्रभु के योग ॥

२२८. प्रभु की स्तुति कर इस तरह, भरत भूप सुविनीत ।
बैठे अपने स्थान पर, अविचल भक्ति पुनीत ॥

२२९. प्रभु ने दी है देशना, जग-हितकरी नितान्त ।
निज-निज भाषा में सभी, समझ सके अभ्रान्त ॥

२३०. दिव्य देशना अन्त में, कर सह-भक्ति प्रणाम ।
किया निवेदन भरत ने, जिनवर से अभिराम ॥

२३१. "हे प्रभुवर ! इस भरत में, पुनः आपके वाद ।
कितने होंगे तीर्थंकृद्[1], औ चक्री अविवाद ? ॥

२३२. उनके क्या नामादि हैं, बतलाएं जगतात ।
मेरे मन में है प्रबल, जिज्ञासा साक्षात् ॥"

२३३. आदिनाथ प्रभु ने कहा,—"चक्री ! मेरे वाद ।
तीर्थंकर[1] तेईस फिर, होंगे रहित विवाद ॥

२३४. उनमें से वाईसवें, और बीसवें ख्यात ।
"गौतम गोत्री शेष सव, "काश्यप गोत्री" जात ॥

२३५. शिवपुर-गामी तीर्थंकर, होंगे यह अविवाद ।
होंगे ग्यारह चक्रधर, अन्य तुम्हारे वाद ॥

---

१. टिप्पण में देखो

चक्रवर्ती

२३६. चक्री कश्यप गोत्र के, होंगे बारह[1] ख्यात ।
उनका होगा कनक की, कान्ति-विभूषित गात ॥

२३७. उनमें से शिवपुर गमन, आठों का साक्षात् ।
दो जायेंगे स्वर्ग में, और नरक दो ज्ञात ॥

वासुदेव और बलदेव

२३८. कृष्ण वर्ण वाले सभी, तीन खण्ड के नाथ ।
होंगे नौ, इस काल में, 'वासुदेव[2]' अवदात ॥

२३९. उनमें जो हैं आठवें, उनका कश्यप गोत्र ।
बाकी के जो आठ हैं, उनका गौतम गोत्र ॥

२४०. उनके होंगे बन्धु भी, सौतेले नौ ख्यात ।
श्वेत वर्ण बलदेव वे, होंगे जग-विख्यात ॥

२४१. उनमें से होगा गमन, आठों का शिवयान ।
औ नवमें बलदेव वे, पंचम स्वर्ग-विमान ॥

प्रतिवासुदेव

२४२. नौ ही होंगे पुनः प्रति-वासुदेव[3] साक्षात् ।
वासुदेव के हाथ से, होगा उनका घात ॥

---

१. टिप्पण में देखें
२. टिप्पण में देखें
३. अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधु निष्कुंभ, बलि, प्रह्लाद, रावण, और मगधेश्वर (प्रसिद्धनाम जरासंध ये नौ प्रति वासुदेव होंगे ।

भरत का ऋषभ प्रभु से प्रश्न

गीतिका छन्द

२४३. आदि जिनवर ऋषभ प्रभु से, श्रवण कर भावी कथा ।
पूछते हैं भरत जगती-नाथ से सविनय पथा ।।
"हे प्रभो ! इस सभा-स्थल में, जीव ऐसा है अभी ।
जो बनेगा आप जैसा, तीर्थंकर तारक कभी ।।

२४४. यह सुपुत्र मरीचि तेरा, है परिव्राजक प्रथम ।
त्याग कर दुर्ध्यान, सम्यग्-दृष्टि से शोभित परम ।।
जीव इसका रहा अब तक, कर्म-मल से म्लान है ।
यही होगा जीव क्रमशः, शुद्ध स्वर्ण समान है ।।

२४५. प्रथम पोतनपुर नगर में, त्रिखंडाधिप प्रथम यह ।
इस भरत में त्रिपृष्ट नामक, भूप होगा दुःसह ।।
पुनः यह प्रियमित्र नामक, बनेगा चक्री[1] बली ।
धनंजय औ धारिणी का, पुत्र होगा निश्छली ।।

२४६. पुनः चक्री-जीव कर चिरकाल तक भव में भ्रमण ।
बनेगा चौवीसवाँ यह, तीर्थकृद् तारण-तरण ।।
श्रवण कर यह बात प्रभु से, वन्दना कर भूपति ।
गये पुत्र मरीचि के वे, सन्निकट फिर द्रुतगति ।।

२४७. कहा पुत्र मरीचि को फिर भरत ने स्तुति-गानकर ।
वासुदेव त्रिपृष्ट होंगे, आप होंगे चक्रधर ।।
और होंगे तीर्थंकर[2], चौवीसवें भगवान भी ।
कर रहा सर्वज्ञता की वन्दना मैं भी अभी ।।

२४८. पुनरपि कर भगवान को, वंदन भरत नरेश ।
गये अयोध्या नगर में, मन में हर्ष विशेष ।।

---

१. पश्चिम महाविदेह में

२. इसी भरत क्षेत्र में महावीर नामक तीर्थंकर

मरीचि का कुलमद और नीच गोत्र का बंध

२४९. वाणी सुनकर भरत की, मुदित मरीचि महान ।
तीन वार ताली वजा, वोला सह अभिमान ।।

२५०. वासुदेव भावी प्रथम, तीन खण्ड का नाथ ।
पीछे महाविदेह में, मैं चक्री साक्षात् ।।

२५१. अहो ! वनूंगा भरत में, मैं अंतिम तीर्थेश ।
पूर्ण हुए मेरे सभी, वांछित कार्य विशेष ।।

२५२. मेरे दादा हैं प्रथम, तीर्थंकर भगवान ।
और पिता मेरे प्रथम, हैं चक्री वलवान ।।

२५३. वासुदेव मैं तो प्रथम, होऊंगा नर ताज ।
मेरा कुल ही श्रेष्ट है सकल कुलों में आज ।।

२५४. गज-गण में ज्यों श्रेष्ठ है, ऐरावत गजराज ।
और ग्रहों में श्रेष्ठ है, ज्यों सूरज ग्रहताज ।।

२५५. सव तारों में श्रेष्ठ है, ज्यों नभ में उडुराज ।
सकल कुलों में श्रेष्ठ है, त्यों मेरा कुल आज ।।

२५६. मकड़ी जैसे लार से,-कर जाला-निर्माण ।
फँस जाती उसमें स्वयं, पाती दुःख महान ।।

२५७. वैसे आज मरीचि ने, कर कुल का अभिमान ।
नीच गोत्र का कर लिया,-वन्धन, दुखद महान ।।

प्रभु का विविध देशों में विहार

२५८. जग-हित करना मात्र ही, है विहार का ध्येय ।
चले वहां से नाथ अव, भव्यात्मा-आधेय ।।

२५९. सुतवत् कौशल देश के-, लोगों को तत्काल ।
धर्म-कुशल करते हुए, षट्काया-प्रतिपाल ।।

२६०. मानों परिचित हों अधिक, मगध देश के लोग ।
तप-भेषज देकर उन्हें, करते हुए निरोग ।।

२६१. विकसित करता कमल को, जैसे वासर-नाथ ।
वैसे काशी देश को, करते हुए सनाथ ।।

२६२. आनन्दित करते हुए, नृप दशार्ण को तात ।
जैसे करता जलधि को, निशानाथ साक्षात् ।।

२६३. सावधान करते उन्हें, जो मूर्छा-समुपेत ।
ऐसे चेदी देश को, करते हुए सचेत ।।

२६४. पावन मालव भूमि में, धर्म-रूप बरसात ।
जलधर-सम करते हुए, ताप शान्त साक्षात् ।।

२६५. ज्ञानी गुर्जर देश को, करते हुए जिनेश ।
दूर किया अज्ञान का, सारा तिमिर विशेष ।।

२६६. धर्मराष्ट्र सौराष्ट्र को, देकर हित-उपदेश ।
शत्रुंजय गिरिराज को, पावन किया विशेष ।।

शत्रुंजय

२६७. रजत-शिखर से शोभित मानो, गिरि वैताढ्य वहाँ आया ।
अथवा स्वर्ण शिखर से मानो, मेरु शिखर सी है काया ।।
रत्न-खान से निर्गत होकर, रत्नाकर मानो आया ।
ऐसा वह शत्रुंजय पर्वत, दर्शक-गण को दिखलाया ।।

२६८. शत्रुंजय था मूल में, योजन पूर्ण पचास ।
दश योजन था शिखर में, ऊंचा आठ विकास ।।

२६९. उस शत्रुंजय पर हुए, ऋषभदेव आरूढ़ ।
श्रमणी-श्रमण अनेक हैं, आगम-ज्ञानी गूढ़ ।।

२७०. सुर निर्मित जो हैं वहाँ, समवसरण रमणीक ।
देते हैं शुभ देशना, श्री जिनवर निर्भीक ।।

२७१. प्रथम प्रहर तक देशना, देकर प्रभु तत्काल ।
देवछन्द[1] में स्थित हुए, जो सुर-रचित विशाल ।।

२७२. प्रभु के सिंहासन[2] अधः, पाद-पीठ था रम्य ।
पुण्डरीक गणधर वहाँ, बैठे अनुग अनन्य ।।

२७३. प्रहर दूसरे तक वहां, धर्म-देशना सार ।
दी है गणधर देव ने, प्रभु-आज्ञा अनुसार ।।

२७४. जनता के हित के लिये, अष्टापद की भांति ।
अल्प समय तक प्रभु रहे, वितरण करते शांति ।।

२७५. किया दूसरे स्थान को, प्रभु ने उग्र विहार ।
रहे प्रमुख गणधर वहीं, प्रभु-आज्ञा अनुसार ।।

२७६. उनको प्रभुवर ने कहा, बहुत मुनिवरों साथ ।
"पूर्ण ज्ञान होगा तुम्हें, स्वल्प समय पश्चात् ।।

२७७. पाकर शैलेशी-दशा, तुम परिवार-समेत ।
प्राप्त करोगे मोक्ष-पद, अविचल शान्ति-निकेत ।।"

२७८. प्रभु की आज्ञा ग्रहण कर, कर सह-भक्ति प्रणाम ।
रहे बहुत मुनि सह वहाँ, पुंडरीक गुण-धाम ।।

२७९. कहते हैं वे दूसरे, मुनियों को हित बात ।
मधुर कंठ से इस तरह, प्रभु समान साक्षात् ।।

---

१. मध्य गढ़ में देवों द्वारा बनाये गये देव छंद में—
२. स्वामी के मूल सिंहासन के नीचे की पाद पीठ पर

२८० जय की इच्छा के लिए, किला सहायक ख्यात ।
यह मुमुक्षु मुनि-हित अचल, मोक्षप्रद साक्षात् ।।

२८१. अब करनी संलेखना, हम सबको निष्काम ।
द्रव्य-भाव के भेद से, दो प्रकार अभिराम ।।

२८२. रोग और उन्माद के, करें हेतु को नष्ट ।
यही द्रव्य संलेखना, समझाते हैं स्पष्ट ।।

२८३. रागद्वेषमय शत्रु जो, उनका करें विनाश ।
यही भाव-संलेखना, जिससे आत्म-विकास ।।

२८४. पुंडरीक गणनाथ ने, सब श्रमणों के साथ ।
पहले की आलोचना, अतिचारों की ख्यात ।।

२८५. महाव्रतों का फिर किया, आरोपण अविकार ।
निर्मल होता वस्त्र है, धौत अनेकों वार ।।

२८६. क्षमा करें सब जगत के, जीव मुझे सम-भाव ।
मैं भी करता हूँ क्षमा, सब को तज दुर्भाव ।।

२८७. सब जीवों से मित्रता, मेरी सदा पवित्र ।
वैर किसी से है नहीं, मेरा सब जग मित्र ।।

२८८. क्षमा-याचना कर किया, सब श्रमणों के साथ ।
बिना किसी आगार के, अनशन तप अवदात ।।

२८९. शीघ्र चढ़े श्रेणी क्षपक, गणधर प्रमुख प्रवीण ।
जीर्ण रज्जु की भांति फिर, हुए कर्म प्रक्षीण ।।

२९०. अन्य सन्त-गण के हुए, तत्क्षण कर्म विनष्ट ।
होता है सबके लिये, तप साधारण, स्पष्ट ।।

२९१. एक मास संलेखना, की है उसके बाद ।
चैत्र मास की पूर्णिमा, उत्तम दिन अविवाद ।।

२९२. पुंडरीक गणधर प्रथम, हुए केवली ख्यात ।
पुनः हुए हैं, केवली, अन्य साधु-संघात ।।

२९३. बाकी कर्म विनष्ट कर, शुक्ल-ध्यान के योग ।
प्राप्त किया परमात्म-पद, अचल अनन्त निरोग ।।

२९४. मरुदेवी माँ की तरह, देवों ने सह हर्ष ।
निर्वाणोत्सव है किया, भक्ति-भाव उत्कर्ष ।।

२९५. जैसे तीर्थंकर प्रथम, हुए ऋषभ भगवान ।
वैसे यह गिरि भी हुआ, पहला तीर्थ प्रधान ।।

भगवान का निर्वाण

२९६. विविध विदेशों में किया, प्रभु ने उग्र विहार ।
भव्य जनों को है दिया, सम्यक् बोध उदार ।।

२९७. ऋषभनाथ प्रभु को हुआ, जब से केवल ज्ञान ।
तब से प्रभु-परिवार में, उन्नति हुई महान ।।

२९८. साधु हुए हैं संयमी, अस्सी-[1]चार हजार ।
तीन लाख श्रमणी हुई, समता-भाव उदार ।।

२९९. श्रावक साढ़े तीन हैं,-लाख धर्म में लीन ।
बारह व्रत-धारी विमल, सम्यग्-दृष्टि प्रवीण ।।

३००. हुई श्राविकाएं सभी, पांच लाख प्रख्यात ।
है हजार चौवन अधिक, श्रद्धा-घन अवदात ।।

३०१. चौदह पूर्वी साधु हैं, उत्तम चार हजार ।
ऊपर साढ़े सात सौ, हैं गुणवान उदार ।।

३०२. नौ हजार मुनि हैं अवधि-ज्ञानी गुण-भण्डार ।
और केवली संत हैं, बीस हजार उदार ।।

---

१. चौरासी हजार

३०३. षट् सौ वैक्रिय लब्धि-धर, मुनि त्यागी अत्यन्त ।
है हजार बारह अधिक[1], तुर्य ज्ञानधर संत ।।

३०४. चर्चावादी संत हैं, उतने ही विख्यात ।
है बाईस हजार अनुत्तर,-वासी साक्षात् ।।

३०५. यथा प्रजा की स्थापना, की यह जग-व्यवहार ।
तथा संघ की स्थापना, धर्म-मार्ग अनुसार ।।

३०६. बीता दीक्षा समय से, पूर्व लाख जब एक ।
निकट समय है मुक्ति का, प्रभु ने किया विवेक ।।

३०७. अष्टापद की ओर तब, प्रभु ने किया विहार ।
श्रमणी संत अनेक हैं, ज्ञानी गुण-भण्डार ।।

३०८. उस पर्वत पर प्रभु हुए, समारूढ़ सानन्द ।
मोक्ष-महल-सोपान-सम, जो है स्थान अमन्द ।।

३०९. वहां किया प्रभु ने प्रथम, दस हजार मुनि साथ ।
भक्त चतुर्दश तप पुनः, अनशन अपने हाथ ।।

३१०. जाकर पर्वत-पाल ने, भरत भूप के पास ।
प्रभु के अनशन के दिये, समाचार सोल्लास ।।

३११. समाचार ये श्रवण कर, दुःखित हुए नरेश ।
दुख के आंसू नयन से, गिरने लगे अशेष ।।

३१२. चक्री निज परिवार सह, हो दुख-पीड़ित घोर ।
पैदल ही वे चल पड़े, अष्टापद की ओर ।।

३१३. तीखे कांटों की नहीं, कुछ भी की परवाह ।
होता है अनुभव न कुछ, जब हो शोक अथाह ।।

३१४. पग में कंकड़ चुभन से, लगा टपकने रक्त ।
फिर भी गति में है नहीं, कोई अन्तर व्यक्त ।।

---

१. बारह हजार छ सौ पचास मनः पर्यव ज्ञानी

३१५. उनके सर पर छत्र था, फिर भी लगता ताप ।
सुधा-वृष्टि से कब भला, मिटता मन-संताप ।।

३१६ भृत्य सहारा दे रहे, उन्हें हटाते दूर ।
है चक्री के गमन में, उत्सुकता भरपूर ।।

३१७. रहते हैं गिरिपाल जो, उनको कर आह्वान ।
समाचार वे पूछते, पर प्रभु में है ध्यान ।।

३१८ कुछ न देखते हैं भरत, सुनते अन्य न बात ।
ध्यानी-योगी की तरह, प्रभु में मन संजात ।।

३१९. तीव्र वेग ने कर दिया, मानों पथ नजदीक ।
अष्टापद के पास वे, आये साथ अनीक ।।

३२०. साधारण जन की तरह, श्रम का कुछ न विचार ।
अष्टापद गिरि पर चढ़े, चक्री सह-परिवार ।।

३२१. शोक और है हर्ष से, समाक्रान्त भरतेश ।
पर्यंकासन पर वहां, स्थित है आदि-जिनेश ।।

३२२. तत्क्षण उनको देखकर, वन्दन कर सह-भक्ति ।
करने लगे उपासना, तजकर जग अनुरक्ति ।।

३२३. आये चौंसठ इन्द्र भी, ऋषभनाथ प्रभु पास ।
देकर तीन प्रदक्षिणा, बैठे सभी उदास ।।

३२४. उस दिन अवसर्पिणी काल का, पर्व तीसरा था सुखवास ।
उसके बाकी निनानवे ही, पक्ष रहे थे माघ सुमास ।।
प्रथम पक्ष की त्रयोदशी है, है पूर्वाह्न-समय-शुभयोग ।
है अभीचि नक्षत्र श्रेष्ठतम, आया उसमें विधु का योग ।।

३२५. उसी समय पर्यंकासन पर, बैठे तूर्य-ध्यान में लीन ।
मनो-योग अरु वचन-योग को, रोक लिया झट हो तल्लीन ॥
सूक्ष्म-काय का कर निरोध, फिर प्राप्त किया है पाद-तृतीय ।
तदनन्तर उच्छिन्न-क्रिय का, प्राप्त किया है पाद-तुरीय ॥

३२६. पांच ह्रस्व अक्षर उच्चारण,-जितना ही है जिसका काल ।
वह शैलेशी-दशा प्राप्त कर, दूर किया कर्मों का जाल ॥
ऋजु-गति से लोकाग्र-भाग को, एक समय में प्राप्त किया ।
वैसे अपर साधु-गण ने भी, अविचल सुख में वास किया ॥

३२७. प्रभु के मोक्ष-गमन के क्षण में, जो न जानते सुख का लेश ।
उन नारक जीवों का क्षण भर, दूर हुआ है दुःख विशेष ॥
भरत नृपति उस समय हुए हैं, महाशोक से अति आक्रान्त ।
वज्राहत से गिरिसम भूपर, मूर्च्छित होकर गिरे अशान्त ॥

दोहा

३२८. तात-विरह के दुःख से, दुःखित भरत महान् ।
किन्तु नहीं था उस समय, रोने का विज्ञान ॥

३२९. अतः बताने के लिए, चक्री को यह बात ।
और हृदय के भार को, कम करने साक्षात् ॥

३३०. चालू किया सुरेश ने, रुदन भरत के पास ।
और देवता भी सभी, रोकर हुए उदास ॥

३३१. जब सचेत चक्री हुए, सुनकर रुदन-विलाप ।
ऊंचे स्वर से रो पड़े, स्वयं भरत बे-माप ॥

३३२. पाली बंध प्रवाह से, जैसे जाता टूट ।
वैसे ग्रन्थी शोक की, रह सकती न अटूट ॥

३३३. सुर नर असुरों का हुआ, रुदन लोक में प्राज्य ।
करुणा-रस का उस समय, मानो था साम्राज्य ॥

३३४. उसी समय से जगत में, शोक-जन्य जो शल्य ।
रोने का प्रचलन हुआ, करने उसे विशल्य ।।

३३५. सहज धैर्य को त्याग कर, दुःखित भरत नरेश ।
सहसा अब करने लगे, शीघ्र विलाप विशेष ।।

३३६. कृपा सिन्धु ! जग बंधुवर !, हे जग-तारक ! तात ! ।
भव-वन में कैसे हमें-, छोड़ चले साक्षात् ।।

३३७. तम में रह सकते न जन, जैसे बिना प्रदीप ।
भव में कैसे रह सकें, आप बिना जग-दीप ।।

३३८. कैसे प्रभुवर ! आप ने, मौन किया है आज ?।
हमें दीजिए देशना, धर्म-तीर्थ के ताज ! ।।

३३९. भव्य जनों पर द्रवित हो, करें कृपा अब नाथ ।
और मौन तज देशना,-देकर करें सनाथ ।।

३४०. मुक्ति-महल में जा रहे, अतः न बोलें नाथ ।
मुझ दुःखित से किन्तु ये, क्यों न बोलते भ्रात ।।

३४१. अथवा प्रभु के ये सभी, अनुगामी हैं स्पष्ट ।
अतः बोलने का नहीं, ये भी करते कष्ट ।।

३४२. अहो ! न है मेरे सिवा, ऐसा कोई अन्य ।
जो कि हुआ है आपका, अनुयायी न अनन्य ।।

३४३. सब जग-रक्षक आप औ, बाहु[1] आदि लघु भ्रात ।
बहिनें ब्राह्मी सुन्दरी, औ मेरे सुत[2] ख्यात ।।

३४४. पोते श्रेयांसादि सब, हुए सिद्ध भगवान ।
किन्तु अभी तक मैं नहीं, हुआ विरत नादान ।।

---

१. बाहुबली
२. पुंडरीक आदि

३४५. सुरपति ने चक्रीश को, देखा शोक-अधीन ।।
समझाते हैं अब उन्हें, देकर ज्ञान प्रवीण ।।

३४६. महासत्व! हे भरत नृप!, ये प्रभु जग-सिरताज ।
हैं भवसागर के लिए, तारण-तरण जहाज ।।

३४७. लक्ष पूर्व तक साधना, की है रहित विकार ।
स्वयं हुए कृत-कृत्य हैं, पा निज रूप उदार ।।

३४८. और दूसरों को किया, प्रभु ने सदा कृतार्थ ।
जीवन अर्पण कर दिया, सब संसार-हितार्थ ।।

३४९. अनुकम्पा सब विश्व पर, करके हुए विमुक्त ।।
इन जग-तारक के लिए, शोक नहीं उपयुक्त ।

३५०. साधारण जन की तरह, करते प्रभु-हित शोक ।
क्या लज्जित होते नहीं, चक्री बल अस्तोक ।।

३५१. सुन लेता प्रभु-देशना, एक बार जग-सार ।
हर्ष-शोक उसके लिए, दोनों हैं बेकार ।।

३५२. तुमने तो प्रभु-देशना, सुनी अनेकों बार ।
फिर करते हो शोक यह, है आश्चर्य अपार ।।

३५३. जैसे सागर के लिए, क्षोभ नहीं है श्रेय ।
और मेरु गिरि के लिए, कँप नहीं आदेय ।।

३५४. उद्वर्त्तन भू के लिए, उचित न किसी प्रकार ।
तथा तुम्हारे हित नहीं, रखना शोक-विकार ।।

३५५. अचल धैर्य धारण करो, तुम हो चक्री-राज ।
और आदि भगवान के,-हो सुपुत्र, कुल-ताज ।।"

३५६. इस प्रकार सुर-राज ने, दिया भरत को बोध ।
धैर्य किया धारण तदा, कर मन का अवरोध ।।

प्रभु के अंग का संस्कार

गीतिका छन्द :

३५७. करें अब संस्कार प्रभु के, देह का हरि कह रहा ।
शीघ्र सामग्री इकट्ठी, करो सुर-गण को कहा ।
आभियोगिक देवगण, सब गये नन्दन वन जहां ।
श्रेष्ठतम गोशीर्ष-चन्दन, शीघ्र ले आये वहाँ ।।

३५८. इन्द्र के आदेश से अब, पूर्व में चन्दन-चिता ।
वह बनी प्रभु देह के हित, गोल आकृति की तदा ।।
जो कि थे इक्ष्वाकु कुल के, संत समता के धनी ।
त्रिकोणाकृति की चिता[1] अब, एक उनके हित बनी ।।

३५९. और मुनिगण के लिये, फिर तीसरी चौरस चिता ।
दिशा पश्चिम में चुनी है, देवताओं ने तदा ।।
स्नान प्रभु-तन को कराया, क्षीर-सागर सलिल से ।
और उस पर है किया फिर लेप चन्दन तरल से ।।

३६०. देव-दूष्य सफेद अम्बर, से ढ़का प्रभु गात को ।
इन्द्र ने फिर भूषणों से किया भूषित तात को ।।
शव-क्रिया[2] अन्यान्य मुनियों, की हुई अविराम है ।
सब सुरों ने इन्द्र जैसा, ही किया सब काम है ।।

३६१. सार रत्नों से रचित की, तीन शिविका श्रेष्ठतम ।
पुरुष एक हजार जिनको, उठा सकते योग्यतम ।।
इन्द्र ने कर नमन शिविका,-पर रखा है नाथ-शव ।
अन्य शिविका पर रखे, प्रभु-वंश के अन्यान्य शव ।।

---

१. दक्षिण दिशि में
२. स्नानादि क्रिया

३६२. शेष मुनियों के रखे शव तीसरी शिबिका जहां ।
अब उठाई प्रथम शिविका इन्द्र ने पहले वहां ।।
और देवों ने उठाई दूसरी शिबिका यदा ।
अप्सराएँ कर रही थीं, मधुर गायन भी तदा ।।

३६३. धूप-भाजन देव लेकर, चल रहे आगे मुदा ।
डालते थे फूल शिविका में कई सुर-वर तदा ।।
ग्रहण करते कई उनको समझ भव्य प्रसाद वर ।
कर रहे छिड़काव सुरभित द्रव्य के द्वारा अमर ।।

३६४. दौड़ते थे कई पीछे कई आगे लेटते ।
हे प्रभो ! हे नाथ ! कहकर कई पथ श्रम मेटते ।।
कई कहते सहन प्रभु का विरह हम कैसे करें ।
कह रहे हैं कई शिक्षा-ग्रहण अब किस से करें ।।

३६५. प्रभु ! तुम्हारे विना होगा दूर संशय किस तरह ।
और हम जायें कहां पर प्रभो ! अन्धों की तरह ।।
कई कहते हैं अमर-गण मार्ग हे पृथ्वी ! बता ।
शीघ्र तुझ में समा जाएँ हम सभी अब देवता ।।

३६६. इस तरह आलाप करते हुए शोकातुर अमर ।
चिताओं के पास लाये शीघ्र शिविकाएँ प्रवर ।।
इन्द्र ने फिर पूर्व दिक् की-चिता पर प्रभु देह को ।
रखा जैसे पुत्र रखता तातवर के देह को ।।

३६७. देवताओं ने ऋषभ प्रभु-वंश के मुनि ख्यात को ।
दिशा दक्षिण की चिता में, रखे उनके गात को ।।
अन्य देवों ने वहां पर, दूसरे मुनि-तात को ।
दिशा पश्चिम की चिता में, रखा उनके गात को ।।

३६८. उन चिताओं में लगाई आग अग्नि-कुमार ने ।
फिर चलाई है वहां पर, वायु वायु कुमार ने ।।
चिताओं में डालते सुर घी, शहद चहुँ ओर से ।
आग चारों ओर इससे, लगी जलने जोर से ।।

३६९. अस्थियों के सिवा सारा, जल गया तन भाग है ।
क्षीर-सागर के सलिल से, शान्त की तब आग[1] है ।।
ग्रहण की सौधर्म पति ने, दाढ़ प्रभु की दाहिनी[2] ।
और ईशानेन्द्र ने की दाढ़, बांई[3] पावनी ।।

३७०. चमर-पति ने ग्रहण की है, दाढ़ निचली दाहिनी ।
और बलिपति ने ग्रहण की, दाढ़ बांई[4] पावनी ।।
अन्य इन्द्रों ने किये हैं, दांत प्रभुवर के ग्रहण ।
दूसरे सुरवरों ने की अस्थियाँ,-प्रभु की ग्रहण ।।

दोहा

३७१. उन चिताओं की जगह, तीन स्तूप तत्काल ।
देवों ने निर्मित किये, रत्नों के सुविशाल ।।

३७२. गये वहाँ से देवगण, नंदीश्वर वर द्वीप ।
शाश्वत प्रतिमा थी वहां, मन हर द्वीप-समीप ।।

३७३. अष्टान्हिक उत्सव किया, प्रभु की कर स्तुति-गान ।
लौटे सारे देवता, इन्द्र सहित निज स्थान ।।

---

१. मेघ कुमार ने आग शान्त की
२. अपने विमान में प्रतिमा की तरह पूजा करने के लिए प्रभु की ऊपर की दाहिनी दाढ़ ग्रहण की
३. ऊपर की बांई दाढ़
४. नीचे की बांई दाढ़

३७४. स्वीय विमानों में वहाँ, सभा सुधर्मा रम्य ।
उनके अन्दर माणवक, स्तम्भ अधिक अभिरम्य ।।

३७५. गोल वज्रमय है वहाँ, डिब्बे जो मजबूत ।
उनमें प्रभु-दाढें रखीं, करके पूजा पूत ।।

३७६. इनके प्रकृष्ट प्रभाव से, उनके हित सब स्थान ।
परम विजय, मंगल सतत,–होने लगे प्रधान ।।

अर्हत्-स्तुति

३७७. "हे जगनाथ! अनाथ के,–नाथ, आप साक्षात् ।"
भरत भूप अब कर रहे, प्रभु-स्तवना नत-गात ।।

३७८. "भला किया है विश्व का, भास्कर भाँति महान ।
चाहे आर्य अनार्य हो, सब पर दृष्टि समान ।।

३७९. पर के हित इस लोक में, किया अहेतु विहार ।
किन्तु करेंगे मोक्ष में, किसका अब उपकार ? ।।

३८०. छोड़ दिया है आपने,–जिसको दे आलोक ।
मर्त्यलोक वह वस्तुतः, हुआ मर्त्य[1] ही लोक ।।

३८१. प्रभुवर ! जिस लोकाग्र में, गये आप ईशाग्र ।
सचमुच ही लोकाग्र वह, हुआ सही लोकाग्र* ।।

३८२. जो करते हैं आपकी, भव्य देशना याद ।
वे अब भी प्रभु आपको, देख रहे साक्षात् ।।

३८३. करते जो नित आपकी, दिव्याकृति का ध्यान ।
आप सदा उनके लिये, हैं प्रत्यक्ष समान ।।

---

१. मरने योग्य

* मोक्ष

३८४. निर्मोही होकर किया, जैसे भव-परित्याग ।
वैसे मत करना प्रभो, मेरे मन का त्याग ।।"

३८५. यों स्तुतिकर भगवान की, पूर्ण भक्ति से व्याप्त ।
की अब भरत नरेश ने, पुरी अयोध्या प्राप्त ।।

३८६. दुखी भरत के दुःख से, दुःखित लोग विशेष ।
उनसे आवृत्त भरत ने, पुर में किया प्रवेश ।।

३८७. वार वार वे कर रहे, अपने प्रभु को याद ।
दृग् से अश्रु उंडेलते, ज्यों घन वर्षा-वाद ।।

३८८. जिसका लुट जाता द्रविण,[1] वह मानव दिनरात ।
जैसे धन की ही सदा, करता रहता वात ।।

३८९. वैसे उठते बैठते, करते कोई काम ।
स्मृति-पटल पर वे सभी, रखते प्रभु का नाम ।।

३९०. मंत्रीगण ने देखकर, चक्री को सह-शोक ।
उनसे वह कहने लगे, बद्धांजलि ब-रोक ।।

३९१. हे चक्रीश्वर ! आपके,–प्रभु थे जग-आधार ।
रहकर भी गृहवास में, किया बहुत उपकार ।।

३९२. पशु सम जो अज्ञान के, वाहक थे अतिरेक ।
उनको भी जग नीति का, दिया ज्ञान सविवेक ।।

३९३. तदनन्तर दीक्षा ग्रहण, को है तजकर भोग ।
प्राप्त किया तप-योग से, केवल-ज्ञान निरोग ।।

३९४. दिव्य देशना धर्म की, प्रभु ने दी निष्काम ।
जिससे जीवों को मिला, मुक्ति-मार्ग अभिराम ।।

---

१. धन

३९५. हो कृतार्थ पहले स्वयं, जग को किया कृतार्थ ।
आत्म-ध्यान के मार्ग से, प्राप्त किया परमार्थ ॥

३९६. ऐसे प्रभु का आप अब, क्यों करते हैं शोक ?"
मंत्री-गण के कथन से, चक्री हुए अशोक ॥

३९७. राहु-मुक्त विधु की तरह शोक मुक्त भरतेश ।
विचरण विहार[1]–भूमि में, करने लगे विशेष ॥

३९८. आदिनाथ के विरह से, खिन्न भरत भूपेश ।
देते उनको सान्त्वना, परिजन लोग विशेष ॥

उद्यान में रमण

३९९. कई बार परिवार के,–आग्रह से भरतेश ।
जाते थे उद्यान में. करने रमण विशेष ॥

४००. नारी-गण का है वहां, मानों अपना राज्य ।
रम्य लता-मंडप जहां, सुखप्रद शय्या प्राज्य ॥

४०१. गूंथ-गूंथ कर पुष्प की, पोशाकें सुखकार ।
चक्री को वीरांगना, देती है उपहार ॥

४०२. नगर नारियां पहन कर, सुम के भूषण-सार ।
जल-क्रीड़ा करने लगीं, उनके निकट उदार ॥

४०३. तन पर पुष्पों के विविध, आभूषण रमणीय ।
धारण करके बीच में, चक्री सुशोभनीय ॥

४०४. यदा-कदा जाते मुदा, निज रमणी-गण संग ।
क्रीड़ा-वापी में स्वतः, करने क्रीड़ा-रंग ॥

४०५. नदी नर्मदा में द्विरद, ज्यों हस्तनियों साथ ।
सुन्दरियों के साथ त्यों, क्रीड़ा करते नाथ ॥

---

१. मनोरंजन का स्थान

४०६. सुन्दरियों से की ग्रहण, मानों सीख सुरंग ।
सलिल-तरंगें कर रहीं, आलिंगन हर-अंग ।।

४०७. मानों लीला-राज्य पर, चक्री का अभिषेक ।
जल-सिंचन करने लगी, जिन पर स्त्रियां अनेक ।।

४०८. मानो हो जल देवियां, ऐसी स्त्री-गण साथ ।
चक्री ने चिरकाल तक, क्रीड़ा की साक्षात् ।।

४०९. जल-क्रीड़ा करके गये, चक्री भरत अभीत ।
है विलास-मंडप जहां, करवाने संगीत ।।

४१०. वहां वेणु-वादक कुशल, संगीतज्ञ महान ।
वेणु-वाद्य में वे मधुर, भरते हैं वर तान ।।

४११. वीणा-वादक कर्ण-प्रिय, पुष्पादिक स्वर योग ।
वीणा ग्यारह तरह की, बजा रहे नीरोग ।।

४१२. पणव[1] मुरज वादित्र भी, बजा रहे इन्सान ।
गायक भी स्वर ताल से, गाते थे कल गान ।।

४१३. नृत्य कला में अति निपुण, नटियां विविध प्रकार ।
अंगों का विक्षेप कर, नृत्य दिखाती सार ।।

४१४. चक्री ने देखे सभी, दृश्य हास्य के अर्थ ।
कौन रोक सकता उसे, जो है पुरुष समर्थ ।।

४१५. ऋषभनाथ भगवान के, मोक्ष-गमन के बाद ।
पूर्व बिताए भरत ने, पांच लाख साल्हाद ।।

४१६. क्षणिक सुखों में रत रहे, था यह मोह-विकार ।
अब निर्मोही बन भरत, करते हैं उद्धार ।।

---

१. ढोल

ग्रादर्श गृह में भरत का वैराग्य, केवल ज्ञान व मोक्ष

गीतिका छन्द

४१७. एक दिन की बात, चक्री, स्नान ग्रौ बलिकर्म कर ।
देव-दूष्य ग्रचेल से निज,–ग्रंग को फिर साफ कर ॥
भ्रमर सन्निभ निज कचों में, पुष्प-माला गूंथ कर ।
ग्रौर सारे देह में फिर, श्रेष्ठ चन्दन-लेप कर ॥

४१८. दिव्य रत्नों के विभूषण से, विभूषित देह कर ।
रानियां हैं बहुत उनके, साथ सुन्दर वेष-धर ॥
मार्ग-दर्शक के बताए, हुए पथ पर कदम धर ।
रत्नमय ग्रादर्श-गृह में, हैं गये चक्री प्रवर ॥

४१९. गगन-तलवत् स्वच्छ दर्पण, थे वहां बहु कीमती ।
देखते हैं रूप अपना, भूप उनमें ऋजुमति ॥
ग्रंगुली में से निकलकर, गिर गयी नृप-मुद्रिका ।
नृत्य करते समय जैसे, पंख गिरता मोरका ॥

४२०. पता उसको पंख गिरने का न होता है यथा ।
मुद्रिका जो गिरी उसका हुग्रा न ग्रनुभव भी तथा ॥
कर रहे निज देह का, ग्रब समवलोकन नृप-भरत ।
मुद्रिका से रहित देखी, ग्रंगुली गत-कांतिवत् ॥

४२१. सोचते विस्मित भरत क्यों, ग्रंगुली लगती छड़ी ।
खोजने से मुद्रिका झट, भूमि पर दीखी पड़ी ॥
शुद्ध-मति वे सोचते "क्या, ग्रंग मेरे ग्रन्य भी— ।
ग्राभरण से रहित शोभा,–हीन क्या लगते सभी ॥ ?"

दोहा

४२२. एक-एक कर दूसरे, सब ग्राभरण ग्रनूप ।
भूपति उन्हें उतारकर, देख रहे निज रूप ॥

गीतिका छन्द

४२३. प्रथम मस्तक से उतारा मुकुट मणि माणिक्य का ।
मुकुट विरहित शिर लगा ज्यों रत्न–विरहित मुद्रिका ।।
पुनः कानों से उतारे रम्य कुण्डल युगल जब ।
बिन शशी-रवि, पूर्व-पश्चिम दिगिव[1] लगते कान तब ।।

४२४. कण्ठ का आभरण चक्री ने हटाया है यदा ।
शुष्क सरिता सदृश मानो गला लगता है तदा ।।
वक्षस्थल से भरत चक्री, ने उतारा हार है ।
तब लगा वह शून्य तारों, रहित नभ अनुहार है ।।

४२५. है किया भुजबंध[2] को भी स्वीय तन से दूर जब ।
लता-वेष्टन से रहित दो साल तरु से हाथ तब ।।
दूसरी अंगूठियों को निकाली नृप ने तभी ।
मणि-रहित अहि-भोग[3] जैसी, हुई अंगुलियां सभी ।।

४२६ उभय चरणों से हटाये, चरण के आभरण भी ।
कनक कंकण रहित गज के दांत सम तब चरण भी ।।
भूषणों से रहित काया, देखते हैं जब भरत ।
पत्र विरहित वृक्षवत्, वह हुई सुन्दरता–रहित ।।

४२७ इस तरह निज देह को, अब देखकर शोभा-रहित ।
भरत चक्री लगे करने, ऊर्ध्व-चिन्तन आत्म-हित ।।
"अहो ! नश्वर देह को धिक्कार बार हजार है ।
चित्र ! इससे अब फिर भी कर रहे अति प्यार हैं ।।

४२८. चित्र द्वारा ज्यों बढ़ाते भित्ति की शोभा सदा ।
त्यों विभूषित भूषणों से देह को करते मुदा ।।
है अशुचि का पात्र तन यह कुछ न इस में सार है ।
सलिल बुद-बुद देह है जब, व्यर्थ सब शृंगार हैं ।।

---

१. दिशा की तरह
२. बाजू
३. सांप का फन

४२९. यथा वर्षा के सलिल को, क्षार-भू दूषित करे ।
तथा स्तुत्य पदार्थ को भी, निंद्य मानव तन करे ।।
मोक्ष-फलदायक तपस्या, जो करे जग त्याग कर ।
देह का फल ग्रहण करते, वस्तुतः वे विज्ञ नर ।।

४३०. इस तरह सुविचार करते हुए चक्री भूपवर ।
क्षपक श्रेणी में चढ़े है देह-ममता दूर कर ।।
घन-विलय से सूर्य जैसे, प्रकट होता है त्वरित ।
घातिकर्मों के विलय से हुआ केवल अवतरित ।।

४३१. इन्द्र का तत्काल आसन 'हुआ कंपित शीघ्र तर ।
भरत नृप के पास आया, अवधि से वह जानकर ।।
"भक्त, प्रभु की तरह प्रभु के पुत्र की सेवा करे ।
हुआ केवल ज्ञान अब तो क्यों नहीं फिर वह करे ।।

४३२. इन्द्र ने कर जोड़ कर फिर कहा–"हे सर्वज्ञवर ! ।
कीजिए स्वीकार जल्दी आप अब मुनि-लिंगवर ।।
करूं जिससे वंदना मैं, आपको कर जोड़कर ।
और फिर निष्क्रमण-उत्सव करूं मन में हर्ष-धर ।।"

४३३. भरत ने तब पांच मुट्ठी केश लोचन है किया ।
बाहुबलि की भांति दीक्षा चिन्ह को स्वीकृत किया ।।
देव द्वारा दत्त थे जो, रजोहरणादिक सभी ।
उपकरण मुनि योग्य जो थे, उन्हें अपनाया तभी ।।

४३४. किया उसके बाद वंदन इन्द्र ने उनको मुदा ।
क्यों कि है व्यवहार में मुनि लिंग भी सार्थक सदा ।।
हुए दीक्षित भरत-आश्रित, भूप जो कि हजार दस ।
क्योंकि ऐसे नाथ की थी सुखद सेवा नित सरस ।।

दोहा

४३५. भरत नृपति का पुत्र है, सूर्ययशा अभिधान ।
किया राज्य अभिषेक है, सुरपति ने सह मान ।।

४३६. केवल ज्ञानी भरत ने, पूर्ण ज्ञान के वाद ।
लाख पूर्व तक है किया, शुभ विहरण साल्हाद ।।

४३७. जन पद, पुर, ग्रामादि की, धरती को कर पूत ।
भव्य जनों को है दिया, सम्यग् बोध प्रभूत ।।

४३८. अष्टापद गिरि पर किया, अनशन दृढ़ परिणाम ।
सकल कर्म प्रक्षीण कर, प्राप्त किया शिव-धाम ।।

४३९. चन्द्र श्रवण नक्षत्र का, जब था सब शुभ योग ।
एक मास के अन्त में, कटा कर्म का रोग ।।

४४०. पूर्व[2] लाख सतहत्तर तक नृप भरत रहे थे राजकुमार ।
पृथ्वी का पालन करते थे, उसी समय नाभेय उदार ।।
छद्मस्थावस्था में प्रभुवर वर्ष हजार रहे निष्पंद ।
भरत मांड़लिक नरपति वैसे वर्ष हजार रहे सानंद ।।

४४१. चक्रेश्वर पद् लाख पूर्व तक, उसमें कम हैं वर्ष हजार ।
एक पूर्व तक किया भरत-ऋषि ने इस भू पर महदुपकार ।।
औ चौरासी लाख पूर्व का, आयु पूर्ण कर मुक्त हुए ।
किया इन्द्र ने निर्वाणोत्सव, भरत भूप शिव-भूप हुए ।।

गीतिका छन्द

४४२. भरत-पुत्र मरीचि-वर्णन, तीर्थंकर- अतिशय प्रवर ।
ब्राह्मणों की जनेऊ की हुई है उत्पत्तिवर ।।
भरत का वैराग्य केवल और प्रभु का शिवगमन ।
सर्ग छठ्टे में ग्रथित है, पढ़ें पाठकगण स-मन ।।

---

१. मुनि का वेष धारण किये बिना

२. चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणा करने पर जो संख्या उपलब्ध होती है उसे एक पूर्व कहते हैं उसके ७,०५,६०,०००००००००० वर्ष होते हैं ऐसे क्रोड़ पूर्व

उपसंहार

४४३. ऋषभप्रभु के भव त्रयोदश, सात कुलकर की कथा ।
जन्म और विवाह विभु का, विश्व की व्यवहृति तथा ।।
शिल्प आदिक कलाओं का, हुआ आविष्कार है ।
आग की उत्पत्ति भूपति, प्रथम न्याय उदार है ।।१।।

४४४. दान-दीक्षा ग्रहण चेले, साथ चार हजार हैं ।
घोरतम वार्षिक तपस्या, उदक का परिहार है ।।
पारणा श्रेयांस-कर से, पात्र-दान अदम्भ है ।
पर्व अक्षय तृतीया का, तब हुआ प्रारम्भ है ।।२।।

४४५. प्राप्ति केवल-ज्ञान की, औ तीर्थ की संस्थापना ।
मुक्तिपुर में गमन माँ का, और प्रभु की देशना ।।
भरत की दिग्विजय-यात्रा, सुन्दरी-संयम सफल ।
और चक्री बाहुबलि के युद्ध का वर्णन विमल ।।३।।

४४६. समर-विजयी बाहुबलि के, चरित की अद्भुत कथा ।
बाहुबलि की गज-सवारी, बोध भगिनी का तथा ।।
त्यागकर अभिमान, केवल,-ज्ञान का प्रकटी-करण ।
भरत-पुत्र मरीचि वर्णन, दंड त्रिक का स्वीकरण ।।४।।

४४७. विविध देश-प्रदेश-विहरण, ऋषभ प्रभु का शिवगमन ।
भरत को आदर्श गृह में, ज्ञान केवल उद् भवन ।।
अर्च्य अर्हद् देव जिनका, चरित यह अवदात है ।
"मुनि गणेश" अशेष कृति में, रहा गुरु का हाथ है ।।५।।

दोहा

प्रशस्ति

४४८. राजमार्ग जिन-मार्ग है, नहीं कहीं अवरोध ।
हर कोई बनकर पथिक, प्राप्त करें शिव-सौध ।।

४४९. भिन्न-भिन्न जो मार्ग हैं, मिल जाते वे अत्र ।
सब सरिताएँ सिंधु में, होती हैं एकत्र ॥

४५०. यद्यपि भिन्न विचार के, होते लोग अनेक ॥
किन्तु रहें सापेक्ष वे, तो हो जाते एक ॥

४५१. सभी विचारों के लिए, यहाँ सुरक्षित स्थान ।
अगर न हों निरपेक्ष वे, तो हैं सभी प्रमाण ॥

४५२. एक दृष्टि से वस्तु का, पूर्ण न होता ज्ञान ।
अनेकान्त की दृष्टि से, पहचाने विद्वान ॥

४५३. मतग्रही नर को नहीं, मिले सत्य का द्वार ।
है हितकर मन्थान को, जैन-नीति-नयकार ॥

४५४. गुण ही होते स्तुत्य हैं, किन्तु न व्यक्ति विशेष ।
वंद्य न होता साधु का, विना साधुता, वेष ॥

४५५. आत्मा के कृत-कर्म ही, सुख-दुख की बुनियाद—।
बनते, मात्र निमित्त हैं, कालादिक अविवाद ॥

४५६. जग-कर्त्ता ईश्वर नहीं, जग अनादि आख्यात ।
है सत् के उद्भवन की, बात वृथा साक्षात् ॥

४५७. ईश्वर हुए अनन्त हैं, होंगे पुनः अनन्त ।
रिक्त न होगा जग कभी, जीव अनन्तानंत ॥

४५८. विभु हैं जग-व्यापी नहीं, व्यापी उनका ज्ञान ।
निज-निज देह प्रमाण है, आत्म-प्रदेश-वितान ॥

४५९. हैं क्षमता की दृष्टि से, जीव सभी परमेश ।
रत्न-त्रय को साधकर, बन सकते विश्वेश ॥

४६० हैं स्वतंत्र प्राणी सभी, नहीं किसी के अंश ।
बनते वे ईश्वर स्वयं, कर कर्मों का ध्वंस ॥

४६१. जन्मजात होता नहीं, कोई भी भगवान ।
साम्य-साधना से बने, तीर्थंकर गुण-खान ॥

४६२. षट् खंडात्मक भरत में, धर्म-तीर्थ-चक्रीश ।
एक काल के चक्र में, होते अड़तालीस ।।

४६३. इस अवसर्पण काल में, ऋषभनाथ नाभेय ।
अर्हत् आदीश्वर हुए, जग-तारक श्रद्धेय ।।

४६४. जिनका जीवन-चरित है वोध प्रदायक हृद्य ।
हेमचन्द्र आचार्य की संस्कृत-कृति अनवद्य ।।

४६५. उस कृति से ही ग्रहण कर, भावों को साल्हाद ।
हिन्दी भाषा में किया, पद्यात्मक अनुवाद ।।

४६६. भाव सभी मेरे लिए,–हैं न ग्राह्य अनिवार्य ।
अपनी अपनी मान्यता,–अनुगत होते कार्य ।।

४६७. तेरापंथ समाज है, प्रतिपल उन्नतिमान ।
एक यहाँ आचार्य हैं, सबके लिए प्रमाण ।।

४६८. अपने-अपने नाम से, हैं न किसी के शिष्य ।
सभी एक आचार्य के,–होते शिष्य प्रशिष्य ।।

४६९. आज्ञा संघाचार्य की, सर्व-मान्य अनिवार्य ।
एक उन्हीं की दृष्टि से, होते सारे कार्य ।।

४७०. मर्यादित यह संघ है, हैं सदस्य सुविनीत ।
जो दृढ़तम रखते सदा, संघ-संघपति-प्रीत ।।

४७१. पद की लिप्सा के लिए, यहाँ न कोई स्थान ।
ध्येय सभी का एक है, शाश्वत् का संधान ।।

४७२. जिन-शासन की कर रहा, सुप्रभावना संघ ।
रत्न त्रय की वृद्धि से,–तेरापंथ सुरंग ।।

४७३. जैन जगत्-तल के अमल,–भूषण भाव विशाल ।
नेता तेरापंथ के, प्रथम भिक्षु गणपाल ।।

४७४. भासुर भारीमाल गुरु, रायचन्द गुण-कंद ।
जय गणपति-कर्तृत्व से, गण की वृद्धि अमंद ।।

४७५. माननीय मघवा मुनिप, माणक गणी महान ।
डालचन्द्र निष्तन्द्र गुरु, निर्मल चन्द्र समान ॥

४७६. वाक्य-विशारद वीत-भय, विश्व-वन्द्य विद्वान ।
गुरु कालू कोमल हृदय, कल्प वृक्ष उपमान ॥

४७७. युगप्रधान तुलसी प्रवर, संप्रति हैं गणपाल ।
इनके श्रम से संघ है, उन्नत और विशाल ॥

४७८. इस कृति में मेरे रहे, यही प्रेरणा-स्रोत ।
इनसे ही मिलता रहा, सदा मुझे उद्योत ॥

४७९. दर्शन के मर्मज्ञ हैं, 'महाप्रज्ञ' समयज्ञ ।
युवाचार्य वक्ता कुशल, ध्यान-धनी आत्मज्ञ ॥

४८०. 'मुनिगणेश' जग के लिए,-ऋषभनाथ स्तवनीय ।
'अर्हत् आदीश्वर चरित', पुनः पुनः पठनीय ॥

४८१. संत 'कन्हैयालाल औ' मुनि 'सुव्रत' सहयोग ।
गुरु की करुणा से मिला, 'निर्मल', 'कमल' सुयोग ॥

४८२. दो हजार अड़तीस है, संवत् श्रावण मास ।
शुक्ल तृतीया सोम है, संत चार[1] सुखवास ॥

४८३. सार्दुलपुर पावस किया, गुरु आदेश प्रमाण ।
सुखद सेठिया[2] भवन में, पूर्ण किया आख्यान ॥

४८४. गुरु के आशीर्वाद से, सिद्धि हुई है प्राप्त ।
"अर्हत् आदीश्वर चरित", है निर्विघ्न समाप्त ॥

४८५. न्यूनाधिक अथवा कहीं,-लिखा गया विपरीत ।
"मिथ्या मे दुष्कृत" करूं, प्रायश्चित्त पुनीत ॥

---

१. (i) मुनि श्री गणेशमल
(ii) मुनि श्री कन्हैयालाल
(iii) मुनि मुनि सुव्रत कुमार
(iv) मुनि निर्मल कुमार
२. भैंवरीचन्द जयचन्द लाल सेठिया

टिप्पण

टिप्पणी-१

(कमठ और धरणेंन्द्र)

भगवान पर्श्वनाथ प्रथम भव में मरुभूति नाम से प्रसिद्ध थे। कमठ उनका भाई था। इसकी दुश्चरित्रता के कारण यह दण्डित हुआ। इसका कारण वह मरुभूति को समझ इनसे वैर रखने लगा भ. पार्श्वनाथ के दसवें भव में कमठ-कठ नाम का पंचाग्नि तप करने वाला तपस्वी हुआ। एक बार गृहस्थावस्था में पार्श्वनाथ तपस्वी की धूनी पर गए। वहां लक्कड़ जल रहे थे। उनमें से एक लकड़ी की पोल में एक सांप जल रहा था।पार्श्वनाथजी ने यह बात अपने अवधिज्ञान से जानी। उन्होंने कठ से कहा, "तुम यह कैसा तप करते हो कि जिसमें जीवित सर्प जल रहा है?" कमठ ने विरोध किया। पार्श्वनाथजी ने अपने नौकर के द्वारा धूनी में से एक लक्कड़ निकलवाया। उसमें से तड़पता हुआ सांप निकला। पार्श्वनाथजी ने उसे नव-कार मन्त्र सुनाया। सांप मरकर धरण नाम का इन्द्र हुआ इससे कठ का बड़ा अप-मान हुआ। कठ भी मरकर मेघमाली नाम का देव हुआ। पार्श्वनाथजी ने दीक्षा ली। वे एक दिन ध्यान में थे। मेघमाली ने उन्हें देखा। वह पूर्व का वैर याद कर उन पर मूसलधार पानी बरसाने लगा। उनके चारों तरफ पानी भर गया। वे गले तक डूब गये। धरणेन्द्र को यह बात मालूम हुई। उसने आकर पार्श्वनाथजी को एक सोने के कमल पर चढ़ा लिया और उन पर फन की छाया कर दी। फिर उसने मेघमाली को धमकाया। वह डरकर पार्श्वनाथ प्रभु के चरणों में पड़ा। इस तरह कमठ ने प्रभु के शरीर को सताया और धरणेन्द्र ने प्रभु के शरीर की रक्षा की, परन्तु पार्श्वनाथजी न कमठ से नाराज हुए और न धरणेन्द्र से प्रसन्न हुए। उनके मन में दोनों के लिए समान भाव थे।

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित्र हिन्दी अनुवाद टिप्पनंन ४ से उद्धृत)

२

: संगमदेवकृत उपसर्ग :

महावीर स्वामी अठ्टम तप सहित पेढ़ाल नामक गांव के पोलास नामक चैत्य में एक शिला पर रात को ध्यान मग्न थे। उस समय सौधर्मेन्द्र ने अपनी सभा में महावीर प्रभु के धैर्य की प्रशंसा की। सभा में संगम नाम का एक देव था उसने भगवान को धैर्य से डिगाने का निश्चय किया। वह ध्यानमग्न प्रभु के पास आया। उसने प्रभु पर एक रात में २० तरह के उपसर्ग किये। उनमें से अठारह शरीर को पीड़ा पहुंचाने वाले थे और दो शरीर को शांति देने वाले थे। मगर प्रभु ध्यान से विचलित नहीं हुए। जब वहां से प्रभु ने विहार किया, तब भी संगम छः महिने तक लगातार प्रभु के शरीर को पीड़ा पहुंचाता रहा, मगर प्रभु नहीं घबराए। अन्त में वह हारकर प्रभु से क्षमा मांग कर चला गया। "इसने कितने बुरे कर्म बांधे हैं" यह विचार कर प्रभु की आंखों में करुणा के कण आ गए।

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित्र हिन्दी अनुवाद टिप्पण पेज नं० २८ से उद्धृत)

४२—डिविसुद्धि-साधु नीचे लिखे गये ४२ दोष टालकर आहार-पानी लें।

3

: ४२ दोष :

१—धातृपिंड(गृहस्थ के बालकों को खिलाकर आहार लेना, २—दूतीपिंड (विदेश के समाचार बताकर गोचरी—लेना, ३—निमित्तपिंड (ज्योतिष की बातें बताकर गोचरी—लेना), ४—आजीवपिंड (अपनी पहली दशा बताकर गोचरी लेना). ५.—वनीपक पिंड (जैनेतर के पास से उनका गुरु बनकर गोचरी लेना), ६—चिकित्सापिंड (चिकित्सा करके गोचरी लेना). ७—क्रोधपिंड (डराकर गोचरी लेना), ८—मानपिंड (अपने को उच्च जाति या कुल का बताकर गोचरी लेना), ९—मायापिंड (वेष बदलकर गोचरी लेना), १०—लोभपिंड (जहां स्वादिष्ट भोजन मिलता हो वहां बार-बार गोचरी जाना), ११—पूर्वसंस्तवपिंड (पुराने सम्बन्ध का परिचय देकर गोचरी लेना), १२—संस्तव-पिंड (सम्बन्धी के गुण बखान कर गोचरी लेना), १३—विद्यापिंड (विद्या पढ़ाकर गोचरी लेना), १४—मन्त्रपिंड (मन्त्र-तन्त्र बताकर गोचरी लेना), १५—चूर्णयोग-

पिंड (वास-क्षेप इत्यादि देकर गोचरी लेना), १६—मूलकर्मपिंड (गर्भ रहने के उपाय बताकर गोचरी लेना),

[ये सोलह तरह के दोष साधु को अपने ही कारण लगते हैं ?]

१७—आधाकर्मसाधु के लिए बना आहार लेना) १८—औद्देशिक (अमुक-मुनि के लिए बना आहार लेना), १९—पूतिकर्म (सदोष अन्न में मिला निर्दोष अन्न लेना), २०—मिश्र आहार (साधु तथा गृहस्थ के लिए बना आहार लेना), २१—स्थापना (साधु के लिए रखा हुआ आहार लेना), २२—प्राभृतिक (साधु के निमित्त से समय से पहले या बाद में बनाया हुआ आहार लेना), २३—प्रकाशकरण (अन्धेरे में से उजेले में लेना), २४—क्रीत (खरीदा हुआ आहार लेना), २५—उद्यतक (उधार लाया हुआ आहार लेना), २६—परिवर्तित (बदले में आया हुआ अहार लेना), २७—अभ्याहृत (सामने लाया हुआ आहार लेना), २८—पदभिन्न (मुहर तोड़कर निकाला हुआ आहार लेना), २९—मालापहृत (ऊपर से लाकर दिया हुआ आहार लेना), ३०—अछेद्य (जबरदस्ती दूसरे से छीनकर लाया हुआ आहार लेना), ३१—अनिसृष्ट (अनेक आदमियों के लिये बनी हुई रसोई में से दूसरों की आज्ञा लिए बगैर एक आदमी आहार दे वह लेना), ३२—अध्यवपूर्वक (साधु को आते जानकार गृहस्थ का उनके लिये अधिक भोजन बनाना और साधु का उसे ग्रहण करना)

(ये १७ से ३२ तक के दोष गृहस्थ की तरफ से होते हैं। इनको उद्गम दोष कहते हैं।)

३३—शंकित (अशुद्ध होने की शंका होने पर भी आहार लेना), ३४—मृक्षित (अशुद्ध वस्तु लगे हुए हाथ से आहार लेना), ३५—निक्षिप्त (सचित वस्तु में गिरि हुई अचित्त वस्तु निकालकर रखी हो वह लेना), ३६—पिहित (सचित्त वस्तु मे ढकी हुई अचित्त वस्तु लेना), ३७—संहृत (एक से दूसरे बर्तन में डालकर दी हुई वस्तु लेना), ३८—दायक (देने वाले का मन देने की तरफ न हो वह वस्तु लेना), ३९—मिश्र (सचित्त में मिली हुई अचित्त वस्तु लेना), ४०—अपरिणत (अचित्त हुए बगैर वस्तु लेना), ४१—लिप्त (थूंक वगैरह लगे हाथ से मिलने वाली वस्तु लेना(. ४२—उज्झित (रस टपकती हुई वस्तु लेना),

(३३ से ४२ तक के दस दोष देने और लेने वाले दोनों के मिलने से होते हैं।)

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित्र हिन्दी अनुवाद टिप्पणी पेज नं. १ से उद्धृत)

४

: काल :

काल का व्यवहार मनुष्य लोक में ही होता है। घड़ी, दिन,रात वगैर भेद सूरज और चांद आदि की गति के आधार पर होता है।

जम्बूद्वीप थाली की तरह गोल है। लवण समुद्र उसे कड़े की तरह लपेटे हुए है। इसी तरह लवण समुद्र को धातकी खण्ड और धातकी खण्ड को कालोदधि समुद्र और इसको पुष्कराद्ध घेरे हुए हैं। यही मनुष्य लोक है। इसमें ढ़ाई द्वीप और दो समुद्र हैं इसे ढ़ाई द्वीप भी कहते हैं और यह समय क्षेत्र के नाम से भी पहचाना जाता है।

मनुष्य लोक में कुल १३२ चांद और सूरज हैं। जम्बूद्वीप में दो दो, लवण समुद्र में चार-चार, धातकी खण्ड में बारह-बारह, कालोदधि समुद्र में बयालीस-बयालीस और पुष्कराद्ध में बहत्तर-बहत्तर। प्रत्येक चांद के परिवार में बीस नक्षत्र, अठासी ग्रह और छासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोटि-कोटि तारे हैं।

काल के चार भेद हैं—१. प्रमाण काल, २. यथायुनिर्वृत्ति काल ३. मरण-काल और ४. अद्धाकाल।

१. प्रमाणकाल दो तरह का है—दिन प्रमाणकाल और रात्रि प्रमाणकाल चार पौरुषी प्रहर का दिन होता है और चार प्रहर की रात होती है। दिन या रात की प्रहर अधिक से अधिक साढ़े चार मुहूर्त्त की और कम से कम तीन मुहूर्त्त की होती है। जब प्रहर घटती बढ़ती है तब मुहूर्त्त के एक सौ बाइसवें भाग जितनी घटती या बढ़ती है जब दिन बड़ा होता है तब वह अठारह मुहूर्त्त का होता है और रात छोटी यानी बारह मुहूर्त्त की होती है। जब रात बड़ी होती है तब वह अठारह मुहूर्त्त की होती है और दिन छोटा यानी बारह मुहूर्त्त का होता है।

आषाढ़ मास की पूर्णिमा को, दिन अठारह मुहूर्त्त का और रात बारह मुहूर्त्त की होती है। पौष महिने की पूर्णिमा को रात अठारह मुहूर्त्त की और दिन बारह मुहूर्त्त का होता है। चैत्री पूर्णिमा और आश्विनी पूर्णिमा को दिन-रात समान यानी पन्द्रह पन्द्रह मुहूर्त्त के होते हैं।

२. यथायुनिर्वृत्ति काल—देव, मनुष्यादि जीवों ने जैसी आयु बांधी हो उसके अनुसार उसका पालन करना।

३. मरणकाल—जीव का एक शरीर से अलग होने का समय।

४. अद्धाकाल—यह सूर्य के उदय और अस्त होने से मापा जाता है। यह अनेक तरह का है काल के छोटे से छोटे अविभाज्य भाग को समय कहते हैं। ऐसे असंख्य समयों की एक आवलिका होती है।

२५६ आवलिका का एक क्षुल्लक भव, १७ से अधिक क्षुल्लक भव का एक श्वासोच्छ्वास, व्याधि रहित एक प्राणी का एक श्वासोच्छ्वास एक प्राण, ७ प्राण का एक स्तोक, ७ स्तोक का एकलव, ७७ लव का एक मुहूर्त्त, (३७७३ श्वासोच्छ्वास का एक मुहूर्त्त) ३० मुहूर्त्त का एक दिन-रात, १५ दिन-रात का एक 'पक्ष', दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष, १२ वर्ष का एक जुग, ८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व इसी तरह त्रुटितांग त्रुटित, अडडांग-अडड, अववांग-अवव, हू हू आंग, हू हू अ, उत्पलांग, उत्पलपद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थ निउरांग, अर्थ निउर, अयुतांग अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्ष प्रहेलिकांग, शीर्ष प्रहेलिका।

यहां तक संख्यांवाचक शब्द हैं। इसके वाद संख्या से नहीं, परन्तु उपमा से ही काल जाना जा सकता है इसे औपमिक काल कहते हैं ? यह दो तरह का है—एक पल्योपम और दूसरा सागरोपम।

१. पल्योपम—जिसका फिर भाग न हो सके वह परमाणु अनन्त परमाणुओं के समागम से एक उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, इन आठ की एक लक्ष्णश्लक्ष्णिका, इन आठ का ऊर्ध्वरेणु, इन आठ का एक त्रसरेणु, इन आठ का एक रथरेणु, इन आठ रथ रेणु का एक देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्यों के, एक वालका अग्रभाग होता है, हरिवर्ष और रम्यक के मनुष्यों के, एक वालका अग्रभाग, ऐसे आठ का, हेमवत और ऐरावत के मनुष्यों के, एक वालका अग्रभाग, ऐसे आठ का, पूर्व विदेह के मनुष्य के एक वालका अग्रभाग, ऐसे आठ की एक लिक्षा (लीक) आठ लिक्षा की एक यूका (जूं) आठ यूका का एक यव मध्य, आठ यव मध्यों का एक अंगुल, (छः अंगुल का एक पाद, वारह अंगुल का एक वालिश्त, चोवीस अगुल का एक हाथ, ४७ अंगुल की एक कुक्षि), ९६ अंगुल का एक दण्ड (धनुष्य, युग, नलिका, अक्ष अथवा मूसल) होता है। ऐसे २००० दण्ड या धनुष का एक कोस और ऐसे चार कोस का एक योजन होता है। ऐसा एक योजन आयाम-विष्कम्भ (लम्बाई चौड़ाई) वाला, एक योजन ऊंचाई वाला और सविशेष तीन योजन परिधि वाला, एक पल्य अर्थात् खड्डा हो, उसमें एक दिन के उगे, दो दिन के उगे, तीन दिन के उगे, और अधिक से अधिक सात दिन के उगे हुए करोड़ों वालों के अगले भागों से यह खड्डा मुंह तक ठसा

ठस भरा हो, फिर उस पल्य यानी खड्डे में से सौ-सौ बरस के बाद एक-एक बालाग्र निकाला जाए फिर जितने वर्षों में वह खड्डा बिल्कुल खाली हो जाये उतने वर्षों को एक पल्योपम कहते हैं। ऐसे कोटाकोटि पल्योपम को १० गुणा करने से जितने बरस आते हैं उतने वर्षों का एक सागरोपम होता है। बीस कोटा कोटि सागरोपम का एक कालचक्र गिना जाता है। (भगवती सूत्र शतक छः उद्देशक ७ से)

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित्र टिप्पण पेज १५ से उद्धृत)

५

: बहत्तर कलाएँ :

ये कलाएं भगवान आदिनाथ ने अपने बड़े पुत्र भरत को सिखलाई थीं
१. लेख—लिखने की कला ; सब तरह की लिपियों में लिख सकना, खोदकर, सीकर, बुनकर, छेदकर, भेदकर, जलाकर और संक्रमण करके एक दूसरे में मिलाकर अक्षर बनाना, मालिक–नौकर, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, शत्रु-मित्र, वगैरह के साथ पत्र व्यवहार की शैली, और लिपि के गुण दोष का ज्ञान २. गणित, ३. रूप मिट्टी, पत्थर, सोना, मणि, वस्त्र और चित्रादि में, रूप यानि आकृति बनाना, ४. नाट्य अभिनय वाला और अभिनय बिना का नाच, ५. गीत, ६. वादित्र ७. स्वरगत—संगीत के सात स्वरों का ज्ञान, ८. पुष्करगत—मृदंग वगैरह बजाने का ज्ञान, ९. समताल—गायन वगैरह के ताल का ज्ञान, १०. द्यूत—जूआ, ११. जनवाद—एक तरह का जूआ, १२. पाशक—पासा, १३. अष्टापद—चौपड़, १४. पुरःकाव्य—शीघ्र कवित्व १५. दकमृत्तिका—मिली हुई चीजों को अलग करने की विद्या, १६. अन्न-विधि-पाकविद्या – भोजन बनाने का ज्ञान, १७. पानविधि—पानी साफ करने की और उसके गुण-दोषों को जानने की विद्या। १८. वस्त्र विधि—वस्त्र पहनने की विद्या, १९. विलेपन विधि २०. शयन विधि—पलंग, गद्दा, तकिया वगैरह के प्रमाण का और कैसे सोना चाहिए इसका ज्ञान, २१. आर्या—आर्या छंद के भेद-प्रभेदों का ज्ञान, २२. प्रहेलिका—पहेली समस्या (२३. मागधिका, २४. गाथा, २५. गीति, २६ श्लोक—वगैरा के भेद-प्रभेदों का ज्ञान) २७. हिरण्ययुक्ति—चांदी के कौन कौन से जेवर किन किन जगह पहनने चाहिए इनका ज्ञान, २८. स्वर्णयुक्ति—सोने के कौन कौन से जेवर किस किस जगह पहनने चाहिए इनका ज्ञान, २९. चूर्णयुक्ति स्नान मंजन वगैरह के चूर्ण बनाने का ज्ञान, ३०. आभरण विधि ३१. तरुणी

प्रतिकर्म—युवती के वर्ण वगैरा वढ़ाने का ज्ञान, [३२. स्त्री, ३३. पुरुष, ३४. हय, ३५. गज, ३६. गाय, ३७. कुक्कर–सूअर, ३८. छत्र, ३९. दण्ड, ४० असि, ४१. काकणी-रत्न—इन ग्यारह के सामुद्रिक शास्त्र में वताए हुए लक्षणों का ज्ञान) ४३. वास्तुविद्या—वह विद्या जिससे इमारत से सम्बन्ध रखने वाली सभी वातों का ज्ञान, होता है ४४. स्कंधा-वारमान—सेना के परिमाण का ज्ञान, ४५. नगरमान—शहर के परिमाण का ज्ञान, ४६. व्यूह—सेना की रचना का ज्ञान, ४७. प्रतिव्यूह—प्रतिद्वन्द्वी शत्रु की व्यूह रचना का ज्ञान, ४८. चार—ग्रहों की गति वगैरह का ज्ञान, ४९, पडियार—प्रतिचार–ग्रहों की गति वगैरह का ज्ञान अथवा प्रतिकार–रोगी के उपचार का ज्ञान, ५०. चक्रव्यूह. ५१. गरुडव्यूह ५२. शकटव्यूह वगैरा व्यूहों की रचना का ज्ञान,) ५३. युद्ध ५४. नियुद्ध मल्लयुद्ध ५५. युद्धातियुद्ध—वड़ी लड़ाई, ५६. मुष्टि युद्ध ५८. वाहु युद्ध ५९. लतायुद्ध—लता की तरह प्रतिद्वन्द्वी से लिपटकर किया जाने वाला युद्ध, ६०. ईश वस्त्र—वाणों और अस्त्रों का ज्ञान, ६१. त्सरुप्रवाद—असि युद्ध की विद्या ६२. धनुर्वेद, ६३. हिरण्यपाक—चांदी वनाने का कीमिया रसायण, ६४ स्वर्णपाक—सोना वनाने का कीमिया-रसायण, ६५. सूत्र खेल—टूटी हुई या जली हुई रस्सियों को वताना किये टूटी हुई या जली हुई नहीं है अथवा रस्सियों को खींचकर किया जाने वाला–पुतलियों का खेल. ६६. वस्त्र खेल–फटा हुआ या छोटा कपड़ा इस तरह पहनना कि वह फटा या छोटा न दिखाई दे, ६७. नालिका खेल – एक तरह का जूआ ६८. पत्रच्छेद—पत्तों के थोक में अमुक संख्या तक के पत्तों को छेदने की कला, ३९. कटच्छेद्य – वीच में अन्तरवाली और एक ही पंक्ति में रक्खी हुई वस्तुओं को क्रमवार छेदने का ज्ञान, ७०. सजीव—मरी हुई धातुओं को सहज रूप में लाने का ज्ञान, ७१. निर्जीव—धातुओं को मारने का ज्ञान, ७२. शकुनरुत—शकुनों और आवाजों का ज्ञान।

इस तरह से वहत्तर कलाओं का उल्लेख समवायांग सूत्र के वहत्तरवें समवाय में और राज प्रश्नीय में दृढ़ प्रतिज्ञ की शिक्षा के प्रकरण में कुछ परिवर्तन के साथ आता है।

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित्र हिन्दी अनुवाद टिप्पण ५ से उद्धृत)

६

: लिपियाँ :

भगवान आदिनाथ ने अपनी जेष्ठ पुत्री ब्राह्मी को नीचे लिखी १८ लिपियां सिखाई थीं— ।

१. ब्राह्मी, २. जवणाणिया (यवनानी ?) 3. दोसा पुरिया, ४. खरोष्टी, ५. पुक्खर सारिया (पुस्कर सारिका) ६. भोगवइया, ७. पहराइया, ८. अन्तक खरिया, ९. अक्खर पुठ्ठिया, १०. वेणइया, ११. निण्हइया, १२. अंकलिवि, १३, गणित-लिवि, १४. गांधर्वलिवि, १५. आयंसलिवि, १६. महेश्वरी, १७. दोमीलिवि, १८. पोलिदी ।

पन्नवणासूत्र में लिखा है कि—ये अठारहों लिपियां ब्राह्मी लिपि के अन्तर्गत ही गिनी जाती थीं । विशेषावश्यक की टीका में इन लिपियों के नाम भिन्न हैं। वे ये हैं ।

१. हंसलिपि, २. यक्षोलिपि, ३. भूतलिपि, ४. राक्षसी लिपि ५. उड्डीलिपि ६. यवनीलिपि ७. तुरक्कीलिपि, ८. कीरीलिपि, ९. द्रविडीलिपि, १०. सिंधवीयलिपि ११. मालवीनीलिपि, १२. नटीलिपि, १३. नागरीलिपि, १४. लाटलिपि, १५. पारसी लिपि, १६. अनिमित्ती, १७. चाणक्यलिपि, १८. मूलदेवी लिपि ।

(अध्यापक बेचरदासजी द्वारा अनुवादित गुजराती महावीरनी धर्म कथाओं नामक पुस्तक से ।)

७

: भगवान ऋषभदेवजी के १०० पुत्रों व पुत्रियों के नाम :

माता सुमंगला की कोख से जन्मे हुए—पुत्री १ ब्राह्मी और ९९ पुत्र— १. भरत, २. शंख, ३. विश्वकर्मा, ४. विमल, ५. सुलक्षण ६. अमल, ७. चित्रांग, ७. ख्यातकीर्ति, ९. वरदत्त, १०. सागर, ११. यशोधर, १२. अमर, १३. रथवर, १४. कामदेव । १५. ध्रुव । १६. वत्सनन्द । १७. सुर, १८. कामदेव, १९. ध्रुव । २०. वत्सनन्द । २१. सुर । २२. सुनन्द । २३. कुरु । २४. अंग । २५. वंग २६.

२६. कौशल । २७. वीर । २८. कलिंग । २९. मागध । ३०. विदेह । ३१. संगम । ३२. दशार्ण । ३३. गम्भीर । ३४. वसुवर्मा । ३५. सुवर्मा । ३६. राष्ट्र । ३७. सौराष्ट्र । ३८. बुद्धिकर । ३९. विविधकर । ४०. सुयशा । ४१. यशःकीर्ति । ४२. यशस्कर । ४३. कीर्तिकर । ४४. सुरण । ४५. ब्रह्मसेन । ४६. विक्रांत । ४७. नरोत्तम । ४८. पुरुषोत्तम । ४९. चन्द्रसेन । ५०. महासेन । ५१. नभसेन । ५२. भानु । ५३. सुकान्त । ५४. पुष्पयुत । ५५. श्रीधर । ५६. दुर्दश । ५७. सुसुमार । ५८. दुर्जय । ५९. अजयमान । ६०. सुधर्मा । ६१. धर्मसेन । ६२. आनन्दन । ६३. आनन्द, ६४. नन्द । ६५. अपराजित । ६६. विश्वसेन । ६७. हरिषेण । ६८. जय विजय । ६९. विजय । ७०. विजयन्त । ७१. प्रभाकर । ७२. अरिदमन । ७३. मान । ७४. महाबाहु । ७५. दीर्घबाहु । ७६. मेघ । ७७. सुघोष । ७८. विश्व । ७९. वराह । ८०. सुसेन । ८१. सेनापति । ८२. कुंजरबल । ८३. जयदेव । ८४. नागदत्त । ८५. काश्यप । ८६. बल । ८७. वीर । ८८. शुभमति । ८९. सुमति । ९०. पद्म् । नाभ । ९१. सिंह । ९२. सुजाति । ९३. संजय । ९४. सुनाम । ९५. मरुदेव । ९६. चित्तहर । ९७. सरवर । ९८. दृढ़रथ । ९९. प्रभन्जन । माता सुनन्दा से जन्मे—
१. पुत्र बाहुबली । १ पुत्री सुन्दरी ।

८

: शीलांग के १८००० भेद :

१० यतिधर्म

क्षमा १	मार्दव २	आर्जव ३	मुक्ति ४	तप ५	संयम ६	सत्य ७	शौच ८	अकिंचनत्व ९	ब्रह्मचर्य १०

१० स्थावरादि

पृथ्वी	अप्	तेज	वायु	वनस्पति	दो. इं.	ती. इं.	चा. इं.	पा. इं.	अजीव
	५ स्थावर						४ त्रस		१
१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०

५ इन्द्रियां					चार संज्ञाएं			
श्रोत्रेंद्रिय निग्रह १००	चक्षु इन्द्रिय निग्रह १००	घ्राणेंद्रिय निग्रह १००	रसनेंद्रिय निग्रह १००	स्पर्शेंद्रिय निग्रह १००	आहार संज्ञा ५००	भय संज्ञा ५००	मैथुन संज्ञा ५००	परिग्रह संज्ञा ५००

३ योग			३ करण		
मन योग २०००	वचन योग २०००	काय योग २०००	न करना ६०००	न करना ६०००	न अनुमोदन देना ६०००

मुनि-क्षमावान, पृथ्वीकाय-संरक्षक, श्रोत्रेंद्रिय को वश में करने वाला, आहार संज्ञा-रहित, मन से (पाप व्यापार) न करे। इसी तरह मुनि मार्दव-युक्त, पृथ्वीकाय-संरक्षक, श्रोत्रेन्द्रिय को वश में करने वाला, आहार संज्ञा-रहित, मन से (पाप व्यापार) न करे।

इसी तरह यति धर्म के दूसरे आठ भेद गिनने से कुल १० भेद होते हैं। इन १० भेदों को पृथ्वीकाय की तरह ही अप्‌काय आदि मिलाने से १०×१०=१०० भेद श्रोत्रेन्द्रिय आदि ५ इन्द्रियों के संयोग से (१००×५=५००) भेद हुए। ये पांच सौ भेद आहार आदि ४ संज्ञाओं के संयोग से (५००×४)=२००० भेद हुए। ये दो हजार भेद मन आदि ३ योगों के संयोग से (२०००×३)=६००० भेद हुए। और ये छः हजार भेद न करना आदि ३ करणों के संयोग से (६०००×३)=१८००० भेद हुए। इस तरह शीलांग के अठारह हजार भेद होते हैं।

३ करण, ३ योग, ४ संज्ञाएं, ५ इन्द्रियां, और १० पृथ्वीकाय आदि (५ स्थावर, ४ त्रस और १ अजीव) और १० यतिधर्म इन सबको आपस में गुणने से १८००० होते हैं ये ही शीलांग के अठारह हजार भेद हैं।

गुणाकार—(३×३=९×४=३६×५=१८०×१०=१८००×१०=१८०००)

"जोए करणे सन्ना, इन्दिय भोमाई समणधम्मे य।
सीलंग-सहस्साणं, अट्ठारस-सहस्स णिप्पत्ती ॥"

(दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १७७)

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित्र-हिन्दी अनुवाद टिप्पण पेज नं. २७ से उद्धृत)

भगवान ऋषभदेवजी से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य बातें

मुख्य बातें	ऋषभदेवजी
१. च्यवन तिथि	आषाढ़ वदी ४
२. किस विमान से	सर्वार्थ सिद्धि
२. जन्म नगरी	विनीता
४. जन्म तिथि	चैत्र वदी ८
५. पिता का नाम	नाभिकुलकर
६. माता का नाम	मरुदेवी
७. जन्म नक्षत्र	उत्तराषाढ़ा
८. जन्म राशि	धन
९. लक्षण नाम	वृषभ
१०. शरीर मान	५०० धनुष
११. आयुमान	८४ लक्ष पूर्व
१२. शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण
१३. पदवी	राज पदवी
१४. विवाहित या अविवाहित	विवाह हुआ
१५. कितनों के साथ दीक्षा	४००० साधु
१६. दीक्षा नगरी	विनीता
१७. दीक्षा तप	दो उपवास
१८. प्रथम पारने में क्या आहार मिला	इक्षु रस
१९. पारने का स्थान	श्रेयांस के घर
२०. कितने दिन के बाद पारण	एक वर्ष बाद
२१. दीक्षा तिथि	चैत्र वदी ८
२२. छद्मस्थ काल	१००० वर्ष
२३. ज्ञान प्राप्ति स्थान	पुरिमताल
२४. ज्ञान तप	तीन उपवास
२५. दीक्षा वृक्ष	वटवृक्ष
२६. ज्ञान तिथि	फाल्गुन वदी ११
२७. गणधर संख्या	८४
२८. साधुओं की संख्या	८४०००
२९. साध्वियों की संख्या	३०००००
३०. वैक्रिय लब्धिवंत	२०६००

धनुष और व्रत पर्याय चौबीस पूर्वाङ्ग (दो करोड़ सोलह लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व होगी। सुपार्श्वनाथ और चन्द्र प्रभु के निर्वाण काल का अन्तर नौ सौ कोटि सागरोपम का होगा।

९. कांकदी नगरी में सुग्रीव राजा और रामा देवी के पुत्र सुविधि नामक नवें तीर्थंकर होंगे।

उनकी कांति श्वेत, आयु दो लाख पूर्व, काया एक सौ धनुष और व्रत पर्याय अट्ठाईस पूर्वाङ्ग (तेइस करोड़ बावन लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व होगी चन्द्र प्रभु और सुविधिनाथ के निर्वाण काल का अन्तर नव्वे कोटि सागरोपम होगा।

१०. भद्दिलपुर में दृढ़रथ राजा और नन्दा देवी के पुत्र शीतल नामक दशवें तीर्थंकर होंगे उनका वर्ण सोने के जैसा और शरीर नव्वे धनुष का होगा। उनकी आयु एक लाख पूर्व और दीक्षा पर्याय पच्चीस हजार पूर्व होगी। सुविधिनाथ के और शीतलनाथ के निर्वाण का अन्तर नौ कोटि सागरोपम का होगा।

११. विष्णुपुरी में विष्णु नामक राजा और विष्णु देवी नाम की रानी के श्रेयांस नामक पुत्र ग्यारहवें तीर्थंकर होंगे। उनकी आयु चौरासी लाख वर्ष की और व्रत पर्याय इक्कीस लाख वर्ष की होगी। उनका वर्ण सोने के जैसा शरीर अस्सी धनुष का और शीतलनाथ के और श्रेयांस नाथ के निर्वाण काल का अन्तर छत्तीस हजार छासठ लाख तथा सौ सागरोपम कम, एक करोड़ सागरोपम का होगा।

१२. चम्पापुरी में वसुपूज्य राजा और जया देवी रानी के वासुपूज्य नामक पुत्र बारहवें तीर्थंकर होंगे। उनकी कांति लाल आयु बहत्तर लाख वर्ष की, काया सत्तर धनुष प्रमाण की और दीक्षा पर्याय चौवन लाख वर्ष की होगी। श्रेयांस और वासुपूज्य के निर्वाण काल का अन्तर चौवन सागरोपम का होगा।

१३. कंपिल नामक नगर में कृत-वर्मा राजा और श्यामा देवी के विमल नामक पुत्र तेरहवें तीर्थंकर होंगे। उनकी आयु साठ लाख वर्ष की, कांति सोने के जैसी, काया साठ धनुष की और व्रत पर्याय पन्द्रह लाख वर्ष की होगी। वासुपूज्य और विमलनाथ के निर्वाण काल का अन्तर तीन सागरोपम का होगा।

१४. अयोध्या में सिंहसेन राजा और सुयश देवी के अनन्त नामक पुत्र चौदहवें तीर्थंकर होंगे उनकी कांति सुवर्ण के समान आयु तीस लाख वर्ष काया पचास धनुष प्रमाण और व्रत पर्याय साढ़े सात लाख वर्ष होगी। विमलनाथ और अनन्तनाथ के निर्वाण काल का अन्तर नौ सागरोपम होगा।

१५. रत्नपुर में भानु राजा और सुव्रतादेवी के धर्म नामक पुत्र पन्द्रहवें तीर्थंकर होंगे। उनकी कांति सुवर्ण के समान, आयु दस लाख वर्ष की, काया पैंतालीस

धनुप की और व्रत पर्याय ढाई लाख वर्ष की होगी। अनन्तनाथ और सुव्रतनाथ के निर्वाण काल का अन्तर चार सागरोपम होगा।

१६. गजपुर नगर में विश्वसेन राजा और अचिरादेवी के शान्ति नामक पुत्र सोलहवें तीर्थंकर होंगे। उनकी कांति सुवर्ण के समान आयु आठ लाख वर्ष की काया चालीस धनुप की और व्रत पर्याय पच्चीस हजार वर्ष की होगी, धर्मनाथ और शांतिनाथ के निर्वाण काल का अन्तर पौनपल्योपम कम तीन सागरोपम होगा।

१७. गजपुर में शूर राजा और श्रीदेवी रानी के कुन्थु नामक पुत्र सत्रहवें तीर्थंकर होंगे। उनकी कांति सुवर्ण के समान, काया पैंतीस धनुप प्रमाण की, आयु पचानवे हजार वर्ष की और दीक्षा पर्याय तेइस हजार साढ़े सात सौ वर्ष की होगी शांतिनाथ और कुन्थुनाथ के निर्वाण काल का अन्तर आधे पल्योपम का होगा।

१८. गजपुर में सुदर्शन राजा और देवी रानी के अर नामक पुत्र अठारहवें तीर्थंकर होंगे। उनकी कांति सुवर्ण के समान, काया तीस धनुप की और व्रत पर्याय इक्कीस हजार वर्ष की होगी। कुन्थुनाथ और अरनाथ के निर्वाण काल का अन्तर एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्योपम के चौथे भाग का अन्तर होगा।

१९. मिथिला नगरी के कुम्भ राजा और प्रभावती देवी के मल्लीनाथ नाम की पुत्री उन्नीसवी तीर्थंकर होगी। उनकी कांति नील वर्ण की, आयु पचानवे हजार वर्ष की। काया पच्चीस धनुप की और व्रत पर्णय बीस हजार नव सौ वर्ष की होगी। अरनाथ और मल्लीनाथ के निर्वाण काल का अन्तर एक हजार कोटि वर्ष का होगा।

२०. राजगृह नगर में सुमित्र राजा और पद्मादेवी के मुनिसुव्रत नामक बीसवें तीर्थंकर होंगे। उनकी कांति कृष्ण वर्ण की, आयु तीस हजार वर्ष की, काया बीस धनुप की और दीक्षा पर्याय साढ़े सात हजार वर्ष की होगी। मल्लीनाथ और सुव्रतनाथ के निर्वाण काल का अन्तर चौवन लाख वर्ष का होगा।

२१. मिथिला नगरी में विजय राजा और वप्रादेवी रानी के नमि नामक पुत्र इक्कीसवें तीर्थंकर होंगे। उनकी कांति सुवर्ण के समान आयु दस हजार वर्ष काया पन्द्रह धनुप और व्रत पर्याय ढाई हजार वर्ष होगी। मुनिसुव्रत और नमिनाथ के निर्वाण काल का अन्तर ६ लाख वर्ष होगा।

२२. शौर्यपुर में समुद्रविजय राजा और शिवादेवी रानी के नेमि नामक पुत्र बाइसवें तीर्थंकर होंगे। उनकी कांति श्याम वर्ण की, आयु हजार वर्ष की, काया दस धनुप की और दीक्षा-पर्याय सात सौ वर्ष की—होगी नमिनाथ और नेमिनाथ के निर्वाण काल का अन्तर पांच लाख वर्ष का होगा।

२३. वाराणसी (काशी) नगरी के अश्वसेन राजा और वामा देवी रानी के पार्श्वनाथ नामक पुत्र तेईसवें तीर्थंकर होंगे। उनकी कांति नीलवर्ण की, आयु सौ वर्ष की होगी। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के निर्वाणकाल का अन्तर तिरासी हजार साढ़े सात सौ वर्ष का होगा।

24 क्षत्रिय कुण्ड गांव में सिद्धार्थ राजा और त्रिशला देवी रानी के पुत्र वर्द्धमान, अपर नाम महावीर नामक चौबीसवें तीर्थंकर होंगे। उनकी कांति सुवर्ण के जैसी आयु बहत्तर वर्ष की, काया सात हाथ की और व्रत पर्याय बयालीस वर्ष की होगी पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के निर्वाणकाल का अन्तर ढाई सौ वर्ष का होगा।

११

चक्रवर्ती

१. तुम (पहले चक्रवर्ती) मेरे समय में हुए हो।

२. अयोध्यानगरी में अजितनाथ तीर्थंकर के समय में सागर नामक दूसरा चक्रवर्ती होगा। वह सुमित्र राजा और यशोमती रानी का पुत्र होगा। उसकी काया साढ़े चार सौ धनुष की और आयु बहत्तर लाख पूर्व की होगी।

३. श्रावस्ती नगरी में समुद्रविजय राजा और भद्रा रानी के मघवा नामक पुत्र तीसरे चक्रवर्ती होंगे। उनकी काया साढ़े चालीस धनुष की और आयु पांच लाख वर्ष की होगी।

४. हस्तिनापुर में अश्वसेन और सहदेवी रानी के सनत्कुमार नामक पुत्र चौथे चक्रवर्ती होंगे। उनकी काया साढ़े चालीस धनुष प्रमाण की और आयु तीन लाख वर्ष की होगी। ये दोनों चक्रवर्ती धर्मनाथ और शांतिनाथ के अन्तर में होंगे और तीसरे देवलोक में जायेंगे।

५. ६. ७. शांति कुन्थु और अर ये तीनों तीर्थंकर चक्रवर्ती होंगे।

८. उनके बाद हस्तिनापुर में कृतवीर्य राजा और तारा रानी के पुत्र सुभोम नामक आठवें चक्रवर्ती होंगे। उनकी आयु साठ हजार वर्ष की काया अट्ठाईस धनुष की होगी। वे अरनाथ और मल्लीनाथ के अन्तर समय में होंगे और सातवें नरक में जायेंगे।

९. वाराणसी में (वनारस में) पद्मोतर राजा और ज्वाला रानी के पद्म नामक पुत्र नवें चक्रवर्ती होंगे। उनकी आयु तीस हजार वर्ष की और काया वीस धनुष की होगी।

१०. कंपिल नगर में महाहरि राजा और मेरा देवी के पुत्र हरिषेण नामक दशवें चक्रवर्ती होंगे उनकी आयु दस हजार वर्ष की और काया पन्द्रह धनुष की होगी।

ये दोनों (पद्म और हरिषेण) चक्रवर्ती मुनिसुव्रत और नमिनाथ अर्हत के समय में होंगे।

११. राजगृह नगर में विजय राजा और वप्रादेवी के जय नामक पुत्र ग्यारहवें चक्रवर्ती होंगे। उनकी आयु तीन हजार वर्ष की और काया वारह धनुष की होगी। वे नमिनाथ और नेमिनाथ के अन्तर में होंगे।

१२. कांपिल्य नगर में ब्रह्म राजा और चुलनी रानी के ब्रह्मदत्त नामक पुत्र वारहवें चक्रवर्ती होंगे उनकी आयु सात सौ वर्ष की और काया सात धनुष की होगी वे नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के अन्तर में होंगे और रौद्र ध्यान में मरकर सातवीं नरक भूमि में जायेंगे।

१२

वासुदेव और वलदेव

१. पोतनपुर नगर में प्रजापति राजा और मृगावती रानी के त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव होंगे। उनका शरीर अस्सी धनुष का होगा। जब श्रेयांस जिनेश्वर पृथ्वी पर विचरण करते होंगे तव वे (त्रिपृष्ठ) चौरासी लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर अन्तिम नरक में जायेंगे।

२. द्वारका नगरी में ब्रह्म राजा और पद्मावती देवी के द्विपृष्ठ नामक पुत्र दूसरे वासुदेव होंगे। उनकी सत्तर धनुष की काया और वहत्तर लाख वर्ष की आयु होगी, वे वासुपूज्य जिनेश्वर के विहार के समय में होंगे और अन्त में छठी नरक भूमि में जाएंगे।

३. द्वारका में भद्र राजा और पृथ्वी देवी के पुत्र स्वयंभू नामक तीसरे वासुदेव होंगे, उनकी आयु साठ लाख वर्ष की और काया साठ धनुष की होगी ये

विमल प्रभु को वन्दन करने वाले (अर्थात विमलनाथ तीर्थंकर के समय में) होंगे। वे अन्त में आयु पूर्ण कर छठी नरक भूमि में जायेंगे।

४. उसी नगरी में यानि द्वारका में सोम राजा और सीतादेवी के पुरुषोत्तम नामक पुत्र चौथे वासुदेव होंगे। उनकी काया पचास धनुष की और उम्र तीस लाख वर्ष की होगी। वे अनन्तनाथ प्रभु के समय में होंगे और मरकर छठी नरक भूमि में जायेंगे।

५. अश्वपुर नगर में शिवराज राजा और अमृता देवी रानी के पुरुषसिंह नामक पुत्र पांचवें वासुदेव होंगे। उनकी काया चालीस धनुष की और आयु दस लाख वर्ष की होगी। वे धर्मनाथ जिनेश्वर के समय में होंगे। और आयु पूर्णकर छठी नरक भूमि में जायेंगे।

६. चक्रपुरी नगरी में महाशिर राजा और लक्ष्मीवती रानी के पुरुष-पुण्डरीक नामक पुत्र छठे वासुदेव होंगे। उनकी काया उन्तीस धनुष की और आयु पैंसठ हजार वर्ष की होगी। वे अरनाथ और मल्लीनाथ के अन्तर में होंगे और आयु पूर्णकर छठी नरक भूमि में जायेंगे।

७. काशी नगरी में अग्निसिंह राजा और शेषवती रानी के दत्त नामक पुत्र सातवें वासुदेव होंगे। उनकी काया छब्बीस धनुष की और आयु छप्पन हजार वर्ष की होगी। वे भी अरनाथ और मल्लीनाथ स्वामी के मध्यवर्ती समय में ही होंगे और आयु पूर्ण कर पांचवी नरक भूमि में जायेंगे।

८. अयोध्या में दशरथ राजा और सुमित्रा रानी के नारायण नाम से प्रसिद्ध लक्ष्मण नामक पुत्र आठवें वासुदेव होंगे, उनकी काया सोलह धनुष की और आयु बारह हजार वर्ष की होगी वे मुनिसुव्रत और नमि तीर्थंकर के मध्यवर्ती समय में होंगे और आयु पूर्ण कर चौथी नरक भूमि में जायेंगे।

९. मथुरा नगरी में वसुदेव राजा और देवकी रानी के कृष्ण नामक नवें वासुदेव होंगे। उनकी काया दस धनुष की और आयु एक हजार वर्ष की होगी। नेमिनाथ के समय में होंगे और मरकर तीसरी नरक भूमि में जाएंगे।

[नीचे वलभद्रों के चरित्र दिये गये है उनके पिताओं के नाम उनकी काया का प्रमाण और उनके उत्पन्न होने के नगर सव वासुदेव के समान ही होते हैं। इसलिए यहां नहीं दिये गये हैं हरेक वलदेव क्रमशः वासुदेव के समय में ही हुए हैं।]

१. भद्रा नाम की माता के अचल नामक पुत्र पहले वलदेव होंगे। उनकी आयु पचासी लाख वर्ष की होगी।

२. सुभद्रा माता के विजय नामक पुत्र दूसरे वलदेव होंगे उनकी आयु पचहत्तर लाख वर्ष की होगी।

३. सुप्रभा माता के भद्र नामक तीसरे वलदेव होंगे उनकी आयु पैंसठ लाख वर्ष की होगी।

४. सुदर्शना माता के सुप्रभ नामक चौथे वलदेव होंगे। उनकी आयु पचपन लाख वर्ष की होगी।

५. विजया माता के सुदर्शन नामक पाँचवें वलदेव होंगे, उनकी आयु सत्तर लाख वर्ष की होगी।

६. वैजयन्ती माता के आनन्द नामक पुत्र छठे वलदेव होंगे। उनकी आयु पचासी हजार वर्ष की होगी।

७. जयन्ती माता के नन्दन नामक सातवें वलदेव होंगे। उनकी आयु पचास हजार वर्ष की होगी।

८. अपराजिता (प्रसिद्ध नाम कौशल्या) माता के पद्म (प्रसिद्ध नाम रामचंद्र) नामक पुत्र आठवें वलदेव होंगे। उनकी आयु पन्द्रह हजार वर्ष की होगी।

९. रोहिणी माता के राम (प्रसिद्ध नाम वलभद्र) नामक नवें वलदेव होंगे। उनकी आयु वारह सौ वर्षों की होगी। इनमें से आठ वलदेव मोक्ष में जायेंगे, और नवें वलदेव पाचवें देव लोक में जाएंगे और वहां से आगामी उत्सर्पिणी में इसी भरत क्षेत्र में उत्पन्न होकर कृष्ण नामक तीर्थंकर के तीर्थ में सिद्ध होंगे।

शुद्धाशुद्धि पत्र

पृष्ठ	दोहा	अशुद्धि	शुद्धि
९	९७	धमघाप	धर्मघोष
१०	११७	मैं हूँ लज्जित	मैं लज्जित
१०	१२०	मनि	मुनि
१२	१३९	समन	समान
१३	१४६	देख	सिद्ध
१३	१४६	भेद वनस्पति काय के साधारण प्रत्येक	साधारण प्रत्येक भी वन के भेद प्रसिद्ध
१३	१५५	विच्छ	विच्छू
२०	२३६	अगर निकलते	यदि निकले इस
२१	२४५	शोभा का अतिरेक	शोभित है अतिरेक
२२	२५३	नृपात	नृपति
२४	२८८	चन्तक	चिन्तक
२५	३०१	चेष्ठा	चेष्टा
२६	३१३	अतिवाद	अविवाद
२८	३४२	जाग्रा	जाग्रो
२९	३५३	तष्ट	नष्ट
३२	३९०	कुसमता	कुसमती
३४	४१०	सुबुद्धि भी श्रावक	सुबुद्धि सह नरपति
३६	४३५	नष्ट स्वकर्म	विनष्ट कर्म
४१	४९१	दुख से दुखित	दुःख से दुःखित
४२	५०८	प्रायः नर दरिद्र की नारी	दरिद्र नर की नारी प्रायः
४६	५३०	कई रोटी रोटी ही करते	कई नर रोटी-रोटी करते
४६	५३३	छकर	छूकर
५६	६४१	आघार	आधार
६०	६८०	महापीठ[1] नोट	महापीठ[1]

नोट;—सुन्दरी का जीव

पृष्ठ	दोहा	अशुद्धि	शुद्धि
८३	१२५	घनुप	घनुप
९२	२००	भूमा मन्डल	भूमी मण्डल
९२	नोट२ में	आ	हुआ
९८	२६५	ये	थे
९८	२७१	स्वयमेय	स्वयमेव
१०१	२९१	अनूचास	उनचास
१२९	१३३	अनुसधान	अनुसंधान
१३२	१५२	थे हर पुष्करिणी के जल में	हर पुष्करिणी के जल में थे
१४२	२२४	भार वहन करने वाले तिर्यञ्चों को	भार वहन कर तिर्यञ्च को जीवन में
१४३	२२९	अविचल सुख है शाश्वत रूप	अविकल सुख है अचल स्वरूप
१५२	नोट २	पाप रहित	पाप सहित
१५७	३०२	द्वादशांगा	द्वादशांगी
१६१	१	शास्त्रागार	शस्त्रागार
१६३	२६	ह्य	हय
१६६	५१	ये करते जो	जो करते थे
१६७	६०	बुद्धिमान	मेधावान
१७१	८५	घनुध	घनुप
१७३	१००	समुल	संयुत
१७५	१०९	भट	भेंट
१७५	१११	स्वर्णिम	कृतमाल
१७६	१२०	ये	थे
२०१	४२०	फलो	फूलों
२०१	४२४	नप	नृप
२०४	४३७	वुक्ष	वृक्ष
२०४	४३८	मिल पाई	है अब गिरी
२०४	४३९	जान	मुझे
२०७	४५३	प्रकार	प्राकार
२०७	४५८	निर्हेतु	बिन हेतु

पृष्ठ	दोहा	अशुद्धि	शुद्धि
२०८	४६२	आज ही मानो उसे	आज मानो उसे वर
२०८	४६४	पिता ने ही ने	पिता ने ही
२०९	४७०	से लेते किसी से	से भी कभी लेते
२१२	४९४	सयम	संयम
२२७	१४५	दो दण्ड	दोर्दण्ड
२२९	१६८	श्रप्ठ	श्रेष्ठ
२२९	१७५	उच्छंखल	उच्छृंखल
२३०	१८६	घरे	घिरे
२३२	२०७	राजकुमार मार जित् विजयोत्साहित	विजयोत्साहित अमित बनो है नृप-सुत